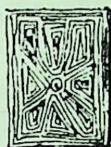


भारतीय काव्यशास्त्र

मूल समस्याएँ



संपादक

कृष्णबल

एम० ए०, पी-एच० डी०



राधाकृष्ण प्रकाशन



मूल्य
७ रुपये
पक्की जिल्द : १० रुपये

प्रकाशक
अरविन्दकुमार
राधाकृष्ण प्रकाशन,
२, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६

मुद्रक
प्रिंट्समैन,
डोरीवालान, रोहतक रोड, नई दिल्ली

सम्पादकीय



भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य-त्रिकोण के तीनों बिन्दुओं—कवि, काव्य एवं प्रमाता का व्यापकतम आयामों में सुविस्तृत, व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। काव्य-हेतु, काव्य-स्वरूप एवं काव्य-प्रयोजन के अन्तर्गत काव्य-सृजन की प्रेरणा एवं प्रक्रिया से लेकर उसके आस्वादन उपभोग तक से सम्बद्ध प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार तथा रस, ध्वनि, अलंकार, रीति एवं वक्रोक्ति के सन्दर्भ में काव्य के प्राणतत्त्व की खोज एवं काव्यास्वाद के स्वरूप का गंभीर विश्लेषण किया गया है। दृश्य-काव्य के विवेचन में भारतीय काव्यशास्त्री ने रंगमंच की सज्जा से लेकर प्रेक्षक के मनोविज्ञान तक का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन किया है।

बारह अध्यायों में विभक्त प्रस्तुत संकलन में संस्कृत और हिन्दी काव्यशास्त्र के विकास-क्रम के अंकन के अनन्तर क्रमशः काव्य, काव्य की आत्मा, रस-सिद्धान्त, अलंकार-सिद्धान्त, रीति-सिद्धान्त, ध्वनि-सिद्धान्त, वक्रोक्ति-सिद्धान्त, शब्द-शक्ति तथा नाट्यशास्त्र पर हिन्दी के विद्वान एवं अधिकारी लेखकों के विवेचनात्मक कृतित्व को एकत्र प्रस्तुत किया गया है; अंतिम अध्याय 'कुछ इतर पक्ष' में हिन्दी के तीन मूर्धन्य आलोचकों के सैद्धान्तिक निबंध समाकलित हैं। संपादन-पद्धति में वैज्ञानिकता और स्वच्छता लाने की दृष्टि से भारतीय काव्यशास्त्र के विविध पक्षों एवं मूल प्रश्नों के अनुरूप विषय-वस्तु की एक स्पष्ट रूप-रेखा निर्मित करने के पश्चात् ही विभिन्न पुस्तकों में उपलब्ध सामग्री से चयन किया गया है। किन्तु पहले से ही तैयार सामग्री सदा ही संतोषप्रद नहीं होती। इसीलिए निश्चित योजना के आधार पर सम्पादकीय नीति एवं आवश्यकता के अनुरूप विशेष अनुरोध पर भी कुछ लेखकों से निबंध लिखवाए गए हैं। फलतः प्रस्तुत संकलन भारतीय काव्यशास्त्र के किसी भी महत् संदर्भ से अछूता नहीं रहा। अतएव अध्येताओं के समक्ष यह सम्पादित कृति प्रस्तुत करते हुए मेरा सन्तोष स्वाभाविक ही है।

भारतीय काव्यशास्त्र पर हिन्दी में अनेक उच्चकोटि के मौलिक ग्रंथ उपलब्ध हैं, विभिन्न लेखकों के काव्यशास्त्रीय निबंधों के संकलनों का अभाव भी नहीं हैं। हमारा मन्तव्य उन सभी पुस्तकों पर प्रस्तुत प्रयास की श्रेष्ठता सिद्ध करना नहीं है, तो भी अत्यन्त विनम्र भाव से यह दावा करना अनुचित न होगा कि भारतीय काव्यशास्त्र के भव्य राजप्रासाद में प्रवेश करने के इच्छुक अध्येता को बीहड़ और टेढ़ी-मेढ़ी वीथियों में भटककर निराश न होना पड़ेगा।

—कृष्णबल

क्रम



अध्याय १

भारतीय काव्यशास्त्र : परिचय एवं संक्षिप्त इतिवृत्त*

(क) संस्कृत काव्यशास्त्र

भारतीय चिन्तन-परम्परा में काव्य-विवेचना को काव्य-सर्जना से पृथक् एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में समादृत किया गया है। महत्त्व की दृष्टि से कदाचित् गरिमा प्रदान करने के लिए ही भारतीय आचार्य ने काव्यशास्त्र को विद्याओं में परिगणित किया है। उसके लिए 'काव्य-विद्या' तथा 'साहित्य-विद्या' शब्दों का पर्याय-रूप में व्यवहार करते हुए उसने उसे अन्य विद्याओं का सार घोषित किया है।[1] इनके अतिरिक्त संस्कृत की परम्परा में काव्यशास्त्र के लिए 'क्रियाकल्प' तथा 'अलंकारशास्त्र' अभिधान भी प्रचलित थे। क्रियाकल्प कामशास्त्र में वर्णित चौंसठ कलाओं में से एक है तथा 'अलंकारशास्त्र' अभिधान संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास के उस प्रारम्भिक काल की देन है जिसमें शब्दार्थगत चमत्कार को प्राधान्य दिया गया था। मध्ययुग में 'साहित्यशास्त्र' अभिधान बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुआ। इसके अतिरिक्त एक अन्य नाम 'आलोचनाशास्त्र' भी प्रचलित है जो अपेक्षाकृत आधुनिक है।

संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्य-त्रिकोण के तीनों बिन्दुओं—कवि, काव्य एवं प्रमाता का व्यापकतम आयामों में सुविस्तृत, व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक अध्ययन-विवेचन किया गया है। काव्य-हेतु, काव्य-स्वरूप एवं काव्य-प्रयोजन के अन्तर्गत काव्य-सृजन की प्रेरणा एवं प्रक्रिया से लेकर उसके आस्वादन-उपभोग तक से सम्बद्ध प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया गया है। रस, ध्वनि, अलंकार, रीति एवं वक्रोक्ति के सन्दर्भ में काव्य के प्राणतत्त्व की खोज एवं काव्यास्वाद के स्वरूप का गम्भीर विश्लेषण किया गया है। दृश्य-काव्य के विवेचन में संस्कृत काव्यशास्त्री ने रंगमंच की सज्जा से लेकर प्रेक्षक के मनोविज्ञान तक का अत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन किया है।

भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास का प्रारम्भ कहाँ से हुआ ?—यह प्रश्न अब विवादास्पद नहीं है। भारतीय विद्या और ज्ञान का आदि स्रोत वैदिक वाङ्मय है, अतएव ज्ञान के प्रायः प्रत्येक रूप के आदि-बिन्दु के सन्धान के लिए वैदिक साहित्य की शरण में जाने की ही परम्परा विद्वानों में रही है, किन्तु भारतीय काव्यशास्त्र का मूल निश्चय ही वेदों में नहीं है। कतिपय विद्वानों ने ऋग्वेद में उपमा एवं अतिशयोक्ति आदि अलंकारों

---

*डॉ० कृष्णबल

१. देखिए, 'काव्यमीमांसा', द्वितीय अध्याय।

की प्रयुक्ति[1] तथा 'उपमा' शब्द[2] की उपस्थिति के आधार पर भारतीय काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक चिन्तन के बीज वैदिक वाङ्मय में देखे हैं। किन्तु यह सब अपुष्ट ऊहापोह मात्र है। प्राचीन व्याकरणशास्त्र में अवश्य ही अलंकार-विवेचन के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। यास्क ने उपमा के भेदोपभेदों का वर्णन किया है, पाणिनि ने भी उपमा-संबंधी उपमितज उपमान आदि शब्दों का व्यवहार किया है। इसके अतिरिक्त पतंजलिकृत 'महाभाष्य' में भी इनकी चर्चा मिलती है। किन्तु उक्त वैयाकरणों के कृतित्व में मूल दृष्टि व्याकरण-निष्ठ ही रही है, काव्य के शास्त्रीय विवेचन का व्यवस्थित उपक्रम इनमें नहीं मिलता : संदर्भ सर्वत्र व्याकरण ही रहा है, काव्य नहीं। पं० बलदेव उपाध्याय ने वाल्मीकि को भारतवर्ष का प्रथम आलोचक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है तथा बड़ी गम्भीरता से परवर्ती आलंकारिकों को उनका ऋणी घोषित किया है। किन्तु पंडितजी की इस सम्मति को काव्यशास्त्र का इतिहासविद् वैज्ञानिक निष्ठा से ग्रहण नहीं कर सकता।

वस्तुत: इस देश में काव्यशास्त्रीय चिन्तन का समारम्भ नाट्य-विवेचन के ही परिवेश में हुआ। भरतमुनि (ईसा पूर्व द्वितीय शती से ईसा की छठी शती के मध्य) का 'नाट्यशास्त्र' ही निस्संदेह भारतीय काव्यशास्त्र का प्रथम व्यवस्थित एवं प्रामाणिक ग्रन्थ है, यद्यपि उनसे पूर्व भी काव्य-मीमांसा की परम्परा के स्पष्ट संकेत मिलते हैं, स्वयं भरतमुनि ने अपने पूर्ववर्ती नन्दिकेश्वर आदि आचार्यों का उल्लेख रस-समर्थकों के रूप में किया है। 'नाट्यशास्त्र' मूलत: नाट्य के ही विभिन्न पक्षों का विवेचक ग्रन्थ है। नाट्य से सम्बद्ध उसके सहयोगी तत्त्वों के रूप में भरत ने संगीत एवं नृत्य आदि अन्य ललित कलाओं का भी विशद विवेचन किया है। ग्रन्थ के छठे एवं सातवें अध्यायों से यह स्पष्टत: व्यक्त है कि भरतमुनि 'रस' को ही समस्त ललित कलाओं का प्राणतत्त्व मानते थे। 'नाट्यशास्त्र' के छठे एवं सातवें अध्याय में क्रमश: रस एवं भाव का विशद विवेचन है; सोलहवें अध्याय में ग्रंथकार ने 'वाचिक अभिनय' के संदर्भ में चार अलंकारों, दस गुणों एवं दस दोषों का वर्णन किया है। इस प्रकार भरतमुनि ने एक साथ ही रस एवं अलंकार दोनों से सम्बद्ध विवेचन की सुव्यवस्थित पद्धतियों की नींव रख दी। किन्तु रस के प्रति भरत का पक्षपात सर्वथा स्पष्ट ही है, क्योंकि उन्होंने नाट्य के संप्रेष्य भाव के अन्तर्गत आन्तरिक वस्तु के रूप में रस का आख्यान किया है जबकि अलंकारों की चर्चा उन्होंने 'वागभिनय' के अन्तर्गत नाटक के बाह्य प्रसाधन के रूप में ही की है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में रस तो मूल संप्रेष्य वस्तु है, किन्तु अलंकार संप्रेषण के माध्यम का प्रसाधन मात्र।

भरत के अनन्तर लगभग ५०० वर्षों तक काव्यशास्त्रीय चिन्तन की परम्परा के विकास को प्रमाणित करने वाली कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। ईसा की छठी शताब्दी के आस-पास यास्क, पाणिनि एवं पतंजलि आदि प्राचीन वैयाकरणों की रचनाओं में उपलब्ध अलंकार-विषयक सामग्री एवं भरतकृत 'नाट्यशास्त्र' के अलंकार-विवेचन से

---

१. ऋग्वेद : १/१२४/७ तथा १/१६४/२०।

२. वही : ५/३४/६ तथा १/३१/१५।

प्रभाव ग्रहण कर काव्य में शब्दार्थ के सौंदर्य से प्रेरित चमत्कार को सर्वाधिक महत्त्व देने वाले कुछ ऐसे आलंकारिकों का वर्ग सामने आया जिसने अलंकार को स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए रस को अलंकार की व्यापक परिधि में समाविष्ट कर लिया। इस प्रकार भरत द्वारा प्रवर्त्तित रसवाद इन देहवादी आचार्यों के प्रबल मतवाद के समक्ष मन्द पड़ गया। अलंकारवादियों ने रस की उपादेयता केवल नाट्य के परिवेश में ही स्वीकार की, काव्य में वे उक्ति-चमत्कार को ही सर्वस्व मानते रहे।

छठी से नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक अलंकार-सम्प्रदाय के पक्ष-पोषक आचार्यों में भामह, दण्डी, उद्भट एवं रुद्रट के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। भामह (छठी शती का मध्य काल) संस्कृत-काव्यशास्त्र में अलंकारवाद की सुस्पष्ट एवं वैज्ञानिक रीति से मीमांसा करने वाले प्रथम आचार्य थे। भामह के प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्यालंकार' के छः अध्यायों में क्रमशः काव्य-शरीर, अलंकार, दोष, न्याय-निर्णय तथा शब्दशुद्धि का विवेचन है। काव्यशास्त्रीय चिन्तन-परम्परा के विकास में भामह की दो उपलब्धियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—एक तो यह कि उन्होंने काव्यगुणों का भरत द्वारा निरूपित दस गुणों की अपेक्षा कहीं अधिक वैज्ञानिक वर्गीकरण किया; उनके द्वारा प्रतिपादित माधुर्य, ओज और प्रसाद ही कालान्तर में मान्य हुए। और दूसरे उन्होंने वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का मूल घोषित किया, जिससे प्रेरणा प्राप्त कर चार सौ वर्ष पश्चात् आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति-सिद्धान्त का प्रवर्त्तन किया। अलंकार-सम्प्रदाय में 'काव्यालंकार' के पश्चात् दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ दण्डी (सातवीं शती का उत्तरार्द्ध) का 'काव्यादर्श' है। इसमें काव्य-लक्षण, काव्य-भेद, रीति, गुण, अलंकार, यमक, चित्रबन्ध एवं प्रहेलिका के अतिरिक्त दोष का निरूपण भी किया गया है। दण्डी का अलंकार-विवेचन तत्त्वतः भामह से भिन्न नहीं है। उनकी मूल दृष्टि आद्यन्त भामह से प्रभावित रही है। उद्भट (नवीं शती का पूर्वार्द्ध) भी इसी परम्परा के प्रमुख आचार्य हैं। इनके नाम से प्रसिद्ध 'काव्यालंकारसार-संग्रह', 'भामह-विवरण' तथा 'कुमारसंभव' ग्रन्थों में से अब केवल 'काव्यालंकारसार-संग्रह' ही उपलब्ध है। इस ग्रन्थ के विवेचित विषय और आधार सामग्री भी भामह और दण्डी से प्रभावित हैं। उद्भट उपनागरिका आदि वृत्तियों के निरूपण एवं विषय-प्रतिपादन-शैली की सूक्ष्मता के कारण विशिष्ट हैं। इसके अतिरिक्त इनका महत्त्व रसवत् अलंकार के विशद एवं वैज्ञानिक विवेचन की दृष्टि से भी है जिसकी प्रकल्पना भामह ने की थी तथा दण्डी ने जिसका रूप स्थिर किया था। इन्हीं के समकालीन आचार्य रुद्रट भी यद्यपि मूलतः भामह से ही प्रभावित थे, तथापि अलंकारवादी होते हुए भी रस के प्रति उनकी दृष्टि अनुदार नहीं थी। उनका ग्रन्थ 'काव्यालंकार' अलंकार-विवेचन की दृष्टि से अत्यन्त व्यापक एवं विशद है। रुद्रट के अलंकार-विवेचन की विशेषता यह है कि इन्होंने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष नामक अलंकार के मूल तत्त्वों का स्थिरीकरण एवं वर्गीकरण किया है, साथ ही इन्होंने कुछ नवीन अलंकारों की प्रकल्पना भी की है रस के संदर्भ में परम्परानुमोदित नवरसों के अतिरिक्त 'प्रेयस्' नामक दसवें रस की उद्भावना का श्रेय भी रुद्रट को ही दिया जाता है।

यद्यपि रुद्रट के पश्चात् सोलहवीं शताब्दी तक अलंकार-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के विवेचन की परम्परा बनी रही, किन्तु अलंकारवाद की स्थापना तथा अलंकार-सिद्धांत के मूल तत्त्वों का निर्धारण रुद्रट तक हो चुका था; उनके बाद के आचार्यों ने या तो अलंकारों की संख्या में अभिवृद्धि का सफल-असफल प्रयास किया या फिर उनकी परिभाषाओं को किंचित् परिवर्तन के साथ प्रस्तुत कर मौलिकता का आभास देने की चेष्टा की। अलंकार-सम्प्रदाय की परम्परा को दीर्घ समय तक अक्षुण्ण रखने का श्रेय बारहवीं शती के रुय्यक (ग्रन्थ : अलंकार-सर्वस्व), उन्हीं के समकालीन हेमचन्द (ग्रन्थ : काव्यानुशासन) एवं वाग्भट (ग्रन्थ : वाग्भटालंकार), तेरहवीं शताब्दी के जयदेव-पीयूषवर्ष (ग्रन्थ : चन्द्रालोक) तथा 'चन्द्रालोक' के 'पंचमयूख' पर 'कुवलयानन्द' नामक टीका के रचयिता अप्पयदीक्षित (सोलहवीं शती) को दिया जाना चाहिए। उक्त आचार्यों में से जयदेव के 'चन्द्रालोक' तथा अप्यदीक्षित की टीका 'कुवलयानन्द' ने मध्ययुगीन-हिन्दी काव्यशास्त्र को विशेष प्रभावित किया।

छठी शताब्दी से नवीं शताब्दी तक के समय, जिसे अलंकार-सम्प्रदाय का विकास-काल माना जा सकता है, का अन्त आते-आते भरत द्वारा प्रवर्त्तित रस-धारा नवीं शती के भट्टलोल्लट और शंकुक की भरतसूत्र की व्याख्याओं द्वारा पुनर्जीवित हो गई। इन व्याख्याओं के साथ ही संस्कृत रसशास्त्र की विवेचन-पद्धति में दर्शन का आधार लिया जाने लगा। शंकुक के रचना-काल के कुछ वर्ष बाद ही रुद्रभट्ट ने अपने ग्रन्थ 'शृंगारतिलक' में नवरसों के अन्तर्गत शृंगाररस का विस्तृत विवेचन किया। इस प्रकार संस्कृत-काव्यशास्त्र के इतिहास में ध्वनि-सिद्धान्त के प्रवर्त्तन के समय तक रस-विवेचन की एक सुनिश्चित परम्परा प्रतिष्ठित हो चुकी थी।

इसी युग में अलंकार एवं रस-विवेचन के अतिरिक्त संस्कृत-काव्यशास्त्र के इतिहास में एक नवीन परिच्छेद जुड़ा। नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आचार्य वामन ने 'काव्यालंकारसूत्र' में रीति-सिद्धान्त के रूप में एक अभिनव सिद्धान्त की प्रस्थापना की। यों उनसे पूर्व रीति-विवेचन के इतिहास का प्रारम्भ भरत के 'नाट्य शास्त्र' से माना जा सकता है। भरतमुनि ने 'रीति' शब्द का प्रयोग तो नहीं किया परन्तु अपने ग्रंथ के तेरहवें अध्याय में उन्होंने जिस प्रवृत्ति की चर्चा की है वह रीति से मूलतः भिन्न नहीं है। अग्नि-पुराणकार ने भी रीति का भेदोपभेद-सहित उल्लेख किया है। इसी प्रकार वामन से पूर्व भामह और दण्डी भी रीति की चर्चा प्रासंगिक रूप से कर चुके थे। किन्तु रीति को विशिष्ट अर्थ प्रदान करते हुई रीति-सिद्धान्त की विधिवत् स्थापना का श्रेय वामन को ही प्राप्त है। वामन काव्य-सौंदर्य के विधायक शब्द और अर्थ के धर्मों से युक्त विशेष प्रकार की पद-रचना को रीति मानते हैं और यह रीति ही उनके अनुसार काव्य का प्राण-तत्त्व है। वामन ने अपने ग्रंथ के प्रथम अधिकरण में काव्यात्मा के रूप में रीति की प्रतिष्ठा कर उसके भेदोपभेदों का सविस्तार विवेचन किया है। ग्रंथ के शेष चार अधिकरणों में क्रमशः दोष-दर्शन, गुण-विवेचन, अलंकार-विवेचन तथा शब्दशुद्धि-विवेचन है।

संस्कृत-काव्यशास्त्र के इतिहास में नवीं शताब्दी के मध्यकाल से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी के मध्यकाल तक के समय को 'स्वर्णयुग' कहा जा सकता है। नवीं शताब्दी के

मध्यकाल में आचार्य आनन्दवर्द्धन ने संस्कृत-काव्यशास्त्र के प्रबलतम एवं सर्वमान्य सिद्धान्त 'ध्वनि-सिद्धान्त' का प्रवर्त्तन किया। उन्होंने व्याकरणशास्त्र के 'स्फोटवाद' से प्रेरणा प्राप्त कर ध्वनि-सिद्धान्त की अभिनव प्रकल्पना की तथा अलंकार, रीति और रस —काव्य के इन सर्वप्रतिष्ठित सिद्धान्तों को अमान्य सिद्ध करते हुए ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया। आनन्दवर्द्धन के अनुसार वाच्यार्थ से चारुतर, चमत्कारपूर्ण एवं चर्वणीय व्यंग्यार्थ ही ध्वनि है - रस, अलंकार एवं रीति आदि अन्य समस्त काव्य-तत्त्व इसी के व्यापक परिवेश में समाविष्ट हो जाते हैं। आनन्दवर्द्धन-प्रणीत 'ध्वन्यालोक' चार उद्योतों में विभक्त है। प्रथम उद्योत में प्राचीन आचार्यों की ध्वनि-विषयक निष्पत्तियों का खण्डन, द्वितीय एवं तृतीय उद्योतों में ध्वनि के भेदोपभेद तथा चतुर्थ उद्योत में ध्वनि के प्रयोजन का सविस्तार वर्णन किया गया है।

आनन्दवर्द्धन के परवर्ती आचार्यों में भरत-सूत्र के व्याख्याता भट्टनायक (दसवीं शती का मध्यकाल) तथा अभिनवगुप्त (दसवीं शती का उत्तरार्द्ध) के नाम उल्लेखनीय हैं। उस समय ध्वनिसिद्धान्त की पूर्णप्रतिष्ठा होने पर भी उसके प्रति कोई विशेष सहानुभूति नहीं थी। उनके नाम से प्रसिद्ध किन्तु अनुपलब्ध 'हृदयदर्पण' शीर्षक ग्रंथ के विषय में कुछ विद्वानों का अनुमान है कि उसमें भट्टनायक ने ध्वनि-सिद्धान्त का प्रबल खंडन किया था।[1] व्याकरण-प्रसिद्ध व्यंजना शक्ति के स्थान पर भावकत्व और भोजकत्व नामक नवीन शक्तियों की प्रकल्पना के मूल में इनका रस के प्रति आग्रह सर्वथा व्यक्त है। भट्टनायक के रसमत का खंडन उनके परवर्ती आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा हुआ। अभिनव-गुप्त ने अपने गुरु भट्टतौत से प्रेरणा ग्रहण कर 'अभिनवारती' नामक 'नाट्यशास्त्र' की अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण एवं तलस्पर्शी व्याख्या प्रस्तुत की। इसमें उन्होंने अपने पूर्ववर्ती भरत-सूत्र के व्याख्याताओं के अभिमतों—विशेषकर भट्टनायक के द्वैताधृत भोगवाद का खंडन कर रसानुभूति को अद्वैतप्रेरित अभिव्यक्तिवाद की दार्शनिक भूमि प्रदान की। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने युग के अन्य प्रसिद्धि-प्राप्त ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' पर भी 'ध्वन्यालोकलोचन' नाम से टीका लिखी। इसमें उन्होंने ध्वनि की अत्यंत गम्भीर मीमांसा करते हुए ध्वनिकार के पक्ष को बड़ी सहानुभूति और स्वच्छता के साथ प्रस्तुत किया है। भट्टनायक और अभिनवगुप्त के मध्य एक अन्य आचार्य राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' नामक ग्रंथ में काव्यशास्त्र के विविध पक्षों का उद्घाटन किया। अब इस ग्रन्थ का केवल प्रथम अधिकरण ही उपलब्ध है जिसमें कवि एवं काव्य के स्वरूप, काव्य के भेद एवं प्रकार आदि का वर्णन है। काव्य-पुरुष का प्रसिद्ध रूपक राजशेखर की ही निजी कल्पना है।

इस युग के अन्य आचार्यों में धनञ्जय (दसवीं शती का अन्त), भोजराज (ग्यारहवीं शती का पूर्वार्द्ध), महिमभट्ट (ग्यारहवीं शती का मध्यकाल) तथा क्षेमेन्द्र (ग्यारहवीं शती का उत्तरार्द्ध) भी उल्लेखनीय हैं। धनञ्जय का 'दशरूपक' भरत के 'नाट्यशास्त्र' के बाद नाट्यालोचन का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। ग्रन्थ के चतुर्थ प्रकाश

---

१. देखिए, **'भारतीय साहित्यशास्त्र' (पं० बलदेव उपाध्याय), प्रथम खण्ड, प्रथम सं०, पृ० ८३-४।**

में प्रतिपादित इनका रसमत भट्टनायक से प्रभावित जान पड़ता है। भोजराज ने 'सरस्वती-कण्ठाभरण' तथा 'शृंगार प्रकाश' की रचना की। इनमें से प्रथम ग्रन्थ के पाँच परिच्छेदों में दोष, गुण, अलंकार, रस, भाव, सन्धि एवं वृत्तियों का विवेचन है। 'शृंगारप्रकाश' छत्तीस अध्यायों में विभक्त अत्यन्त बृहदाकार ग्रन्थ है जिसमें प्राय: उपर्युक्त विषयों का ही आख्यान है। भोजराज की अलंकार-सामग्री मुख्यतया दण्डी से प्रभावित है। रसशास्त्र के विकास-क्रम की दृष्टि से इनका रसाभिमत इस अर्थ में महत्त्वपूर्ण है कि उन्होंने शृंगाररस को ही एकमात्र रस स्वीकार किया है। क्षेमेन्द्र के नाम से दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं: 'औचित्य-विचार-चर्चा' तथा 'कविकण्ठाभरण'। 'औचित्य-विचार-चर्चा' इनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक ग्रन्थ है जिसमें उन्होंने औचित्य-तत्त्व की भेदोपभेदसहित मार्मिक व्याख्या करते हुए उसे काव्य का सर्वस्व घोषित किया। कालान्तर में क्षेमेन्द्र के औचित्य-सिद्धान्त को विशेष मान्यता प्राप्त न हो सकी। इस प्रकार ग्यारहवीं शताब्दी का अन्त आते-आते संस्कृत-साहित्यशास्त्र में ध्वनिवाद अपनी खूब गहरी जड़ें जमा चुका था।

दसवीं शताब्दी के अन्त में आचार्य कुन्तक का आविर्भाव संस्कृत-काव्यशास्त्र के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। उन्होंने भामह, दण्डी, रुद्रट एवं वामन आदि देह-वादियों द्वारा विवेचित वक्रोक्ति अलंकार को अत्यन्त व्यापक सन्दर्भ प्रदान करते हुए साहसपूर्वक सुप्रतिष्ठित ध्वनि-सिद्धांत के विरोध में वक्रोक्ति-सिद्धान्त की स्थापना की। कुन्तक ने काव्य के प्राय: सभी तत्त्वों को वक्रोक्ति के व्यापक परिवेश में अन्तर्भुक्त कर उसे काव्य की आत्मा घोषित किया। उनकी दृष्टि में प्रसिद्ध कथन की शैली से भिन्न, चारुतर, विचित्र एवं असाधारण वर्णन-शैली ही वक्रोक्ति है। उनके अनुसार काव्य मूलत: कवि-व्यापार है। कवि के संस्कार-स्वभाव की सुकुमारता से ही काव्य में रमणीय चमत्कार की सृष्टि होती है। कुन्तक ने काव्य को कवि-प्रतिभा-प्रसूत मानकर काव्यानन्द को मूलत: कलाजन्य आनन्द स्वीकार किया। संस्कृत-काव्यशास्त्र के इतिहास में कदा-चित् पहली बार इतने सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक ढंग से कलावादी मूल्यों की प्रबल स्थापना हुई। कुन्तक के ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' के चार उन्मेषों में वक्रोक्ति का स्वरूप-निर्धारण तथा उनके भेद-प्रभेदों का सविस्तार विवेचन है।

कुन्तक के परवर्ती आचार्यों ने वक्रोक्ति के महिमामय व्यापक अर्थ को अमान्य ठहरा कर उसे मात्र एक अलंकारके रूप में स्वीकार किया। उसके बाद का संस्कृत-काव्यशास्त्र का इतिहास मुख्यत: ध्वनिवाद के संपोषण एवं संवर्द्धन का इतिहास है। यों ग्यारहवीं शती से लेकर सत्रहवीं शती के मध्यकाल तक के इस युग में रुय्यक, जयदेव, एवं अप्पयदीक्षित आदि आलंकारिकों तथा अग्निपुराणकार, रामचन्द्र, गुणचन्द्र, विश्वनाथ, शारदातनय एवं रूपगोस्वामी आदि रसवादियों ने भी अपने-अपने मत साग्रह प्रस्तुत किए, किन्तु ध्वनिवाद को मम्मट और पंडितराज जगन्नाथ की प्रति-भाओं का जो समृद्ध सम्बल मिला उसने संस्कृत-साहित्यशास्त्र में ध्वनिवाद को अन्तिम रूप से प्रतिष्ठित कर दिया।

ग्यारहवीं शती से लेकर सत्रहवीं शती के मध्यकाल में रसमत को भी अनेक समर्थ आचार्य प्राप्त हुए। कालक्रम की दृष्टि से प्रथम उल्लेखनीय ग्रन्थ है 'अग्निपुराण'

(११वीं शती का आरम्भ)। उक्त ग्रन्थ में यद्यपि उक्ति-चमत्कार को महत्त्व प्रदान करते हुए विभिन्न काव्यमतों के समन्वय का प्रयत्न मिलता है तथापि काव्यात्म-पद रस को ही मिला है। अग्निपुराण के अनन्तर नाट्यदर्पण में रस को प्रबल पोषण मिला। इसके रचयिताओं रामचन्द्र एवं गुणचन्द्र (१२वीं शती का मध्यकाल) ने अपने पूर्ववर्ती नाट्य-विवेचकों भरत तथा धनञ्जय की परम्परा में ही नाटक के संदर्भ में रस का गम्भीर विवेचन किया है। इनका रसमत इस दृष्टि से परम्परा-विच्छिन्न है कि इन्होंने रस को सुखदु:खात्मक माना। 'नाट्य-दर्पण' 'नाट्यशास्त्र' एवं 'दशरूपक' के बाद तीसरा महत्त्वपूर्ण नाट्य-विवेचक ग्रंथ है। इसके चार 'विवेकों' में क्रमश: नाटक, प्रकरण, रस एवं भाव के अभिनय तथा रूपक-लक्षण की गम्भीर एवं विस्तृत चर्चा की गई है। शारदातनय (१३वीं शती का मध्यकाल) ने भी नाटक के परिप्रेक्ष्य में ही रस का विवेचन किया। उनका रस-स्वरूप-विश्लेषण 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' से प्रभावित है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' में शारदातनय ने रस-सामग्री का अत्यन्त विस्तृत, गहन एवं सूक्ष्म विवेचन किया है। इनके परवर्ती आचार्य विश्वनाथ (१४वीं शती का पूर्वार्द्ध) रस सम्प्रदाय के अन्यतम आचार्य हैं। अपने काव्य-लक्षण 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' में रस को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हुए उन्होंने अत्यन्त व्यापक संदर्भ में उसका विवेचन-विश्लेषण किया। यद्यपि उन्होंने आनन्दवर्द्धन, भोज, कुन्तक एवं मम्मट आदि आचार्यों के मतों का स्पष्ट खण्डन करते हुए काव्य-पुरुष के रूपक में रस को ही काव्यात्मा घोषित किया, तथापि उन्होंने ध्वनि काव्य को उत्तम काव्य के रूप में मान्यता दी, किन्तु ऐसा उन्होंने रस को मूलत: अभिव्यक्ति अर्थात् व्यंग्य-रूप होने के नाते 'रस-ध्वनि' से तत्त्वत: अभिन्न मानते हुए किया है, ध्वनि को रस से स्वतंत्र मानकर नहीं। विश्वनाथ का प्रसिद्ध ग्रंथ 'साहित्यदर्पण' काव्यशास्त्र का सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ है जिसके दस परिच्छेदों में काव्य-लक्षण, काव्य-स्वरूप, काव्य-भेद, शब्द-शक्ति, रस, नायक-नायिकाभेद, ध्वनि, रीति, दोष-गुण तथा अलंकार आदि प्राय: सभी आवश्यक विषयों का संतुलित विवेचन उपलब्ध है। रस-समर्थकों में अन्तिम उल्लेखनीय नाम 'नाटकचन्द्रिका', 'भक्ति-रसामृतसिन्धु' एवं 'उज्ज्वलनीलमणि' के प्रणेता रूपगोस्वामी (१६वीं शती का मध्य-काल) का है। 'भक्तिरसामृतसिंधु' में रूपगोस्वामी ने वैष्णव माधुर्यभाव की प्रेरणा से 'उज्ज्वल भक्तिरस' की मौलिक प्रकल्पना की तथा उसको परम रस घोषित करते हुए अन्य रसों को उसका विकार-मात्र माना। 'उज्ज्वलनीलमणि' में भक्तिरस का सुविस्तृत एवं सांगोपांग विवेचन है। रूपगोस्वामी के बाद १६वीं शती के उत्तरार्द्ध में जीव-गोस्वामी (उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों के टीकाकार), कविकर्णपूर (अलंकार कौस्तुभकार) तथा मधुसूदन सरस्वती ('भगवद्भक्ति रसायन' के लेखक) आदि ने उनका अनुसरण किया। इस प्रकार सोलहवीं शती का अन्त आते-आते रस-विवेचन के आयाम अत्यन्त व्यापक रूप ग्रहण कर चुके थे।

मम्मट (ग्यारहवीं शती का उत्तरार्द्ध), हेमचन्द्र (बारहवीं शती का उत्तरार्द्ध), विद्याधर (तेरहवीं शती का अन्त) तथा जगन्नाथ (सत्रहवीं शती का मध्यकाल) इस युग के ध्वनिसमर्थक आचार्य हैं। मम्मट के समन्वयात्मक ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' में यद्यपि

काव्य-लक्षरा, काव्य-प्रयोजन, काव्य हेतु, काव्य-भेद, शब्द-शक्ति एवं रस-स्वरूप का विशद विवेचन है, तथापि जयघोष सर्वत्र ध्वनि का ही है। ध्वनिवाद की पुष्टि के लिए मम्मट ने अनुमानवाद, अभिधावाद तथा लक्षरावाद का प्रबल खण्डन किया तथा रस को 'रस-ध्वनि' नाम से ध्वनि के एक प्रकार के रूप में ही मान्यता दी। हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' नामक ग्रंथ में मौलिकता का अभाव है। ग्रन्थ के आठ अध्यायों में प्रायः समस्त काव्यांगों की चर्चा है तथा स्थान-स्थान पर ध्वनि के प्रति सहानुभूति व्यक्त की गई है। विद्याधर के ग्रन्थ 'एकावली' की सामग्री 'काव्यप्रकाश' से ग्रहरा की गई है। ध्वनिसम्प्रदाय के अन्तिम समर्थ आचार्य हैं पंडितराज जगन्नाथ। अपने अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण ग्रंथ 'रस गंगाधर' में जगन्नाथ ने प्रखर तार्किकता के साथ अप्पयदीक्षित तथा अनेक पूर्ववर्ती काव्य-शास्त्रियों के मतों का प्रबल खंडन करते हुए ध्वनिमत का पक्षपोषरा किया। विश्वनाथ के प्रसिद्ध रस-समर्थक काव्यलक्षरा के विरोध में उसकी अपेक्षा उन्होंने कहीं अधिक वैज्ञानिक एवं पूर्ण काव्य-लक्षरा प्रस्तुत किया : 'रमरणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'। ध्वनिवाद के प्रबल समर्थक होने पर भी पण्डितराज ने रस की उपेक्षा नहीं की। ध्वनि के पाँच भेदों में 'रसध्वनि' को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करते हुए उसकी आत्मा के रूप में उन्होंने रस का अत्यन्त मार्मिक विवेचन किया है।

इस प्रकार भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक संस्कृत-काव्यशास्त्र की लगभग दो सहस्र वर्षों की सुदीर्घ परम्परा में तीन देहवादी काव्यमत — अलंकार, रीति एवं वक्रोक्ति तथा दो आत्मवादी काव्यमत—रस एवं ध्वनि—प्रस्तावित किए गए, जिनके अन्तर्गत क्रमशः उक्ति-चमत्कार, रचना-सौष्ठव, प्रयोगवक्रता, रस तथा रमरणीय व्यंग्यार्थ की महत्त्व-प्रतिष्ठा का प्रयास किया गया, किन्तु काव्यशास्त्र के विकासमान चिन्तन-क्रम में काव्यात्मा के रूप में केवल रस और ध्वनि को ही मान्यता मिल सकी। संस्कृत-काव्यशास्त्र के इतिहास के अन्तिम चरण में रस और ध्वनि के अन्तर अथवा विरोध की खाई बहुत-कुछ पट चुकी थी। मम्मट ने ध्वनि का पक्ष लेते हुए भी रस को अत्यधिक गौरव प्रदान किया तथा विश्वनाथ ने रस को काव्य-सर्वस्व घोषित करते हुए भी ध्वनि के माध्यम से अभिव्यक्ति पाने वाले रस अथवा रसध्वनि को उत्तम काव्य के रूप में स्वीकृति दी। ध्वनिवादी जगन्नाथ ने ध्वनि के पाँच भेदों में रसध्वनि को ही सर्वश्रेष्ठ माना है। यह एक प्रकार से रस और ध्वनि के समन्वय का ही प्रयास था।

(ख) हिन्दी-काव्यशास्त्र

हिन्दी-काव्यशास्त्र की सीमा-परिधि रीतिकाल के पूर्ववर्ती साहित्यशास्त्र की प्रारम्भिक विवेचनाओं से लेकर अधुनातन काव्यशास्त्रीय मान्यताओं तक व्याप्त है।

हिन्दी की रीतिकाल-पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय रचनाएँ परिमारा, विषय-विवेचन तथा सिद्धांत-प्रतिपादन में सर्वथा प्रारम्भिक अवस्था की हैं। अतः इनका महत्त्व केवल ऐतिहासिक ही है। हिन्दी-काव्यशास्त्र वस्तुतः रीतिकाल में ही विकसित हुआ। उस युग के आचार्यों ने संस्कृत-काव्यशास्त्र की महनीय उपलब्धियों के आधार पर हिन्दी काव्य-शास्त्र को नई दिशाएँ प्रदान कीं। आधुनिक काल के हिन्दी काव्य-मीमांसकों ने भारतीय

और पाश्चात्य काव्यशास्त्र की समन्वित भूमि पर हिंदी के स्वतंत्र साहित्यशास्त्र का भवन-निर्माण कर उसे वास्तविक अर्थ में नवोत्कर्ष प्रदान किया। इन तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए हिन्दी-काव्यशास्त्र के विकास-क्रम को निम्न तीन चरणों में अंकित करना समीचीन होगा :

१. आरम्भ काल।
२. विकासकाल : रीतिकाल।
३. उत्कर्ष काल : आधुनिक काल।

आरम्भ काल

हिन्दी-काव्यशास्त्र के अनेक इतिहासविदों ने रीतिकाल को हिन्दी-काव्यशास्त्र के विकास का प्रारम्भ-बिन्दु माना है, किन्तु रीतिकाल के प्रवर्त्तक आचार्य केशव से पूर्व भी ऐसे अनेक प्रामाणिक एवं अप्रामाणिक कवि-आचार्यों का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने अपने-अपने ढंग से साहित्यशास्त्रीय विवेचनाएँ प्रस्तुत की थीं। 'शिवसिंह सरोज', 'मिश्र बन्धु-विनोद' तथा 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (रा० चं० शुक्ल) आदि इतिहास-ग्रंथों में पुण्ड अथवा पुष्य (सं० ७७० वि०) नामक कवि का उल्लेख किया गया है, किन्तु इनके द्वारा लिखे गए किसी भी ग्रन्थ के उपलब्ध न होने के कारण इन्हें केवल ऐतिहासिक महत्त्व प्रदान किया जा सकता है, तात्त्विक नहीं।

इसके अतिरिक्त पं० राहुल सांकृत्यायन ने सिद्धशान्ति अथवा रत्नाकर शांति (सन् १००० ई०) विरचित 'छन्दोरत्नाकर' एवं आचार्य हेमचन्द्र सूरी (सन् १०८२ ई० से ११७९ ई०) द्वारा प्रणीत 'प्राकृत व्याकरण' 'छन्दोशासन' और 'देशी-नाम माला' जैसी कुछ पुस्तकों की चर्चा की है जिन्हें एक सीमा तक अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थों की कोटि में रखा जा सकता है। ११वीं शताब्दी विक्रमीय के ही एक अन्य कवि जैनाचार्य नैनन के नाम का भी इसी संदर्भ में उल्लेख किया जाता है। इनके ग्रंथ 'सुदर्शन-चरित्र' में नखशिख, शृंगार और नायिका-भेद आदि विषयों का परिचयात्मक विवरण दिया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में इन ग्रन्थों की चर्चा का उद्देश्य भी ऐतिहासिक अनुक्रम का स्पष्टीकरण मात्र ही है। अपभ्रंश और प्राकृत में रचित इन ग्रंथों की कोई परम्परा बाद में सुरक्षित न रह सकी। वैसे भी, जैसा कि निवेदित किया जा चुका है, इनका विषय मूलत: काव्यशास्त्र नहीं था। अधिकांश ग्रंथकारों ने भक्ति और अध्यात्म के परिवेश में शृंगार-तत्त्व, नायिकाभेद आदि की चर्चा प्रासंगिक रूप से ही की थी। ग्रन्थों की अनुपलब्धि, सामग्री की अप्रामाणिकता एवं विषयों की संदिग्ध उपयोगिता के कारण इनमें से किसी भी ग्रंथ की हिन्दी-काव्यशास्त्रीय परम्परा के नियामक ग्रंथ के रूप में महत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती। हिन्दी के रीतिकाल और आधुनिक काल के साहित्य-शास्त्रियों ने अपने लेखन की मूल प्रेरणा, सामग्री तथा विषयों की उपस्थापना-शैली सीधे संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों से ही प्राप्त की थी।

हिन्दी-काव्यशास्त्र के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान करने वाला सर्वप्रथम ग्रन्थ किसे माना जाए, यह अब विशेष विवादास्पद नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा

डॉ० भगीरथ मिश्र ने कृपाराम (सं १५९८ वि०) द्वारा प्रणीत 'हिततरंगिणी' को हिन्दी के प्रथम रीति-ग्रंथ के रूप में मान्यता प्रदान की है। इसके अतिरिक्त डॉ० धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य' तथा डॉ० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास : षष्ठ भाग' में हिन्दी के प्रथम रीतिकार के रूप में कृपाराम को ही स्वीकार किया गया है। 'नाट्यशास्त्र' और 'रसतरंगिणी' (भानुदत्तकृत) से प्रत्यक्षतः प्रभावित 'हिततरंगिणी' मुख्यतः नायिका-भेद का ग्रंथ है, किन्तु शृंगार रस का निरूपण उपलब्ध होने के कारण इसे एक सीमा तक रस-निरूपक ग्रंथ भी माना जा सकता है, यद्यपि इसका शृंगार-निरूपण अत्यन्त साधारण कोटि का है। 'हिततरंगिणी' का महत्त्व हिन्दी-काव्यशास्त्र के आदि ग्रंथ के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है, इसमें विषय-विवेचन की अन्तरंगता एवं वैज्ञानिक दृष्टि का अभाव तो है ही, निरूपण-शैली में भी किसी व्यवस्थित क्रम के दर्शन नहीं होते।

कृपाराम के अनन्तर हिन्दी-काव्यशास्त्र के आरंभ-काल में ऐसे अनेक अन्य कवि-आचार्यों का उल्लेख किया जा सकता है जिन्होंने रीतिशास्त्र के विकास में अपने-अपने ढंग से योग दिया। सं० १६०७ में रचित सूरदास के लक्ष्य-ग्रन्थ 'साहित्य-लहरी' में नायिकाओं एवं अलंकारों के सुन्दर उदाहरण संकलित हैं। गोप अथवा गोपा (संवत् १७७३)[1] के 'रामचन्द्रभूषण' और 'रामचन्द्राभरण' शीर्षक ग्रन्थ विशुद्ध अलंकार-ग्रन्थ हैं। मिश्रबन्धुओं ने गोपा का समय संवत् १६१५ माना है जो संदिग्ध है।

आरम्भकालीन रस-विवेचक ग्रन्थों में संवत् १६१६ में रचित मोहनलाल मिश्र का 'शृंगार-सागर' उल्लेखनीय है। इसमें शृंगार-रस के अतिरिक्त नायिका भेद का निरूपण भी है। इसके बाद के काव्यशास्त्रीय आचार्यों में 'रूपमंजरी', विरहमंजरी' और 'रसमंजरी' के लेखक नन्ददास (जन्म संवत् १५७०) का नाम महत्त्वपूर्ण है। इनमें 'रसमंजरी' काव्यशास्त्रीय दृष्टि से उल्लेखनीय रचना है। इसी परम्परा में करनेस अथवा करनेस बन्दीजन द्वारा शुद्ध रीतिनिष्ठ शैली में रचित 'श्रुतिभूषण' और 'भूष-भूषण' नामक अलंकार-निरूपक ग्रन्थ तथा संवत् १६४० में रचित बलभद्र मिश्र के 'नख-शिख' एवं 'रसविलास' नामक रस-निरूपक ग्रन्थ परिगणनीय हैं। नायिका-भेद निरूपक ग्रन्थों में रहीम का 'बरवैनायिका-भेद' प्रसिद्ध है।

कृपाराम से लेकर बलभद्र मिश्र तक की लगभग ४० वर्ष की अवधि को हिन्दी-काव्यशास्त्र के इतिहास के 'आरंभकाल' का अभिधान दिया जा सकता है। इस काल-खण्ड में काव्यशास्त्रीय विषयों के प्रति लेखकों का उत्साह शंकातीत है। उन्होंने रस-अलंकार-विवेचन और नायिका-भेद निरूपण के प्रति विशेष अभिरूचि प्रदर्शित की। विषय-तत्त्व का ग्रहण यद्यपि सभी ने संस्कृत-ग्रन्थों से किया है, फिर भी किसी-किसी की लेखनशैली में निश्चय ही वैयक्तिकता का संस्पर्श मिलता है। किन्तु इनमें से किसी भी कवि या आचार्य को हिन्दी-काव्यशास्त्र के संवर्द्धन का श्रेय प्रदान नहीं किया जा सकता। इन

---

१. **गोपा का समय विवादास्पद है। डॉ० भगीरथ मिश्र संवत् १७७३ और मिश्रबन्धु संवत् १६१५ मानते हैं।**

सभी कवियों में दृष्टि की मौलिकता का एकान्त अभाव अत्यन्त स्पष्ट है। इस युग के विवेचक ने संस्कृत से केवल सामग्री और शैली-प्रभाव ही ग्रहण नहीं किया, प्रत्युत अत्यन्त सजग मन से उसका छायानुवाद तथा सीधा रूपान्तरण ही कर दिया है। विवेचन की स्वच्छता और वैज्ञानिकता का अभाव एवं उपस्थापना में अव्यवस्था और उलझाव इनके महत्त्व को एक साथ ही अवमूल्यित कर देते हैं।

विकास काल : रीति काल

हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल हिन्दी-काव्यशास्त्र के विकास का युग है। इससे पूर्व कृपाराम आदि पूर्वोल्लिखित कवियों ने काव्यशास्त्रीय विवेचन के क्षेत्र में यत्किंचित् उपादेय कार्य अवश्य किया था, किन्तु वह केवल प्रारम्भिक प्रयास ही था, किसी व्यवस्थित उपक्रम के दर्शन उसमें नहीं होते।

केशवदास (जन्म सं० १६११ वि०) हिन्दी-काव्यशास्त्रीय परम्परा का प्रवर्त्तक आचार्य माना जाता है। भक्तिकाव्य की अत्यन्त सशक्त परम्परा को रीतिशास्त्र की दिशा में प्रवृत्त करने का सर्वाधिक श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। क्रमश: सं० १६४८ वि० तथा १६५८ वि० में रचित 'रसिकप्रिया' तथा 'कविप्रिया' में से प्रथम में रस, वृत्ति, नायिका-भेद और काव्य-दोषों का सामान्य और शृंगार का विशेष वर्णन तथा द्वितीय में प्रमुखत: अलंकार-विवेचन है। केशवदास के आचार्यत्व का आधार रस एवं नायिका-भेद-निरूपण तथा अलंकार विवेचन है, किन्तु उनका अधिकांश विवेचन संस्कृत-काव्यशास्त्र का रूपान्तरण मात्र है: अलंकार-विवेचन तथा नायिका-भेद-निरूपण में उन्होंने जहाँ कहीं यत्किंचित् मौलिक उद्भावनाएँ की भी हैं, उनको कालान्तर में मान्यता प्राप्त न हो सकी। फिर भी, केशव बहु-प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे, इसमें सन्देह नहीं। संस्कृत के ध्वनि-पूर्व और ध्वनि-परवर्ती काल की काव्यशास्त्रीय परम्पराओं को हिन्दी में लाने तथा हिन्दी-काव्यशास्त्र में व्यवस्थित और क्रमबद्ध विवेचन की नींव डालने का श्रेय निश्चय ही उन्हीं को दिया जाना चाहिए। चिन्तामणि त्रिपाठी (जन्म सं० १६६६ वि०) हिन्दी के प्रथम सर्वांगनिरूपक आचार्य हैं। इन्होंने 'काव्य-विवेक', 'काव्य-प्रकाश', 'कविकुलकल्पतरु' एवं 'रसमंजरी' नामक चार काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों तथा 'पिंगल' नामक एक छन्दशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की। 'कविकुलकल्पतरु' इनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना है, जिसमें इन्होंने मम्मट की भाँति ध्वनि-प्रकरण के अन्तर्गत ही रस का विवेचन किया है। स० १७२७ वि० में रचित 'रस-रहस्य' के सुप्रसिद्ध रचयिता कुलपति मिश्र रीतिकाल के ध्वनिवादी आचार्य हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार इनका रस-रहस्य मम्मट के 'काव्यप्रकाश' का छायानुवाद[1] मात्र है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रन्थ में 'काव्यप्रकाश' की कारिकाओं का अनुवाद मात्र नहीं है, उसमें काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों को सुस्पष्ट और बोधगम्य शैली में प्रतिपादित

---

१. **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', दसवाँ संस्करण,** पृ० २५९।

करने का प्रयास भी है। सत्रहवीं शती के ही 'सुधानिधि' के प्रणेता तोषकवि एवं 'भाषा-भूषण' के रचयिता महाराज जसवन्तसिंह के नाम भी उल्लेखनीय हैं। ये दोनों ही ग्रन्थ अत्यन्त साधारण कोटि के हैं।

लगभग उन्हीं के समकालीन मतिराम की रुचि यद्यपि मुख्यत: शृंगार-विवेचन में ही रही, तथापि अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ललितललाम' में उन्होंने अलंकारों का निरूपण भी किया है। उनके एक अन्य ग्रन्थ 'रसराज' में नायिका-भेद और शृंगार-भेद और शृंगार-रस का निरूपण है। इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त मतिराम ने 'अलंकार पंचाशिका', 'साहित्य-सार' और 'लक्षण-शृंगार' नामक ग्रन्थों की रचना भी की।

१८वीं शती के महाकवि देव सर्वांग-निरूपक आचार्य हैं। 'शब्द-रसायन', 'भाव-विलास','भवानी विलास' और 'काव्य रसायन' इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं। 'शब्द-रसायन' नवरस, अलंकार, शब्द-शक्ति, पिंगल, काव्य-स्वरूप, रीति (गुण), वृत्ति, पदार्थ-निर्णय, काव्य-महिमा आदि विषयों का गम्भीर, प्रौढ़ एवं सांगोपांग विवेचन करने वाला विविधांग-निरूपक ग्रन्थ है। 'भाव-विलास' और 'भवानी विलास' में देव की रसोन्मुखी दृष्टि का परिचय मिलता है। 'रस-विलास' 'कुशल विलास', 'शृंगार-विलासिनी' (संस्कृत), 'सुजान-विनोद' और 'सुखसागर तरंग' उनके नायिका-भेद-निरूपक ग्रन्थ हैं। समग्रत: देव के रीति-विवेचन का प्रमुख विषय रस और उसके अन्तर्गत भी शृंगार रस एवं नायिका-भेद-निरूपण है। इन्हीं के समकालीन सोमनाथ का 'रसपीयूष निधि' भी विविधांग-निरूपक ग्रन्थ है। इनके परवर्ती आचार्यों में भिखारीदास और प्रतापसाहि विशेष प्रसिद्ध हुए। भिखारीदास ने सं० १७९६ वि०,सं० १८०३वि० तथा में सं० १८०७ वि०में क्रमश: 'रस-सारांश', 'काव्य-निर्णय' और 'शृंगार-निर्णय' की रचना की। काव्य-निर्णय' इनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। प्रतापसाहि ध्वनिवादी आचार्य हैं। 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' (सं० १८८३ वि०) के मूल भाग में इन्होंने नायक-नयिका भेद का सोदाहरण विवेचन किया है, इसके टीका भाग में ध्वनि के भेद, अलंकार एवं शब्द-शक्ति का विवेचन भी मिलता है। 'काव्य विलास' इनका विविधांग-निरूपक ग्रन्थ है।

कालक्रमानुसार रीतिकाल के उपर्युक्त प्रमुख आचार्यों के तुरन्त पश्चात् इनकी अपेक्षा कुछ कम महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रियों का उल्लेख भी इतिहास-ग्रंथों में किया गया है। रीति-परम्परा में सम्मिलित होने के उद्देश्य से ये कवि अपने युग के प्रसिद्ध कवि-आचार्यों के अनुकरण पर तृतीय श्रेणी की प्रतिभा के सहारे संस्कृत-काव्यशास्त्र का अधकचरा पद्यानुवाद प्रस्तुत करते रहे। इनमें रामजी, गोपालराय, बिलराम, बलिबीर, कल्यानदास आदि को हिन्दी-साहित्यशास्त्र के इतिहासकार कोई महत्त्व नहीं देते।

किन्तु इसी समय के आस-पास सूरतिमिश्र, कुमारमणिभट्ट, श्रीपति, रसलीन उदयनाथ, रतनकवि, करनकवि एवं रसिक-गोविन्द आदि संस्कृत के काव्यशास्त्रीय विवेचन को ही आधार बनाकर काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना करने वाले कुछ ऐसे कवि भी हुए जिनके रीति-ग्रन्थों को किन्हीं कारणों से विशेष समादर एवं प्रसिद्धि भले ही न मिल सकी हो, तथापि इनके रीति-विवेचन में कहीं-कहीं प्रतिभा का उन्मेष निस्सन्देह मिलता है।

पद्माकर का नाम रीतिशास्त्रीय परम्परा के अन्तिम आचार्यों में महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने 'जगद्विनोद' और 'पद्माभरण' नामक दो काव्यशास्त्रीय रचनाएँ प्रस्तुत कीं। 'जगद्विनोद' को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मतिरामकृत 'रसराज' के समकक्ष ठहराया है।[1]

रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय परम्परा में यद्यपि प्रथम श्रेणी के चिन्तन अथवा नितान्त मौलिक उद्भावनाओं की उपलब्धि नहीं होती, फिर भी कृपाराम आदि केशव-पूर्व हिन्दी काव्यशास्त्रियों के प्रारम्भिक कार्य को विकसित करने में इस युग के आचार्यों का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाएगा। बहुसंख्यक कवियों ने अपने-आपको आचार्य-रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए जिन रीतिशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की, उनकी विपुल संख्या भी अपने-आपमें कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। किन्तु परिमाणाधिक्य से प्रायः प्रतिभा के क्षय की आशंका भी रहती है। यही कारण है कि इस युग के अधिकांश काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ अत्यन्त साधारण कोटि के हैं। फिर भी केशवदास, चिन्तामणि, कुलपति, देव, सोमनाथ, खिारीदास तथा प्रतापसाहि के काव्यशास्त्रीय चिन्तन में पर्याप्त मौलिकता तथा वैज्ञानिक एवं सुष्ठु विवेचनात्मक दृष्टि का परिचय मिलता है। हिंदी की साहित्य-शास्त्रीय परम्परा में इनका योगदान निश्चय ही स्तुत्य है।

उत्कर्ष काल : आधुनिक काल

हिन्दी-साहित्यशास्त्र का आधुनिक काल उसके उत्कर्ष का युग है। वर्तमान शती में, विशेषतः प्रथम महायुद्ध के पश्चात् पाश्चात्य साहित्य और संस्कृति के सान्निध्य औद्योगीकरण, वैज्ञानिक दृष्टि के उन्मेष तथा भारतीय जनता के महान सांस्कृतिक-राजनीतिक पुनर्जागरण के फलस्वरूप अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य के साथ-साथ हिन्दी-साहित्य में जिस आधुनिक दृष्टि का उदय हुआ, उसका अनिवार्य प्रभाव समीक्षा पर भी पड़ा। प्राचीन एवं अर्वाचीन हिन्दी-साहित्य के परिप्रेक्ष्य में संस्कृत एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के समन्वय एवं विश्लेषण द्वारा हिन्दी के अपने स्वतन्त्र काव्यशास्त्र का विकास इस युग की अभूतपूर्व घटना है।

कालक्रम की दृष्टि से उत्कर्ष काल को चार चरणों में विभक्त किया जा सकता है:

१. शुक्ल-पूर्व युग
२. शुक्ल-युग
३. शुक्लोत्तर-युग तथा
४. समसामयिक साहित्यशास्त्रीय धाराएँ।

शुक्ल-पूर्व युग

हिन्दी-साहित्यशास्त्र के इतिहास में आधुनिक काल का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सन् १८५०-१८८५ ई०) के 'नाटक' शीर्षक निबन्ध से माना जाता है। इस

---

१. **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, (१०वाँ सं०), पृ० ३०७।**

निबन्ध में लेखक ने नाटक के स्वरूप, भेदोपभेद, रचना पद्धतियों एवं रंगमंच आदि विषयों का विवेचन किया है। सन् १८८३ में कविराजा मुरारिदीन ने 'जसवन्त भूषण' नामक सर्वांगनिरूपक ग्रन्थ तथा महाराजा प्रतापनारायण सिंह ने सन् १८६४ ई० में 'रस-कुसुमाकर' नामक ग्रन्थ की रचना ब्रजभाषा-पद्य में की।

आधुनिक काल के अन्य प्रारम्भिक काव्यशास्त्रियों में जगन्नाथ प्रसाद 'भानुकवि' बिहारीलाल भट्ट, लाला भगवानदीन, कन्हैयालाल पोद्दार, सीताराम शास्त्री, अर्जुन दास केड़िया तथा अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के नाम महत्त्वपूर्ण हैं। 'भानु-कवि' ने सन् १६०६में 'काव्य-प्रभाकर' की रचना कर काव्यशास्त्र के पारम्परिक अंगों का विस्तृत परिचय दिया। 'छन्द प्रभाकर' इनका पिंगलशास्त्रीय ग्रन्थ है। बिहारीलाल भट्ट ने सन् १६३७ ई० में 'साहित्यसागर' नामक दो भागों में विभक्त ग्रन्थ में लगभग सभी साहित्यांगों का विवेचन किया। इन्हीं के समसामयिक लाला भगवानदीन की प्रसिद्ध रचना 'अलंकार मंजूषा' का प्रथम प्रकाशन सन् १६१६ में हुआ। कन्हैयालाल पोद्दार के सन् १६२६ में प्रकाशित 'काव्यकल्पद्रुम' शीर्षक प्रसिद्ध ग्रन्थ के प्रथम भाग 'रस-मंजरी' में मुख्यत: 'काव्यप्रकाश' के आधार पर समस्त काव्यांगों तथा दूसरे भाग 'अलंकार-मंजरी' में अलंकारों का विवेचन किया गया है। सीतारामशास्त्री ने मम्मट एवं विश्वनाथ के आधार पर सन् १६२३ में 'साहित्य-सिद्धांत' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। सन् १६३० में प्रकाशित अर्जुनदास केडिया के 'भारती-भूषण' का विवेच्य विषय मुख्यत: अलंकार है।

सन् १६३१ में प्रकाशित अयोध्यासिंह उपाध्याय के प्रख्यात ग्रन्थ 'रस-कलस' का हिन्दी-काव्यशास्त्र के आधुनिक काल में रचित रस-विवेचक ग्रन्थों में अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण-स्थान है। सन्१६३१ में डॉ० रामशंकर शुक्ल रसाल का शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास' प्रकाशित हुआ। एक अन्य रचना 'अलंकार-पीयूष' में रसाल जी ने अलंकार-शास्त्र के सुविस्तृत विवेचन के अतिरिक्त हिन्दी-अलंकारशास्त्र का इतिहास भी प्रस्तुत किया। मिश्रबन्धु (पं० प्रतापनारायण मिश्र और पं० शुकदेव बिहारी मिश्र) की साहित्यशास्त्रीय धारणाओं का प्रतिनिधि ग्रन्थ 'साहित्यपारिजात' सन् १६४० में प्रकाशित हुआ। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के समीक्षा-सिद्धांतों का परिचय 'रसज्ञ-रंजन','आलोचनांजलि' 'साहित्यालाप' तथा 'साहित्य-संदर्भ' नामक कृतियों में मिलता है। छन्द, काव्य-भाषा, अर्थ गौरव तथा नायिका-भेद आदि विषयों पर द्विवेदीजी के विचार महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं।

आधुनिक हिन्दी-साहित्यशास्त्र के इतिहास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से पूर्व के इन समालोचकों में से कुछ पर यद्यपि रीतिकाल की शास्त्रीय परम्परा का प्रभाव अवशिष्ट है, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि इन सभी में आधुनिक दृष्टि का उन्मेष धीरे-धीरे होने लगा था।

शुक्ल युग

हिन्दी-साहित्यशास्त्र में आधुनिकता का उन्मेष वस्तुत: आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के आविर्भाव से हुआ। हिन्दी समीक्षा के इतिहास में सर्वप्रथम शुक्लजी ने ही पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र का विधिवत् एवं मनोयोगपूर्वक व्यवस्थित अध्ययन किया। सम्भवत: इसीलिए उन्होंने भारतीय मनीषा की भव्यतम एवं प्राचीनतम उद्भूति रस-सिद्धान्त को मनोविज्ञान की अभिनव आधारभूमि प्रदान की। इनके द्वारा प्रस्तुत साधारणीकरण-सिद्धान्त की पुनर्व्याख्या हिन्दी-समीक्षाशास्त्र के इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना है। शुक्लजी की आलोचना-पद्धति पर अनेक पाश्चात्य चिन्तकों, विशेषत: आई० ए० रिचर्ड्स और बेनेदेतो क्रोचे का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। उनकी सहज रुचि वस्तुत: व्यावहारिक आलोचना के प्रति थी और इसी में उनकी साहित्यिक मान्यताओं का सन्धान भी सहज ही किया जा सकता है। शुक्लजी ने सुविचारित योजना के अनुसार किसी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना नहीं की। उनके तत्सम्बन्धी विचार 'चिन्तामणि' (दो भाग) तथा 'रस-मीमांसा' (निधनोपरान्त संकलित और प्रकाशित) में उपलब्ध हैं।

शुक्लजी के समकालीन आचार्य श्यामसुन्दरदास भी उस युग की दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण हैं। हडसन के अंग्रेजी ग्रन्थ 'एन इंट्रोडक्शन टू दि स्टडी ऑफ़ लिट्रेचर' का छाया-नुवाद होने पर भी उनका ग्रंथ 'साहित्यालोचन' उस युग में पर्याप्त समादृत हुआ। लगभग इसी समय आचार्य पद्मसिंह शर्मा ने हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा का प्रवर्त्तन किया। 'बिहारी सतसई की भूमिका' तथा 'पद्मराग' में उनकी व्यावहारिक समीक्षा-पद्धति के साथ-साथ उनके सैद्धान्तिक विवेचन का परिचय भी मिलता है। शुक्ल जी के अन्य सम-सामायिक समालोचकों में से पं० रामदहिन मिश्र के 'काव्यालोक' एवं 'काव्य-दर्पण' में भारतीय काव्यशास्त्र के विवेचन-विश्लेषण के साथ-साथ कहीं-कहीं पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र-विषयक विमर्श तथा 'काव्य में अप्रस्तुत-योजना' में काव्य-शिल्प-विषयक विवेचन उपलब्ध है तथा पं० बलदेव उपाध्याय 'भारतीय साहित्यशास्त्र' (दो भाग) और 'संस्कृत आलोचना' शीर्षक ग्रन्थों में संस्कृत-काव्यशास्त्र की अत्यन्त प्रामाणिक एवं तथ्य-निरूपिणी व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

इस युग में छायावाद के कवि-चतुष्टय के आलोचनात्मक गद्य का भी अपना विशिष्ट महत्त्व है। 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' में जयशंकर प्रसाद की प्रौढ़ आलोचना-दृष्टि का परिचय मिलता है, ऐतिहासिक अनुक्रम को स्पष्ट करते हुए उन्होंने प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र की सम्मिलित भूमि पर अपनी साहित्य-दृष्टि को स्थिर किया। 'प्रबन्ध पद्म', 'प्रबन्ध प्रतिमा' एवं 'चाबुक' में संकलित सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के आलोचनात्मक निबन्धों में उनकी तलस्पर्शी प्रतिभा और विश्लेषण-बुद्धि का परिचय मिलता है; उनके मुक्त-छन्द-विषयक विचार सर्वथा मौलिक हैं और अपनी प्रामाणिकता सिद्ध कर चुके हैं। सुमित्रानन्द पंत के 'पल्लव' के 'प्रवेश' में काव्य के शैल्पिक उपकरणों का कवित्वपूर्ण शैली में विश्लेषण किया गया है। 'छाया-वाद का पुनर्मूल्यांकन' उनका नवीनतम आलोचनात्मक ग्रन्थ है। महादेवी वर्मा विचार

ग्रोर ग्रनुभूति के सश्लेषण के लिए सुख्यात हैं। 'दीपशिखा' की भूमिका ग्रौर 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' में उनका ग्रालोचनात्मक कृतित्व संकलित है।

शुक्ल-युग वस्तुत: हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा में पाश्चात्य दृष्टि के समावेश ग्रौर उससे उद्भूत तार्किक वैज्ञानिकता के प्रवर्त्तन का युग है। इस युग के समीक्षकों, विशेषत: शुक्लजी ने परवर्ती हिन्दी-काव्यशास्त्र के स्वरूप-निर्धारण ग्रौर उसे वास्तविक ग्रभिनव दिशा की ग्रोर प्रवृत्त करने में ग्रभूतपूर्व योग दिया। पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्यशास्त्र के संश्लिष्ट रूप की ग्राधारभूमि पर हिन्दी के जिस स्वतन्त्र काव्यशास्त्र का विकास ग्रागे चलकर हुग्रा उसकी नींव भी वस्तुत: इसी युग में पड़ी।

शुक्ल-युग में हिन्दी में साहित्य ग्रौर जीवन के प्रति जो भावोच्छ्वासपूर्ण रोमानी, किंतु वायवी दृष्टि क्रमश: रूढ़ हो चली थी, वह शुक्ल-परवर्ती युग में धीरे-धीरे नि:शेष होने लगी। फलस्वरूप भाव का स्थान ग्रर्थ ने, कल्पना का स्थान यथार्थ ने ग्रतीन्द्रियता का स्थान मांसलता तथा सूक्ष्म ग्राध्यात्मिकता का स्थान स्थूल भौतिकता ने ले लिया; साहित्य में प्रमुखत: ग्रर्थ ग्रौर काम की विवेचना होने लगी। प्रधानत: मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त पर ग्राधारित प्रगतिवादी एवं फ्रॉयड ग्रादि मनोविश्लेषकों की मान्यताग्रों से प्रभावित मनोविश्लेषणवादी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ स्पष्टत: उभरने लगीं। व्यावहारिक समीक्षा पर इन सबका गहरा प्रभाव पड़ा।

सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रभाव इस युग में पूर्वापेक्षया ग्रधिक व्यापक ग्रौर गहन रूप से पड़ा। हिंदी-समीक्षा में मनोविज्ञान ग्रौर ग्रभिनव ग्राधुनिक-बोध को लेकर युगान्तर उपस्थित हुग्रा। हिन्दी के साहित्यमीमांसकों ने न केवल भारतीय काव्यशास्त्र का ग्राधुनिक मनोविज्ञान एवं पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के प्रकाश में विश्लेषण एवं भारतीय दृष्टिकोण से पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का ग्रध्ययन ही किया, प्रस्तुत इन दोनों साहित्यशास्त्रों की समन्वित-संश्लिष्ट भूमि पर हिंदी की ग्रपनी प्रकृति के सीमान्तों के भीतर हिंदी के स्वतन्त्र काव्यशास्त्र के निर्माण की दिशा में सचेष्ट चरणन्यास किया।

शुक्ल-परवर्ती युग के सर्वप्रथम उल्लेख्य समालोचक बाबू गुलाबराय ने 'नवरस', 'काव्य के रूप' तथा 'सिद्धांत ग्रौर ग्रध्ययन' में विविध काव्यसिद्धांतों का समन्वयात्मक दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत किया है। डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' ने भारतीय ग्रौर पाश्चात्य साहित्यशास्त्र, दर्शन तथा मनोविज्ञान के पुष्ट ग्राधार पर हिंदी काव्यशास्त्र को व्यापक भूमि प्रदान की। 'काव्य में ग्रभिव्यंजनावाद' तथा 'जीवन के तत्त्व ग्रौर काव्य के सिद्धांत' इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। सौष्ठववादी ग्रालोचना के प्रमुख समीक्षक पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी ग्रपनी समीक्षा-पद्धति को भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के ग्राधार पर निर्मित किया है। इनके साहित्यविषयक सैद्धांतिक विचार 'ग्राधुनिक साहित्य', 'हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' तथा 'नया साहित्य : नये प्रश्न' में व्यक्त हुए हैं।

ऐतिहासिक ग्रालोचना के क्षेत्र में ग्रग्रगण्य डॉ० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने समष्टिमूलक जनजीवन के व्यापक परिवेश एवं मानव-संवेदना के वृत्त में ग्रपनी साहित्यिक

मान्यताएँ स्थिर की हैं। 'विचार ग्रौर वितर्क', 'ग्रशोक के फूल', 'साहित्य का मर्म' तथा कालिदास की 'लालित्य-योजना' ग्रादि पुस्तकों में इनके साहित्य-सिद्धान्तों का परिचय मिलता है। प्रसिद्ध रसवादी ग्राचार्य **डॉ० नगेन्द्र** ने भी भारतीय ग्रौर पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रों के परस्पर वैचारिक ग्रादान-प्रदान एवं एक-दूसरे की शब्दावली में उनके पुनराख्यान का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित किया। संस्कृत के प्रमुख काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के सम्पादन, ग्ररस्तू एवं लौंगिनुस (लांजाइनस) के ग्रंथों के प्रामाणिक ग्रनुवाद एवं सम्पादन के ग्रतिरिक्त उक्त ग्रंथों की विवेचनात्मक भूमिकाएँ भी इन्होंने लिखी हैं। डॉ० नगेन्द्र का महानतम योगदान मानव-मनोविज्ञान की ग्राधार-भूमि पर रस-सिद्धान्त की युगानुरूप ग्रभिनव व्याख्या प्रस्तुत कर ग्रालोचना के सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक मानदंड के रूप में उसकी पुनर्प्रतिष्ठा में है। 'रीति-काव्य की भूमिका', 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' 'ग्ररस्तू का 'काव्यशास्त्र', 'काव्य में उदात्त तत्त्व' तथा 'रस-सिद्धान्त' उनके प्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रंथ हैं। इनके ग्रतिरिक्त 'विचार ग्रौर ग्रनुभूति', 'विचार ग्रौर विवेचन', 'विचार ग्रौर विश्लेषण' तथा 'ग्रालोचक की ग्रास्था' में इनके स्फुट समीक्षात्मक विचार उपलब्ध होते हैं। 'ग्रास्था के चरण' इनका नवीनतम निबन्ध-संकलन है।

शुक्लोत्तर युग के उपर्युक्त समालोचकों की उपलब्धियाँ संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(क) ग्राधुनिक सौंदर्यशास्त्र, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषणशास्त्र एवं ग्रधिमानस शास्त्र के प्रकाश में हिन्दी काव्यशास्त्र का ग्रध्ययन, विश्लेषण, पुनराख्यान एवं पुनर्प्रतिष्ठापन।

(ख) भारतीय ग्रौर पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का समन्वय ग्रौर संश्लेषण। तथा,

(ग) हिन्दी के स्वतंत्र साहित्यशास्त्र के निर्माण का जागरूक प्रयत्न।

समसामयिक साहित्यशास्त्रीय धाराएँ : प्रतिवादी ग्रालोचना ग्रौर नवसमीक्षा

प्रधानत: शास्त्रीय ग्रौर ग्रंशत: मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषणात्मक ग्राधार पर विकसित शुक्लोत्तरयुगीन जिस सैद्धान्तिक समालोचना का दिग्दर्शन पूर्वपृष्ठों में किया जा चुका है, उसके बाद की हिन्दी समालोचना ने मुख्यत: प्रगतिवाद तथा नवसमीक्षा—दो विभिन्न वर्गों का रूप ग्रहण कर लिया।

प्रगतिवादी ग्रालोचना

पिछली शताब्दी के ग्रन्त एवं वर्तमान शताब्दी के प्रारंभ से यूरोप के मार्क्सवादी समालोचक साहित्यिक मूल्यांकन के लिए जिन समाजशास्त्रीय, भौतिकवादी एवं जनवादी प्रतिमानों के निर्धारण का प्रयत्न करते ग्रा रहे थे, सन् १९३६ में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के पश्चात् वे ही प्रगतिवाद के नाम से प्रचारित किये जाने लगे।) हिन्दी में समीक्षा की प्रगतिवादी दृष्टि का उन्मेष वस्तुत: छायावाद की ऐकान्तिक व्यक्तिवादिता, ग्रतिशय कल्पना-प्रियता एवं जनजीवन के यथार्थ भौतिक संघर्षों से पलायन की प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया के रूप में हुग्रा। प्रगतिवादी समीक्षा का मुख्य ग्राधार मार्क्स का द्वन्द्वात्मक

भौतिकवाद है। व्यक्ति और समाज को वर्गभेद के सिद्धान्त पर समझने का दावा करने वाले हिन्दी के प्रगतिवादी समीक्षक साहित्य को सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति मानते हैं। सौंदर्यबोध अथवा सौंदर्यचेतना का नितान्त निर्वैयक्तिक रूप में सार्वजनीन धरातल पर प्रसार करने की कल्पना से स्वयं सम्मोहित होने पर भी ये समीक्षक साहित्य में भावना एवं कल्पना के स्थान पर वस्तुमुखी बौद्धिकता को प्रश्रय प्रदान करते हैं।

प्रगतिवादी सर्जनात्मक साहित्य के समान ही प्रगतिवादी समीक्षा भी हिन्दी में गहरी जड़ें न जमा पाई। यद्यपि हिन्दी-साहित्यशास्त्र के विकाश में प्रगतिवादी समीक्षा का कोई महत्त्व स्वीकार नहीं किया जा सकता, तथापि एक सीमा तक साहित्य के उपयोगितामूलक कल्याणवादी मूल्यों की पुनर्प्रतिष्ठा का श्रेय इसे अवश्य ही दिया जाएगा। **शिवदानसिंह चौहान** हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा के प्रतिष्ठापक आलोचकों में हैं। 'साहित्य की परख', 'प्रगतिवाद', 'साहित्यानुशीलन' तथा 'आलोचना के सिद्धान्त' आदि कृतियों में श्री चौहान ने साहित्य के प्रगतिवादी प्रतिमानों की प्रतिष्ठा की है। **डॉ० रामविलास शर्मा प्रकाशचन्द्र गुप्त**, **अमृतराय** और **रांगेय राघव** अन्य प्रगतिवादी समीक्षक हैं।

नवलेखन की समीक्षा-दृष्टि : नव समीक्षा

यद्यपि नवलेखन के आविर्भाव से बहुत पहले **पं० इलाचन्द्र जोशी** प्रभृति कतिपय लेखक फ़ायड के मनोविश्लेषणशास्त्र से प्रभावित समीक्षा-सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की दिशा में प्रवृत्त हो चुके थे, किन्तु साहित्य को नितान्त वैयक्तिक व्यापार मानकर उसके स्रष्टा के अन्तर्मन एवं रचना-प्रक्रिया का नई दृष्टि से मनोविश्लेषणवादी विवेचन नवलेखन का अपना नया क्षेत्र है। नई समीक्षा के इतिहास का प्रारम्भ **अज्ञेय** के सम्पादकत्व में प्रकाशित 'तारसप्तक' से माना जाता है। 'तारसप्तक' की 'विवृत्ति', 'पुरावृत्ति' तथा उसमें संकलित कविताओं के सात स्रष्टा कवियों की काव्यविषयक धारणाएँ नव समीक्षा के प्रारंभिक रूप का समुचित दिग्दर्शन कराती हैं।

नव समीक्षा वस्तुतः नवलेखन की विविध विधाओं के रचनाकारों द्वारा अपनी कृतियों के पक्ष-पोषण एवं निजी मान्यताओं के स्पष्टीकरण में दिए गए वक्तव्यों के रूप में ही अधिक उपलब्ध होती है। नवलेखन के किसी भी समीक्षक ने अपने सैद्धान्तिक विवेचन को किसी स्वतंत्र एवं सुचिन्तित ग्रंथ का आकार प्रदान नहीं किया। फलतः इस समीक्षा-प्रणाली की सैद्धान्तिक चिन्ताधाराएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में स्फुट रूप से प्रकाशित हो रही हैं। साहित्य-शास्त्र के अतिरिक्त राजनीति, दर्शन एवं समाजशास्त्र की सुदृढ़ आधारभूमि से पुष्ट हिन्दी की यह नव्यतम समीक्षा-प्रणाली कलाकार की सृजन प्रक्रिया, मानव-मूल्यों एवं साहित्य-मूल्यों के विवेचन-विश्लेषण, निरन्तर विकासमान मानवीय चेतना के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में साहित्य के पुनर्विश्लेषण, शिल्प के नवीन प्रतिमानों के निर्धारण एवं उसकी प्रक्रिया के विवेचन द्वारा समीक्षा के पारम्परिक आयामों में क्रान्ति उत्पन्न करने का दावा करती है।

नव-समीक्षकों में **अज्ञेय**, **डॉ० रघुवंश**, **डॉ० धर्मवीर भारती**, **डॉ० जगदीश**

गुप्त, विजयदेवनारायण साही तथा **डॉ० नामवरसिंह** आदि उल्लेखनीय हैं। अज्ञेय की आलोचना में संतुलित, आधुनिक-बोध-सम्पन्न एवं तत्त्वनिरूपिणी विश्लेषक बुद्धि का परिचय मिलता है। 'तार सप्तक' तथा 'दूसरा सप्तक' की बहुचर्चित भूमिकाओं के अतिरिक्त 'त्रिशंकु' और ' हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य' नामक निबन्ध-संकलनों में उनकी साहित्यिक मान्यताएँ व्यक्त हुई हैं। डॉ० रघुवंश ने पाश्चात्य और भारतीय साहित्यशास्त्र के सतर्क अध्ययन के उपरान्त अपनी मान्यताओं को स्थिर किया है। वे प्रयोगवाद के प्रारंभिक समीक्षकों में अग्रणी रहे हैं। इस प्रसंग में 'कल्पना' [अक्तूबर-नवम्बर, १९५८] तथा 'नयी कविता' [अंक-२] में प्रकाशित उनके लेखों के अतिरिक्त 'हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ' की भूमिका उल्लेखनीय है। डॉ० धर्मवीर भारती की १९४९ ई० में प्रकाशित प्रथम आलोचना कृति 'प्रगतिवाद : एक समीक्षा' अवश्य ही एक अपरिपक्व रचना है, किन्तु बाद में चलकर उन्होंने अनेक सुचिन्तित-गंभीर निबन्ध प्रस्तुत किए। 'मानव-मूल्य और साहित्य' नामक ग्रंथ के अतिरिक्त 'साहित्य की नयी मर्यादा' [आलोचना-११], 'प्रतीक' एवं 'राष्ट्रवाणी' में प्रकाशित अनेक निबन्ध डॉ० धर्मवीर भारती के लिए ख्यातिकर सिद्ध हुए हैं। डॉ० जगदीश गुप्त ने विशेषत: नयी कविता के शिल्प का अध्ययन किया है। 'नयी कविता' में प्रकाशित काव्य-लय विषयक उनके विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। नयी समीक्षा की विशिष्ट शब्दावली के निर्माण एवं नई कविता की प्रकृति के गंभीर विश्लेषण की दृष्टि से **लक्ष्मीकान्त वर्मा** का विशेष स्थान है। १९५७ ई० में प्रकाशित 'नयी कविता के प्रतिमान' शीर्षक उनकी रचना नवलेखन के साहित्यशास्त्रीय क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण कृति है। विजयदेवनारायण साही मार्क्सवाद से प्रभावित नवलेखन के प्रगतिशील समीक्षकों में अग्रणी हैं। 'मार्क्सवादी समीक्षा और उसकी कम्युनिस्ट परिणति' [आलोचना-९] शीर्षक निबन्ध तथा 'राष्ट्रवाणी' में प्रकाशित अनेक निबन्धों में उनका आलोचक-व्यक्तित्व उभरा है। मार्क्स-दर्शन से आक्रान्त डॉ० नामवरसिंह नवलेखन के विवादास्पद, किन्तु तेजस्वी समीक्षक हैं। 'इतिहास और आलोचना' एवं 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ' नामक समीक्षा-ग्रंथों के अतिरिक्त 'संकेत' तथा 'आलोचना' में प्रकाशित अनेक निबन्ध उनके कृतित्व के श्रेष्ठ निदर्शन हैं।

नव समीक्षा ने अत्यंत सजग भाव से तर्कपुष्ट बौद्धिक धरातल पर काव्य, कवि और प्रमाता से सम्बन्धित आख्यात्मक एवं व्याख्यात्मक बहुविध विवेचन प्रस्तुत किया है। काव्य-सृजन की प्रक्रिया, कवि-मन के अन्त: संस्कारों, काव्यास्वाद के स्वरूप और उसकी प्रकृति, साधारणीकरण के नवीन अर्थ, सौन्दर्य एवं आधुनिकता के नव-बोध के अन्तर्विश्लेषण तथा व्यापक मानव-मूल्यों के अन्तर्गत साहित्यिक प्रतिमानों के स्थिरीकरण की दृष्टि से नव समीक्षा निश्चय ही महत्त्व की अधिकारिणी है। समसामयिक होने के कारण इसके सर्वांगपूर्ण एवं समाकलित मूल्यांकन का प्रयास अभी निष्फल सिद्ध होगा।

अध्याय २

काव्य

(क) वाङ्मय और उसके भेद : काव्य और शास्त्र*

'वाङ्मय' शब्द का निर्माण **वाक्** और **मय** के योग से हुआ है जिसका सामान्य अर्थ है वाणीयुक्त। इस प्रकार बृहत्तर अर्थ में वाङ्मय के अन्तर्गत मानव का समस्त वाणी व्यापार समाविष्ट हो जाता है; आधुनिक संदर्भ में मानव की समस्त लिपिबद्ध वाग् रचना वाङ्मय है। संस्कृत काव्यशास्त्र में राजशेखर ने वाङ्मय की चर्चा की है। काव्य-पुरुष रूपक के प्रसंग में सरस्वती ने अपने पुत्र काव्य को सम्बोधित करते हुए अपने-आपको सम्पूर्ण वाङ्मय की जननी घोषित किया है।[1] सरस्वती का 'वाङ्मयी' पर्याय इस कथन की सार्थकता सिद्ध करता है।

राजशेखर के अनुसार वाङ्मय के दो भेद हैं : **शास्त्र** और **काव्य—इह हि वाङ्मयमुभ यथा शास्त्रं काव्यं च**। काव्य उनकी दृष्टि में केवल छन्दोबद्ध रचना ही नहीं है, वरन् वह साहित्य मात्र का पर्याय है। उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में गद्य और पद्य — किसी भी शैली में रचित साहित्य—को 'काव्य' का अभिधान दिया है। अपने ग्रंथ 'काव्य मीमांसा' में आगे चलकर उन्होंने एक स्थान पर काव्य के लिए 'साहित्यविद्या'[2] शब्द का प्रयोग किया है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में 'शास्त्र' को काव्य से भिन्न वाङ्मय का दूसरा भेद माना गया है। शास्त्र के अन्तर्गत श्रुति और शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष एवं अलंकार आदि अपौरुषेय शास्त्र तथा पुराण, आन्वीक्षिकी, मीमांसा, स्मृति, तंत्र आदि पौरुषेय शास्त्र आते हैं। काव्य-सर्जना के लिए शास्त्र-ज्ञान आवश्यक होने पर भी भारतीय दृष्टि में काव्य ही समस्त विद्याओं का सार है[3] और सभी शास्त्र उसीका अनुसरण करते हैं।[4]

---

* **डॉ० प्रतिमा कृष्णबल**

१. **वत्स, सच्छन्दस्काया गिरःप्रणेतवडिमयमातरमपि मातरं मां विजयसे।**
—राजशेखर, 'काव्यमीमांसा' तृतीय अध्याय (काव्यपुरुषोत्पत्तिः)।

२. **पंचमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः।**

३. **पंचमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः। सा हि चतसृणामपि विद्यानां, निष्यंदः।' काव्यमीमांसा, द्वितीय अध्याय।**

४. **"गद्यपद्यमयवात् + + तद्धि शास्त्राण्यनुधावन्ति।**
—उपरिवत्।

इस प्रकार समस्त ज्ञान विषयक वाङ्मय भारतीय मत में 'शास्त्र' है और इससे इतर वाङ्मय का रसमयरूप 'काव्य' है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी लगभग इसी रूप में वाङ्मय के भेदों की चर्चा की गई है। 'लिट्रेचर' शब्द वस्तुतः वाङ्मय का ही पर्याय है और वह दो प्रकार का माना गया है। 'लिट्रेचर ऑफ पावर' तथा 'लिट्रेचर ऑफ नॉलेज', जिसका अर्थ क्रमशः 'सर्जनात्मक साहित्य' और 'ज्ञान का साहित्य' है। वाङ्मय 'साहित्य' की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक संज्ञा है जिसके अन्तर्गत कविता के प्रबन्ध, मुक्तक एवं प्रगीत आदि सभी भेद और उपन्यास, नाटक, कहानी, निबन्ध आदि—सर्जनात्मक अभिव्यक्ति के सभी रूपों के अतिरिक्त पत्रकारिता, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र तथा वैज्ञानिक साहित्य आदि चिन्तन के समस्त अभिव्यक्त रूप आ जाते हैं जिनके द्योतन के लिए सामान्यतः 'साहित्य' शब्द पर्याप्त नहीं लगता।

(ख) काव्य का स्वरूप

काव्य का व्युत्पत्तिपरक अर्थ*

संस्कृत व्याकरण में 'काव्य' शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'कवि-कर्म' के रूप में व्याख्यायित है।[1] 'कवि' शब्द प्रमुखतः दो धातुओं से व्युत्पन्न माना गया है : **कविः—पु०**; (१) **कवते सर्वं जानाति, सर्वं वर्णयति, सर्वं सर्वतो गच्छति वा। √कव् + इन।** (२) **कवतेश्लोकान्ग्रथते वर्णयति √वा। √कव् + इन्।** (३) **कवति शब्दायते इति √कु (शब्दे) + इ (हलायुध कोश)** अर्थात् 'कवि' शब्द (१) √कव् में इन् प्रत्यय के संयोग से बना है; 'कव्' धातु का प्रयोग सर्वज्ञता एवं वर्णन कौशल के अर्थ में होता है। इस दृष्टि से 'कवि' से तात्पर्य सर्वज्ञ एवं वर्णन-कला में निपुण व्यक्ति से है। (२) √कु + इन् से भी 'कवि' शब्द की व्युत्पत्ति मानी गई है; 'कु' धातु का अर्थ है 'शब्द करना' और इस आधार पर 'कवि' का आशय उस व्यक्ति से है जो शब्द के माध्यम से भाव एवं अर्थ व्यक्त करे।

संस्कृत काव्यशास्त्र में 'काव्य' शब्द के अर्थ का विकास व्याकरण-सम्मत अर्थ के आधार पर ही हुआ। आचार्य अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक लोचन' में 'कवि-कर्म' को ही 'काव्य' की संज्ञा प्रदान की : **कवनीयं काव्यम्।** विद्याधर की 'एकावली टीका' में इसकी व्याख्या इन शब्दों में की गई है : **कवयतीति कविः तस्य कर्म काव्यम्।** 'मम्मट' ने 'कवि' शब्द को √कव् से व्युत्पन्न मानते हुए 'लोकोत्तर वर्णन में निपुण कवि के कर्म को काव्य' कहा : "+ + **काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कविकर्म**"। भट्ट गोपाल के अनुसार 'कवि' शब्द √कु से बना है और रस एवं भावों को शब्द रूप में प्रस्तुत करने वाले कवि का कर्म ही काव्य है : **कौति शब्दायते विमृशति रसभावान् इति कविः तस्य कर्म काव्यम्।**

* **डॉ० प्रतिमा कृष्णबल**

१. **कवेरिदं कार्यभावो वा (ष्यञ्)—मेदिनीकोष।**

निष्कर्षतः संस्कृत व्याकरण एवं काव्यशास्त्र के अनुसार सर्वज्ञ, वर्णन-कला में निपुण तथा रस एवं भावों को शब्दों में अभिव्यक्त करने वाले कवि की कृति ही काव्य है। इसके अतिरिक्त 'कवि' के लिए प्रयुक्त 'स्रष्टा', 'प्रजापति'[1] तथा 'काव्य' के लिए 'सृष्टि' आदि शब्द काव्य-प्रक्रिया की सर्जनात्मकता की ओर इंगित करते हैं।

काव्य-लक्षण*

संस्कृत के आचार्यों ने अपनी विशिष्ट दृष्टि से काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया है। लक्षण दो प्रकार के होते हैं—बहिरंग-निरूपक और अन्तरंग-निरूपक। वहिरंग-निरूपक लक्षण में उस वस्तु के स्वरूप का बोध कराने के लिए वस्तु के बाहरी चिह्नों का वर्णन किया जाता है तथा अन्तरंत-निरूपक लक्षण में वस्तु के भीतरी चिह्नों का वर्णन किया जाता है। काव्य के दोनों प्रकार के लक्षण संस्कृत आलोचना-शास्त्र में मिलते हैं। पहले में काव्य के बाहरी रूप का, उसके अवयवों का, उसके अंगों के संघठन का वर्णन किया जाता है और दूसरे में वह विशेषता दिखाई जाती है जो केवल काव्य में ही प्राप्त होती है, अन्यत्र नहीं। आचार्य मम्मट का काव्य लक्षण प्रथम प्रकार का है और विश्वनाथ तथा जगन्नाथ का काव्य-लक्षण दूसरे प्रकार का। यहाँ दोनों लक्षणों का निर्देश क्रमशः किया जाता है।

बहिरंग लक्षण

आचार्य मम्मट की दृष्टि में काव्य का लक्षण है—

तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

अर्थात् काव्य होता है शब्द और अर्थ—जो दोष से रहित हो, गुण से मण्डित हो तथा वे कहीं पर अलंकार से हीन भी हो सकते हैं।

इस लक्षण में काव्य के अंग तथा उपांगों की विशिष्टता का वर्णन किया गया है। काव्य में शब्द तथा अर्थ का मञ्जुल समन्वय होता है। काव्य कहाँ रहता है? शब्द में या शब्दार्थ-युगल में? इस प्रश्न के उत्तर में आलोचकों ने भिन्न-भिन्न मतों का उपन्यास किया है। कुछ आचार्य काव्य को शब्दमय ही मानते हैं। वे शब्द को ही काव्य में प्रधान मानते हैं, परन्तु अधिकांश आचार्यों की सम्मति में काव्य शब्द तथा अर्थ दोनों के मञ्जुल समन्वय में रहता है। जिस प्रकार शब्द रस के उन्मीलन में सहायता करता है, उसी प्रकार अर्थ भी। शब्द तथा अर्थ—दोनों का समन्वय काव्य में प्रस्तुत रहता है। शब्द तथा अर्थ का नित्य सम्बन्ध रहता है। शब्द के उच्चारण करते ही अर्थ स्वतः सामने चला जाता है और शब्द-अर्थ दोनों मिलाकर काव्यगत आह्लाद के उत्पन्न-करने में समर्थ होते हैं। 'वागर्थ' के नित्य सम्बन्ध की उपमा कालिदास ने 'अर्ध-नारीश्वर' से दी है। जिस प्रकार पार्वती तथा शिव का परस्पर नित्य सम्बन्ध रहता है,

---

*** पं० बलदेव उपाध्याय**

१. **"अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।" (अग्निपुराण)**

उसी प्रकार वाक् और अर्थ भी स्वभाव से ही नित्य संयुक्त रहते हैं। काव्य इन दोनों में समभाव से रहता है। शब्द तथा अर्थ को 'काव्य' शब्द से विभूषित किये जाने के लिए तीन विशिष्टताओं की आवश्यकता होती है—[क] दोष का परिहार, [ख] गुण का सद्भाव, [ग] अलंकार की सर्वदा स्थिति। परन्तु कभी-कभी अलंकार से विरहित होने पर भी शब्द तथा अर्थ को 'काव्य' कहते हैं। इन विशिष्टताओं पर थोड़ा विचार करना आवश्यक है।

[क] दोष का परिहार—काव्य के कतिपय विशिष्ट दोष होते हैं, जैसे श्रुति-कटुता, संस्कारहीनता, भग्नप्रक्रमता आदि। ये यदि शब्द या अर्थ में विद्यमान रहते हैं, तो वहाँ 'काव्य' की सिद्धि नहीं होती। इस पर कतिपय आलोचकों का यह मत है कि दोष का सम्बन्ध काव्य के स्वरूप से न होकर उसके उत्कर्ष तथा अपकर्ष से है। घोड़े की पूँछ यदि किसी कारण से कट जाए या उसकी टाँग टूट जाए, तो क्या घोड़ा इन दोषों के आ जाने से घोड़ा नहीं रहता ? रहता वह घोड़ा ही है, परन्तु उसका मूल्य कम हो जाता है। वह लोगों की नज़र से गिर जाता है। काव्य की भी यही दशा होती है। श्रुतिकटु दोष के होने पर कोई काव्य काव्यत्व से क्या हीन हो जाता है ? क्या उसे काव्य नहीं कह सकते ? वह काव्य अवश्यमेव रहता है, परन्तु वह हो जाता है दुष्ट काव्य । फलतः दोष का सम्बन्ध काव्य के शरीर से नितान्त आवश्यक मानना उचित नहीं है। ऐसी आलो-चना के विरुद्ध यह कहना है कि मम्मट का मत बिल्कुल ठीक है। काव्य के शब्द-अर्थ को दोष से हीन होना नितान्त आवश्यक होता ही है। केवल दोष की सत्ता होने से काव्य त्याज्य नहीं होता। सब दोष दोष नहीं होते। कुछ दोष सामान्य होते हैं और कुछ दोष विशिष्ट होते हैं। रस के दोष ही काव्य में मुख्य होते हैं जिनका परिहार काव्य में सदा ज़रूरी होता है। क्षुद्र दोष काव्य में भले बने रहें यदि रस दोष उसमें नहीं हैं, तो वह काव्य सच्चा काव्य है और उसका अनुशीलन परम श्रेयस्कर होता है। इस प्रकार 'शब्दार्थौ' के लिए मम्मट ने जो 'अदोषौ' [दोष रहित] विशेषण दिया है वह सर्वथा उचित तथा न्याय्य है।

[ख] गुण की सम्पत्ति—काव्य के शब्दार्थ को गुणों से युक्त होना नितान्त आवश्यक है। काव्य में मुख्य तीन गुण होते हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। ये काव्य के [आत्मा] रस के अचल धर्म हैं अर्थात् काव्य में इनकी सत्ता अनिवार्य है। गुणों का सम्बन्ध रस से है और गौण रूप से शब्द तथा अर्थ के साथ भी है। जिन शब्द तथा अर्थ से काव्य सम्पन्न होता है उनमें गुण की स्थिति अनिवार्य होती है। मम्मट का यही कथन है।

इसके ऊपर विश्वनाथ कविराज की यह आपत्ति है कि गुणों के रहने से काव्य की उपादेयता बढ़ती है और न रहने से उपादेयता घटती है। अतः गुण का सम्बन्ध काव्य के स्वरूप से नहीं है। 'यह विद्वान् मनुष्य है' : यहाँ मनुष्य में विद्वत्ता गुण वर्णित है। फलतः गुणों के होने से इस मनुष्य का आदर तथा सत्कार होता है। वह समाज में पूजा जाता है और विद्वत्ता से हीन होने के कारण वह मूर्ख माना जाता है तथा समाज में अपमान का भाजन बनता है। अतः 'विद्वत्ता' की स्थिति मनुष्य में मनुष्यत्व के लिए

आवश्यक नहीं होती, बल्कि उसके आदर-सत्कार में केवल सहायक बनती है। अतः 'सगुणौ' पद को लक्षण के भीतर रखना ठीक नहीं। इसके उत्तर में हमारा कहना है कि यह काव्य का लक्षण कोई वैज्ञानिक लक्षण नहीं है जिसमें ज्यादा मीनमेष किया जाए। यह तो काव्य का सामान्य विवरण है और ऐसे स्थल में गुणों की सम्पत्ति काव्य के लिए आवश्यक होती ही है। बाल्मीकि ने अपनी रामायण में इसी सिद्धान्त को पुष्ट किया है। लवकुश के द्वारा रामायण का गायन सुनकर वाल्मीकि का कथन है—

अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानां च विशेषतः।
चिरनिवृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम् ॥

[बालकाण्ड ४।१७]

अहो, इस गायन में विशेषकर श्लोकों में कितना माधुर्य है। वर्णन इतना रोचक है कि प्राचीन काल में होने वाली घटना भी प्रत्यक्ष के समान दीख पड़ती है। इस पद्य में माधुर्य गुण तथा भाविक अलंकार का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। महाभारत में भी व्यासजी ने श्रव्यत्व, श्रुतिसुखत्व समता तथा माधुर्य को काव्यरचना के लिए आवश्यक गुण माना है। **श्राव्यं श्रुतिसुखं चैव पावनं शीलवर्धनम्**—यह काव्य का व्यासजी के द्वारा निर्दिष्ट लक्षण है। इनकी समीक्षा से हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि काव्य में गुणों का निवास बहुत ही आवश्यक होता है।

[ग] अलंकार की निवार्यता—काव्यगत शब्द तथा अर्थ को सर्वदा अलंकार से युक्त होना चाहिए, परन्तु स्थिति-विशेष में वह निवार्य भी हो सकता है। अलंकार की अनिवार्यता मम्मट नहीं मानते। वह स्थिति-विशेष कौन-सी है? रस की दशा-काव्य में रस की स्थिति होने पर अलंकार की स्थिति आवश्यक नहीं होती। काव्य में चमत्कार होना ही चाहिए। यह दो प्रकार से होता है—अलंकार के द्वारा अथवा रस के द्वारा। अतः रस के द्वारा चमत्कार उत्पन्न होने पर अलंकार की आवश्यकता काव्य में नहीं होती। इस प्रकार मम्मट की दृष्टि में अलंकार की अपेक्षा गुण की सत्ता विशेष आवश्यक होती है। काव्य में अलंकार से विहीन शब्दार्थ हो सकते हैं, परन्तु शब्दार्थ गुण-विहीन नहीं हो सकते।

एक उदाहरण द्वारा इस तथ्य को समझना चाहिए। संस्कृत का एक कवि अपनी दशा का वर्णन यों कर रहा है—

हारो नारोपिता कण्ठे मया विश्लेष-भीरुणा।
इदानीमावयोर्मध्ये सरित्-सागर-भूधराः ॥

किसी सुन्दरी के विषम वियोग से सन्तप्त नायक अपनी पूर्वावस्था के साथ वर्तमान हीन दशा की तुलना कर रहा है—मैंने विलगता के डर से सुन्दरी के कण्ठ में हार नहीं पहनाया, क्योंकि हम दोनों के बीच में हार के आने से आश्लेष—आलिंगन ठीक ढंग से नहीं जमता। यह तो हुई संयोग की सुहावनी कल्पना। परन्तु आज! आज तो उसके और हमारे बीच में नदियाँ, समुद्र तथा पहाड़ आकर खड़े हो गये हैं। घनानन्द के शब्दों में नायक कहना चाहता है—

तब हार पहार से लागत है
अब बीच में आनि पहार अड़े ।।

इस पद्य में अलंकार का चमत्कार बिल्कुल ही नहीं है। यदि कुछ है, तो केवल 'हारो नारो' में यमक की एक फीकी झलक है। इस पद्य का प्रधान चमत्कार है विप्रलम्भ शृंगार के कारण। ऐसी दशा में यहाँ रस की ही मुख्य स्थिति है। फलतः अलंकार से हीन होने पर भी यहाँ चमत्कार है और भरपूर चमत्कार है। ऐसी ही स्थिति को लक्ष्य कर मम्मट ने काव्य में अलंकार को अनिवार्य नहीं माना है।

इस प्रकार मम्मट का यह काव्यलक्षण काव्य का वर्णनात्मक लक्षण कहा जा सकता है क्योंकि इसमें काव्य के अंगों की विलक्षणता का वर्णन है। यह आदर्श काव्य का संकेत करता है। इस तरह काव्य में ऐसे शब्द-अर्थ होने चाहिए जिसमें दोष का परिहार हो और गुणों की सम्पत्ति रहे। अलंकार भी अनिवार्य नहीं होता। साधारण रीति से अलंकार भी वर्तमान रहता है, परन्तु अलंकार से रहित होने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती।

अन्तरंग लक्षण

अब काव्य के अन्तरंग लक्षण पर विचार किया जाता है। विश्वनाथ कविराज ने काव्य का एक बहुत प्रख्यात लक्षण दिया है—**'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'**। वह वाक्य, जिसकी आत्मा रस है, काव्य कहलाता है अर्थात् अलौकिक आनन्द को उत्पन्न करने वाले वाक्य को काव्य की संज्ञा प्रदान की जाती है। काव्य की आत्मा रस ही है और इस आत्मभूत रस से सम्पन्न जो वाक्य होता है वही काव्य है। यहां 'रस' शब्द विस्तृत अर्थ में समझा जाता है। अर्थात् भाव, रसाभास तथा भावाभास आदि रस की समीपवर्ती भावनाएँ भी यहाँ रस के अन्तर्गत समझी जाती हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ को यह लक्षण संकीर्ण प्रतीत होता है। उनका कथन है कि यदि इस लक्षण को ही हम आग्रहपूर्वक काव्य का स्वरूपाधायक मानेंगे, तो बड़े-बड़े महाकवि भी अपने काव्य के लिए व्याकुल हो उठेंगे (महाकवीनामाकुलीभाव-प्रसंगात) अर्थात् महाकवियों के काव्यों में भी काव्यत्व नहीं रहेगा। क्यों? महाकवियों ने अपने महाकाव्यों में समुद्र, नदी, पर्वत आदि का वर्णन प्रस्तुत किया है। इन वर्णनों में कहीं भी रस का साक्षात् सम्बन्ध नहीं रहता। फलतः इन्हें अकाव्य कहना पड़ेगा। इसलिए रसात्मक वाक्य को ही काव्य मानना काव्य के क्षेत्र को संकुचित करना है। संस्कृत के अलंकार-प्रधान काव्यों में या पद्यों में रस की सत्ता नहीं रहती तो क्या ऐसे पद्यों में हम काव्यत्व नहीं मानें? इसलिए रस के ही लिए काव्य में आग्रह दिखलाना न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता। अतः पण्डितराज ने अपने काव्यलक्षण में न रस की ओर संकेत किया है, न गुण की ओर। वस्तुतः उन्होंने अर्थ की रमणीयता पर ही सबसे अधिक बल दिया है। उनका प्रख्यात काव्य-लक्षण है—

रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्

अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य होता है। काव्य के शब्द तथा

अर्थ शरीर होते हैं। काव्य में शब्दों के द्वारा प्रतिपादित अर्थ ऐसा हो जिसमें चित्त रमण करे, आनन्द उठाए। 'रमणीयता' का ही पर्यायवाची शब्द है—चमत्कार। काव्य का अर्थ चमत्कारी अवश्य होना चाहिए। यहाँ 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ में करके व्यापक अर्थ में करना चाहिए। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जो रमणीय रचना हृदय को प्रभावित कर उसमें अलौकिक आनन्द का संचार करती है वह 'काव्य' कहलाती है।

(ग) काव्य हेतु *

करुणा, भय, प्रीति, आश्चर्य आदि भावों के उत्पादक किसी व्यक्ति, पदार्थ अथवा घटना को देखकर अथवा उसके विषय में सुनकर हममें से बहुत थोड़े ही व्यक्ति होंगे जिन पर नाम-मात्र का प्रभाव पड़ता हो, अन्यथा अधिकतर व्यक्ति इनसे—थोड़ी देर के लिए सही—अवश्य उत्तेजित, उद्वेलित अथवा विलोड़ित हो उठते हैं। ये भाव और उनके आलम्बन हमारे मन पर अंकित हो जाते हैं और समय-समय पर, कभी तो वर्षों उपरान्त, पुनः जागृत होते रहते हैं और आवश्यकतानुसार चर्चा का विषय भी बन जाते हैं। यह चर्चा 'लोकवार्ता' कहलाती है। किन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा एक पग और आगे बढ़ जाते हैं। किसी भाव के उत्पन्न होते ही अथवा उसके पुनःजागृत होने पर उनका मन और वाणी एक सूत्र में बँध जाते हैं—मनोवेग कल्पना का समावेश पाकर सुन्दर वाणी में अभिव्यक्त होने लगते हैं और हाथ भी प्रायः लेखनी के माध्यम से इस अभिव्यक्ति में साथ देने लगता है। यह अभिव्यक्ति लोकवार्ता न कही जाकर 'काव्य' कहलाती है। लोकवार्ता का कथयिता सामान्य व्यक्ति कहलाता है और 'काव्य' का रचयिता कवि।

स्पष्ट है कि किसी भावोद्‌व्यंजक पदार्थ, व्यक्ति अथवा घटना से प्रभावित होने की क्षमता तो सामान्य व्यक्ति और कवि दोनों में विद्यमान रहती है, किन्तु उन भावों को काव्य के रूप में बाह्य आकार दे देने की क्षमता कवि में ही होती है, सामान्य व्यक्ति इससे वंचित होता है। हाँ, किसी काव्य-कृति से भावन-प्रक्रिया द्वारा तरंगित हो उठने की क्षमता सामान्य व्यक्ति में भी होती है, तत्क्षण के लिए हम इसे सहृदय कहते हैं। राजशेखर ने इन दोनों क्षमताओं को 'प्रतिभा' नाम दिया है—कवि की प्रतिभा को उन्होंने कारयित्री कहा है और सहृदय की प्रतिभा को भावयित्री।[१] स्पष्टतः कवि की कारयित्री प्रतिभा भावयित्री भी होती है, पर प्रधानता के आधार पर इसे उन्होंने कारयित्री नाम दिया है। सफल काव्य-निर्मिति के लिए कवि-प्रतिभा एक अनिवार्य प्रेरक तत्त्व है। यही प्रेरक तत्त्व काव्य-हेतु कहलाता है। काव्य-शास्त्रियों ने प्रतिभा के अतिरिक्त अन्य हेतुओं का भी उल्लेख किया है।

*** डॉ० सत्यदेव चौधरी**

१. कारयित्री भावयित्र्याविती मे प्रतिभाभिदं।

—का० मी० ४ अ०, पृ० ३६।

विभिन्न काव्यहेतु

संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों में से, जिन्होंने काव्य-हेतुओं का निरूपण किया है, दण्डी, वामन, रुद्रट, कुन्तक और मम्मट के नाम विशेषतः उल्लेख्य हैं। दण्डी ने तीन काव्य-हेतु माने हैं—**नैसर्गिकी प्रतिभा, निर्मल शास्त्रज्ञान** और **अमन्द अभियोग** (अभ्यास)। रुद्रट तथा कुन्तक ने भी इनकी संख्या तीन गिनाई है—**शक्ति, व्युत्पत्ति** और **अभ्यास**।[1] वामन ने भी तीन प्रकार के काव्य-हेतु माने है—**लोक** (लोकव्यवहार-ज्ञान), **विद्या** (विभिन्न शास्त्रज्ञान) और **प्रकीर्ण**। 'प्रकीर्ण' के अन्तर्गत इन्होंने छह् हेतुओं को सम्मिलित किया है—**लक्ष्यज्ञत्व** (अन्य काव्यों का अनुशीलन), **अभियोग** (अभ्यास), **वृद्धसेवा** (गुरुसेवा द्वार शिक्षा प्राप्ति), **अवेक्षण** (उपयुक्त शब्दों का न्यास और अनुपयुक्त शब्दों का अपसारण), प्रतिभान (प्रतिभा) और **अवधान** (चित्त की एकाग्रता)।[2]

सारग्राही मम्मट के सम्मुख उपर्युक्त सभी काव्यहेतु थे। उन्होंने स्वसम्मत तीन काव्यहेतुओं में उन सबको अन्तर्भूत कर दिया है—

शक्तिर्निपुणता लोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षया भ्यास इति हेतुस्तदुदभवे॥ का० प्र० १,३।

अर्थात् (१) **शक्ति**, (२) लोक, काव्य, काव्यशास्त्र आदि के अवेक्षण द्वारा प्राप्त **निपुणता** तथा (३) काव्य के मर्मज्ञ व्यक्तियों से प्राप्त शिक्षा के द्वारा अभ्यास (इन तीनों का समन्वित रूप) काव्य रचना का हेतु है।

× × ×

मम्मट के उक्त कथन में पूर्वाचार्यों द्वारा प्रस्तुत अधिकतर काव्य-हेतुओं का स्पष्टतः अथवा प्रकारान्तर से स्थान मिल गया है। मम्मट-प्रस्तुत शक्ति दण्डी और वामन द्वारा सम्मत प्रतिभा का अमर नाम है। मम्मट की 'निपुणता' के अन्तर्गत दण्डि-सम्मत निर्मल शास्त्रज्ञान, रुद्रट-सम्मत व्युत्पत्ति और वामन-सम्मत लोक, विद्या, लक्ष्यज्ञत्व और अवेक्षण का समावेश हो जाता है, और मम्मट-स्वीकृत 'अभ्यास' के अन्तर्गत दण्डी तथा वामन द्वारा मान्य अभियोग का, तथा वामन द्वारा मान्य वृद्धसेवा का भी। वामन-प्रस्तुत 'अवधान' भी अपनी विशिष्ट महत्ता रखता है, पर यह काव्य का हेतु न होकर निपुणता और अभ्यास का हेतु है। अवधान साधन है और ये दोनों इसके साध्य हैं। अतः इसे स्वतन्त्र हेतु न मानकर इसका अन्तर्भाव निपुणता और अभ्यास दोनों में किया जाना सहज-सम्भव है। अस्तु!

---

१. **नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।**
अमन्दश्चाऽभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः॥ का० आ० १,१०३।

२. (क) **तस्यासारनिरासात् सारग्रहणाच्च० चारुण : करणे।**
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः॥
—का० अ० (रु०) १·१४।

(ख) **वक्रोक्तिजीवित १,२४ (वृत्ति)**, पृष्ठ १०१।

प्रतिभा

लक्षण—भामह से लेकर जगन्नाथ तक प्रायः सभी प्रमुख कवियों ने प्रतिभा का लक्षण प्रस्तुत किया है। इनमें से रुद्रट, भट्टतौत और जगन्नाथ ने काव्य के वस्तुविषय को ध्यान में रखा है और कुन्तक तथा मम्मट ने प्रतिभोत्पत्ति के कारण को। रुद्रट के कथन का अभिप्राय है—'जिसके बल पर कवि अपने एकाग्र मन में विस्फुरित विभिन्न अभिधेयों (काव्य-विषयों) को अनुकूल शब्दों में अनायास अभिव्यक्त करता जाता है, उसे शक्ति अर्थात् प्रतिभा कहते हैं।' इसी से मिलता-जुलता लक्षण जगन्नाथ ने प्रस्तुत किया है—**सा** (प्रतिभा) **काव्यघटनाऽनुकूल-शब्दार्थोपस्थितिः।**[1] रुद्रट और जगन्नाथ की परिभाषाओं में काव्य के बाह्य (शब्द) और आंतरिक (अर्थ) दोनों रूपों की चर्चा है, पर भट्टतौत के लक्षण में केवल आंतरिक रूप की चर्चा आकर्षक और ललित शब्दावली में की गई है—नए-नए (अर्थों) का स्वतः उद्घाटन करने वाली प्रज्ञा प्रतिभा कहाती है—**प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।**[2] इन सबके विपरीत कुन्तक और मम्मट का लक्ष्य प्रतिभा के कारण पर विशिष्ट प्रकाश डालना है—'पूर्व जन्म तथा इस जन्म के संस्कार के परिपाक से प्रौढ़ता को प्राप्त विशिष्ट कवित्व-शक्ति-प्रतिभा कहलाती है।[3] (कुन्तक); कवित्व-निर्माण के बीज रूप विशिष्ट संस्कार को शक्ति कहते हैं।'[4] (मम्मट)

प्रतिभा की अनिवार्यता एवं सर्वोत्कृष्टता—सर्वप्रथम भामह ने प्रतिभा की अनिवार्यता घोषित करते हुए इसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है—उनके कथनानुसार शास्त्र पढ़ लेना और बात है, और काव्य का निर्माण करना और बात। शास्त्र-पठन तो गुरूपदेश द्वारा जड़बुद्धि के लिए भी सम्भव है, पर काव्य-निर्माण के लिए प्रतिभा अपेक्षित है।[5] भामह के उपरान्त वामन ने प्रतिभा को 'कवित्व का बीज'[6] मानकर प्रकारान्तर से उसकी महत्ता दिखाई है।

× × ×

विभिन्न काव्यहेतुओं के निर्दिष्ट हो जाने के उपरान्त आचार्यों के सम्मुख इन

---

१. **र० ग० प्रथम अध्याय**, पृष्ठ ९।

२. **सा० द० (काणे) नोट्स**, पृष्ठ ५।

३. **प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाकप्रौढ़ा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः।**
—व० जी० १।२९ (वृत्ति)।

४. **शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः।**
—का० प्र० १।३ (वृत्ति)।

५. **गुरुपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः॥**
—का० अ० (भा०) १।५।

६. **कवित्वबीजं प्रतिभानम्।**
—का० सू० वृ० १, ३, १६।

प्रश्नों का उपस्थित होना स्वाभाविक था—क्या सभी काव्यहेतु आवश्यक हैं ? यदि हाँ, तो कौन-सा हेतु सर्वोत्कृष्ट है ? और यदि नहीं, तो कौन-सा हेतु अनिवार्य है ? इन विकल्पात्मक प्रश्नों के उत्तर में प्रतिभा का ही पलड़ा भारी रहा, इसे सर्वोत्कृष्ट भी स्वीकार किया गया और अनिवार्य भी। शेष दो स्थूल हेतुओं—व्युत्पत्ति (निपुणता) और अभ्यास को गौण स्थान भी मिला और ये प्रतिभा के परिपोषक और परिवर्द्धक के हेतु रूप में भी स्वीकृत हुए। इस सम्बन्ध में दण्डी, आनन्दवर्द्धन, मम्मट, राजशेखर, हेमचन्द्र, वाग्भट प्रथम, वाग्भट द्वितीय, जयदेव पीयूषवर्ष और जगन्नाथ के कथन उल्लेख्य हैं।

दण्डी के अनुसार प्रतिभा निस्सन्देह एक आवश्यक काव्य-हेतु है, पर इसके अभाव में भी श्रुत (शास्त्र-ज्ञान) और यत्न (अभ्यास) के द्वारा उपासित सरस्वती किसी-किसी पर अनुग्रह कर ही देती है।[1] अलंकारवादी दण्डी प्रतिभा जैसे आंतरिक तथा सूक्ष्म हेतु के अभाव में श्रुत और यत्न जैसे वाह्य तथा स्थूल हेतुओं को यदि कुछ सीमा तक ग्राह्य समझते हैं और वह भी सम्भवतः चित्र, अनुप्रास यमक, श्लेष, अलंकारों की द्योतक काव्य-रचना में, तो कुछ आश्चर्य नहीं है; पर फिर भी इन दोनों हेतुओं को इन्हें गौण स्थान ही देना अभीष्ट है, यह असन्दिग्ध है।

पर आनन्दवर्द्धन शक्ति (प्रतिभा) को अनिवार्य हेतु के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके कथनानुसार कवि का अशक्तिजन्य दोष तो तुरन्त और अनायास ही स्पष्ट रूप से दिखाई दे जाता है, पर कवि के अव्युत्पत्तिजन्य दोष को उसकी शक्ति आच्छादित कर जाती है।[2] दूसरे शब्दों में, व्युत्पत्ति में अशक्तिजन्य दोष को आच्छादित करने की क्षमता नहीं है। इस कथन से आनन्दवर्द्धन को निस्सन्देह यह कहना अभीष्ट है कि शक्ति अनिवार्य हेतु है, पर व्युत्पत्ति अनिवार्य न होते हुए भी अभिवांछित हेतु अवश्य है। इधर मम्मट की धारणा भी आनन्दवर्द्धन के प्रतिकूल नहीं है। प्रतिभा को कवित्व का बीज कहते हुए वे प्रकारान्तर से इसे अनिवार्य हेतु मानते हैं। किन्तु साथ ही वे निपुणता (व्युत्पत्ति) और अभ्यास को भी काव्य के आवश्यक हेतु मानते हैं। इनके विवेचन की विशेषता यह है कि इन्होंने इन तीनों के समन्वित रूप को ही काव्य का हेतु माना है, न कि तीनों को पृथक्-पृथक् : **हेतुर्न तु हेतवः**।[3]

मम्मट के उपरान्त काव्यहेतु-विषयक विवेचन-धारा की दिशा बदल गई। वाग्भट प्रथम ने केवल प्रतिभा को ही काव्य का हेतु स्वीकृत किया: व्युत्पत्ति को इन्होंने

---

१. **न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।**
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥
—का० आ० १, १०४।

२. **अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।**
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झगित्येवावभासते॥
—ध्वन्या० ३।६ (वृत्ति)

३. **प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।**
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसंकथा॥ वा० अ० १, ६।

काव्य का आभूषण माना और अभ्यास को सामान्य रूप से एक ग्राह्य तत्त्व, न कि अनिवार्य अथवा आवश्यक हेतु। संस्कृत साहित्यशास्त्र में हेमचन्द्र ही सम्भवतः प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने उक्त तीनों हेतुओं में से केवल प्रतिभा को, जो कि व्युत्पत्ति और अभ्यास के द्वारा परिष्कृत होती है, काव्य का हेतु माना—**प्रतिभाऽस्य हेतुः। व्युत्पत्त्य-भ्यासाभ्यां संस्कार्या।** (का०अनु०, पृष्ठ ६)। उनके कथन का अभिप्राय यह है कि प्रतिभा काव्य का हेतु है और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास प्रतिभा के संस्कारक अथवा परिष्कारक हेतु हैं, न कि काव्य के।[1] हेमचन्द्र के इस कथन को वाग्भट द्वितीय ने ज्यों-का-त्यों अपना लिया,[2] जयदेव पीयूषवर्ष ने एक उदाहरण द्वारा इसका स्पष्टीकरण और अनुमोदन किया—जिस प्रकार लता की उत्पत्ति का हेतु मिट्टी और जल से युक्त बीज है, उसी प्रकार काव्य-रचना का हेतु व्युत्पत्ति और अभ्यास से युक्त प्रतिभा है।[3]

संस्कृत-साहित्यशास्त्र के अंतिम महान् आचार्य जगन्नाथ ने भी काव्य का कारण केवल प्रतिभा को ही माना है। हेमचन्द्र के समान व्युत्पत्ति और अभ्यास को उन्होंने प्रतिभा का कारण स्वीकृत किया है, न कि काव्य का। पर उनके विचार में व्युत्पत्ति और अभ्यास किन्हीं परिस्थितियों में प्रतिभा के कारण नहीं भी होते। इस अवस्था में अदृष्ट को अर्थात् देवता अथवा महापुरुषादि द्वारा प्रदत्त वरदान-जन्य प्रसाद को प्रतिभा का कारण मानना चाहिए।[4]

विवेचन

हमारे विचार में राजशेखर, हेमचन्द्र और उनके अनुयायियों के समान केवल प्रतिभा को ही काव्य का हेतु स्वीकृत करना चाहिए। क्योंकि एक ओर उसके सद्भाव

---

१. इस कथन के लिए हेमचन्द्र को शायद प्रतिभा के रुद्रट सम्मत उत्पाद्या (अर्थात् व्युत्पत्तिजन्य) नामक एक भेद से अथवा प्रतिभा की सर्वोत्कृष्टता सूचक राजशेखर-प्रस्तुत धारणा से प्रेरणा मिली हो :

(क) प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति।
—का० अ० (रु०) १, १६।

(ख) सा (शक्तिः) केवलं काव्ये हेतुः इति यायावरीयः।
विप्रसृतिश्च सा प्रतिभाव्युत्पत्तिभ्याम्।—का० मी०, अ० ४, पृ० २६।

२. का० अ० (वा०), पृष्ठ २।

३. प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धबीजोपत्तिलतामिव॥ —च० आ० १।६।

४. तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा च। × × × तस्याश्च हेतुः क्वचिद्देवता-पुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम्। क्वचिच्च विलक्षण-व्युत्पत्तिकाव्यकरणा-भ्यासौ। न तु त्रयमेव।
—र० गं० ३ म० आ०, पृष्ठ ६।

में व्युत्पत्ति (अर्थात् काव्य, काव्यशास्त्र आदि के अध्ययन) के न होने पर भी सुन्दर ग्राम्य-गीतों की सृष्टि देखी जाती है; और दूसरी ओर इसके अभाव में तुक्कण कवियों की तुकबन्दियाँ हास्यास्पद बन जाती हैं। प्रतिभा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मानना चाहिए कि यह पूर्वजन्म-जन्मान्तरों में संचित संस्कारों का अथवा पैतृक संस्कारों का ही सुपरिणाम है। इस विषय में कुन्तक से सहमत होते हुए भी हम इस जन्म के संस्कारों को प्रतिभा का उत्पादक कारण नहीं मानते, पोषक कारण मानते हैं। इस सम्बन्ध में जगन्नाथ की इस मान्यता पर आधुनिक विचारधारा में परिपुष्ट कोई भी व्यक्ति सहज रूप से विश्वास करने में अपने-आपको असमर्थ पाएगा कि (पूर्वजन्म के अथवा पैतृक संस्कारों के बिना) अदृष्ट अर्थात् देवता अथवा महापुरुष आदि के प्रसाद से प्रतिभा की उत्पत्ति होती है।

इसी प्रसंग में का अन्य शंका का समाधान कर लेना भी समुचित है—क्या सभी कवियों की प्रतिभा एक-सी होती है? इसका स्पष्ट उत्तर है कि नहीं, अन्यथा सभी कवियों और उनके काव्यों में समानता होने के कारण न तो कवियों में तारतम्य के आधार पर कोई विशिष्टता रहती; और न काव्य के उत्तम, मध्यम, अधम आदि भेद स्वीकृत किए जाते। इस सम्बन्ध में कुन्तक की धारणा उल्लेखनीय है—प्रतिभासम्पन्न कवि और उसकी प्रतिभा में अभेद होने के कारण सुकुमार-स्वभाव-युक्त कवियों की प्रतिभा सहजा (सुकुमार) होती है; विचित्र स्वभाव-युक्त कवियों की विचित्र और उभयस्वभाव-युक्त कवियों की प्रतिभा मिश्रित शोभाशालिनी होती है। (व० जी० १.२४ : वृत्ति)

व्युत्पत्ति अर्थात् विभिन्न शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन अथवा लोकव्यवहार द्वारा सहज प्रतिभा का परिपोष होता है। व्युत्पत्ति से वह परिष्कृत, प्रखर, चमत्कृत, शक्ति-सम्पन्न, मर्मस्पर्शिनी और सारग्राहिणी हो उठती है, पर इससे प्रतिभा के अभाव की पूर्ति नहीं हो सकती। अन्यथा सभी काव्यमर्मज्ञ एवं काव्यशास्त्रज्ञ और लोक-व्यवहार-पटु व्यक्ति कविता करने की क्षमता रखते। इसी प्रकार धननाशादि-जन्य सांसारिक संघात अथवा पति-पत्नी-पुत्रादि-विरहजन्य मानसिक आघात के कारण भी कभी-कभी सुप्त प्रतिभा जागृत हो उठती है, अतः इन संघातों अथवा आघातों को भी प्रतिभा का उत्पादक कारण न मानकर प्रेरक कारण मानना चाहिए; अन्यथा हानि उठाए हुए व्यापारी, हारे हुए जुआरी, पुत्रवियुक्त माता-पिता, विधवाएं और विधुर—ये सभी के सभी कविकर्म में तत्पर दीखने चाहिएं। वास्तव में प्रतिभा सहजा है, उत्पाद्या नहीं है। अतः रुद्रट-निरूपित उत्पाद्या (व्युत्पत्तिजन्या) नामक प्रतिभा-भेद से हम तभी सहमत हैं, जब इसका अर्थ व्युत्पत्ति से 'जन्या' न होकर 'पोष्या' किया जाए। हेमचन्द्र की धारणा निस्सन्देह मान्य है, जिसके अनुसार व्युत्पत्ति द्वारा पूर्व विद्यमान प्रतिभा का संस्कार होता है, पर उसका उत्पादन नहीं होता।

शेष रहा अभ्यास का प्रश्न। राजशेखर के कथनानुसार आचार्य मंगल ने इसी को काव्य का प्रमुख हेतु माना है[1], पर न तो यह काव्य का अनिवार्य हेतु है, न प्रमुख हेतु

१. **'अभ्यासः इति मंगलः।'**—का० मी०, पृष्ठ २६

ग्रौर न ग्रावश्यक हेतु; क्योंकि ऐसे भी कवि संसार में हो चुके हैं, जिनकी प्रथम रचना ही उनकी ग्रमर कृति है। उदाहरणार्थ वाल्मीकि का 'निषाद प्रतिष्ठां त्वम्...' यह प्रथम श्लोक ही इस तथ्य का प्रमाण है। हाँ, ग्रभ्यास से कवि-प्रतिभा में ग्रौर उसके द्वारा तत्प्रणीत काव्य में परिष्कार ग्रवश्य ग्रा जाता है। ग्रतः प्रतिभा के परिष्कार के लिए इस तत्व का ग्रहण नितांत ग्रावश्यक है।

निष्कर्ष यह कि काव्य के मूलप्रेरक तत्त्व को काव्यहेतु कहते हैं। काव्य का ग्रनिवार्य एवं एकमात्र हेतु है प्रतिभा, ग्रौर व्युत्पत्ति तथा ग्रभ्यास 'प्रतिभा' के परिष्कारक, पोषक एवं संवर्धक हेतु हैं।

इस सम्बन्ध में ग्रन्तिम विचारणीय प्रश्न है कि काव्य-हेतु ग्रौर काव्य-प्रयोजन में क्या ग्रन्तर है ? दूसरे शब्दों में, यश, धनप्राप्ति ग्रादि काव्य-प्रयोजनों को भी क्या काव्य का मूल प्रेरक तत्त्व मान सकते हैं ? उत्तर स्पष्ट है—नहीं। क्योंकि काव्यहेतु काव्य-निर्माण की पूर्ववर्ती स्थिति है—वह इस निर्मिति का कारण है, किंतु उधर काव्य प्रयोजन काव्य-निर्माण की परवर्ती स्थिति है—इसकी उपलब्धि है। ग्रतः काव्य-प्रयोजन को काव्य का मूल प्रेरक तत्त्व स्वीकार नहीं करना चाहिए, यद्यपि इनसे कवि प्रतिभा को यदा-कदा, किन्हीं विशेष स्थितियों में तथा वह भी किसी सीमा तक, बाह्य उत्तेजन एवं प्रोत्साहन ग्रवश्य मिलता रहता है।

(ध) काव्य-प्रयोजन*

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य-प्रयोजन की चर्चा कवि ग्रौर पाठक दोनों को दृष्टि में रखकर की गई है। काव्य-प्रयोजन काव्यशास्त्र का एक ग्रत्यंत महत्त्वपूर्ण विषय है। काव्य-त्रिकोण के तीन बिन्दुग्रों—कवि, काव्य ग्रौर प्रमाता—के पारस्परिक संबंध के रहस्य का उद्घाटन काव्य-प्रयोजन को उसके विस्तृत ग्रायामों में समझने से ही संभव है। कवि के संदर्भ में ग्रर्थ ग्रौर यश जैसे स्थूल फलों की सिद्धि से लेकर ग्रात्मसाक्षात्कार एवं ग्रात्म-लब्धि जैसे उच्चतम प्रयोजन तक, काव्य के संदर्भ में उसकी उपादेयता एवं समाज-सापेक्षता तथा प्रमाता के संदर्भ में काव्यास्वाद से लेकर साधारणीकरण तक की सभी गुत्थियों का संबंध किसी न किसी रूप में इसी प्रश्न से जुड़ा है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में इस प्रश्न पर बड़े विस्तार से विचार हुग्रा है। विचार-विवेचन की विकासशील परम्परा को दृष्टि में रखकर देखें तो सर्वप्रथम भरत का ग्रभिमत विचारणीय प्रतीत होता है। उनके मत में 'धर्म ग्रौर यश का प्रसार, ग्रायु-वर्द्धन, हित-साधन, बुद्धि-विकास तथा लोकोपदेश'[1]—काव्य के प्रमुख प्रयोजन हैं।

---

* डॉ० प्रतिमा कृष्णबल

१. 'धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥'
—'नाट्यशास्त्र'।

भामह का मत भरत की अपेक्षा कहीं अधिक सारग्राही एवं संतुलित है। उनके शब्दों में 'सत्काव्य के सेवन से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि, कला-नैपुण्य, कीर्त्ति एवं प्रीति लाभ होता है।'[1] काव्य के सेवन से इनका तात्पर्य कवि-पक्ष में 'काव्य-रचना' तथा सहृदय-पक्ष में 'काव्यास्वाद' से है।

वामन ने काव्य-प्रयोजन संबंधी प्रश्न को उठाते हुए कवि और सहृदय दोनों की दृष्टि से काव्य के केवल प्रमुख प्रयोजनों की ही चर्चा की है: कीर्ति और प्रीति (आनन्द)—'सत्काव्य का दृष्ट प्रयोजन प्रीति और अदृष्ट प्रयोजन कीर्ति है।'[2] वामन द्वारा उल्लिखित उक्त प्रयोजनों में से कीर्ति केवल कवि से सम्बद्ध है और प्रीति (आनन्द) कवि और प्रमाता दोनों से।

रुद्रट ने काव्य-प्रयोजन का निर्वचन अत्यंत विस्तार से किया है। उनके अभिमत के विस्तार में न जाकर संक्षेप में उनके विचारों को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है: काव्य-रचना द्वारा यश, अर्थ, विपत्ति-विनाश, असाधारण सुख, समस्त अभीष्ट कामनाओं तथा परम पुरुषार्थों की सिद्धि आदि फल प्राप्त होते हैं।[3] कवि के अपने यश के अतिरिक्त रुद्रट ने काव्यनिबद्ध नायक के यश-प्रसार की भी चर्चा है। ऐसा उन्होंने कदाचित् राजाश्रित कवि की दृष्टि से किया है जिसका लौकिक लाभ वस्तुतः आश्रयदाता के चरित्र को प्रसिद्धि प्रदान करने पर ही अवलम्बित है। इस प्रकार यह प्रयोजन अर्थ-लाभ से भिन्न नहीं है। इस स्थल पर रुद्रट ने समस्त काव्य-प्रयोजनों का निरूपण केवल कवि को ध्यान में रखकर ही किया है। रसिक प्रमाता की चर्चा उन्होंने अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार' के बारहवें अध्याय की प्रथम कारिका में की है: **ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चर्वर्गे**। अर्थात् काव्य द्वारा रसिकों को चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) से अवगत कराया जाता है।

कुन्तक ने यद्यपि चतुर्वर्ग फल-प्राप्ति और व्यवहार-औचित्य के परिज्ञान का उल्लेख भी परम्परा-पालन के लिए काव्य-प्रयोजन के रूप में किया है[4] तथापि निष्कर्ष रूप में अपना अभिमत प्रस्तुत करते हुए कहा है कि 'काव्यामृत रस मर्मज्ञों (सहृदयों) में चतुर्वर्ग-फलास्वाद से भी बढ़कर अन्तश्चमत्कार उत्पन्न करता है।'

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्यतद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥ १,५।

---

१. **'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।**
करोति कीर्ति प्रीति च साधुकाव्यनिवेषणम्॥'
—'काव्यालंकार'।

२. **'काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्।'**
—'काव्यालंकारसूत्र', १, १, ५।

३. **देखिए—रुद्रटकृत 'काव्यालंकार', प्रथम अध्याय, कारिका सं० ४ से १३ तक।**

४. **देखिए—'वक्रोक्तिजीवित', १, ३ और ४।**

मम्मट ने अपने ग्रंथ 'काव्य-प्रकाश' में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की समस्त काव्य-विषयक धारणाओं का सार ग्रहण करते हुए 'यश एवं अर्थ की प्राप्ति, व्यवहार-ज्ञान, शिवेतरक्षति, तात्कालिक आनन्द तथा कान्तासम्मित उपदेश'[1] को काव्य-प्रयोजनों में परिगणित किया है। यहाँ मम्मट ने काव्य के केवल स्थूल फलों की ही चर्चा की है—'शिवेतरक्षति' जैसे शब्द का प्रयोग भी उन्होंने सर्वथा स्थूल—रोगादि से मुक्ति के अर्थ में ही किया है। वृत्ति-भाग में अवश्य उन्होंने **सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दनम्** कहकर काव्यास्वाद से उद्भूत वेद्यान्तर-स्पर्शशून्य आनन्द को ही काव्य का मूलभूत प्रयोजन घोषित किया है।

कविराज विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' में भी काव्य-प्रयोजन की प्रासंगिक चर्चा इस रूप में की गई है : **चतुर्वर्गफलप्राप्ति सुखादल्पफियामपि** अर्थात् काव्य के द्वारा तो अल्पबुद्धि भी चतुर्वर्ग के फल की प्राप्ति कर लेते हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्रियों के उपर्युक्त अभिमतों में तात्त्विक वैभिन्य नहीं है। प्रायः सभी आचार्यों ने एक स्वर से काव्य के आनन्दमूलक प्रयोजन की चर्चा की है। भरत और वामन को छोड़कर अन्य सभी आचार्यों ने किसी न किसी रूप में चतुर्वर्ग-फलप्राप्ति अथवा पुरुषार्थ-सिद्धि का उल्लेख भी किया है जिसमें धर्म और मोक्ष तो निश्चय ही परलोक-साधक तत्त्व हैं तथा अर्थ और काम—नितान्त लौकिक प्रयोजन हैं। इन दो लौकिक प्रयोजनों के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यावहारिक लाभ की वस्तुओं की ओर भी कुछ आचार्यों ने संकेत किया है जिनमें भरत द्वारा प्रतिपादित आयु-विवर्द्धन तथा रुद्रट द्वारा प्रतिपादित विपत्ति-नाश जैसी निराधार एवं अन्धविश्वासपूर्ण धारणाएँ भी हैं : आधुनिक अध्येता निश्चय ही इन पर विश्वास नहीं कर सकता। मम्मट द्वारा निरूपित 'शिवेतरक्षतये' का उन्हीं के द्वारा व्याख्यायित अभीष्ट अर्थ भी उतना ही हास्यास्पद है। यदि शिवेतर के नाश का अर्थ अकल्याणकारी तत्त्वों एवं विचारों से रक्षा के रूप में लिया जाय तो वह भरत द्वारा प्रतिपादित 'हित' के समकक्ष ही होगा जो अपने-आपमें निश्चय ही एक काम्य प्रयोजन है। अन्य व्यावहारिक प्रयोजनों में भरत द्वारा निरूपित बुद्धि-विवर्द्धन और लोकोपदेश हैं जो क्रमशः मम्मट द्वारा प्रतिपादित 'कला-नैपुण्य' और मम्मट द्वारा प्रतिपादित 'कान्तासम्मित उपदेश' से भिन्न नहीं हैं। जहाँ तक भरत एवं रुद्रट के 'यश' तथा भामह और वामन के 'कीर्ति' का प्रश्न है वह अपनी मूल प्रकृति में द्वितीय पुरुषार्थ—अर्थ के समकक्ष है; एक में वित्तैषणा है तो दूसरे में लोकैषणा। इस प्रकार संस्कृत काव्य-शास्त्र में प्रायः चार प्रकार के काव्य-प्रयोजनों की चर्चा हुई है—आनन्दवादी प्रयोजन, हितवादी अथवा कल्याणमूलक प्रयोजन, लौकिक व्यवहार से सम्बद्ध उपयोगितामूलक प्रयोजन तथा परमार्थ-साधक प्रयोजन। इनमें से अन्तिम दो वर्ग बड़ी सरलता से कल्याण-वादी प्रयोजन के व्यापक परिवेश में समाहित किये जा सकते हैं, अतः केवल दो ही प्रमुख

---

१. **'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।**
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥'
—'काव्य-प्रकाश, १, २।

प्रयोजन-वर्ग हमारे सम्मुख आते हैं—(१) आनन्दवादी वर्ग जो पाश्चात्य काव्यशास्त्र में प्रतिपादित कलावादी मतवाद से तत्त्वत: भिन्न नहीं है, तथा (२) कल्याणवादी वर्ग जो पश्चिम के उपयोगितावाद के समकक्ष है।

इस प्रसंग में पाश्चात्य काव्यशास्त्र में प्रतिपादित कला-प्रयोजनों पर भी संक्षेप से दृष्टिपात करना समीचीन होगा। पश्चिम के प्रथम उल्लेखनीय आचार्य प्लेटो का समस्त जीवन-दर्शन नैतिकता, सदाचार, सद्बुद्धि एवं विवेक पर आधृत था 'फलत: धर्माचार्यों की भाँति उन्हें किसी भी प्रकार के आनन्द, विनोद अथवा मनोरंजन के प्रति सहज वितृष्णा थी। इसीलिए कला के गर्हित एवं निम्न कोटि के विषयों से उत्तेजित मनोवेगों की उद्दीप्ति और उससे प्राप्त ऐन्द्रिय परितोष को ही कलास्वाद तथा काव्य के प्रसंग में काव्यानन्द मानकर उन्होंने काव्य को सर्वथा हेय वस्तु घोषित किया। प्लेटो के कृतित्व के समग्र अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनकी दृष्टि में काव्य का प्रमुख लक्ष्य नैतिक उपदेश होना चाहिए। यदि इस लक्ष्य-सिद्धि के साथ आनन्द की सृष्टि भी हो जाय तो प्लेटो को कोई आपत्ति नहीं है। स्वयं उनके शब्दों में 'यदि कविता के पक्षधर यह सिद्ध कर सकें कि वह मात्र आनन्ददायिनी ही नहीं है प्रत्युत राज्य एवं मानव-जीवन के लिए उपयोगी भी है तो हम उसे सहर्ष स्वीकार करेंगे।'[1] इस प्रकार प्लेटो काव्य-प्रयोजन के रूप में उपदेश को तो स्वीकार करते हैं, किन्तु उसका 'कान्ता-सम्मित' होना अवश्यक नहीं मानते।

प्लेटो के उपरान्त उन्हीं के शिष्य पाश्चात्य काव्यशास्त्र के आदि मनीषी अरस्तू ने यद्यपि ज्ञान का अर्जन और आनन्द—दोनों को काव्य-प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया, किन्तु आनन्द को ज्ञानार्जन अथवा शिक्षा की अपेक्षा स्पष्टत: काव्य का प्राथमिक प्रयोजन माना, क्योंकि उनकी सम्मति में काव्यास्वाद की स्थिति में प्रमाता के चित्त में उद्भूत आनन्द में ज्ञानार्जन मात्र माध्यमिक साधन है: ज्ञान भी अन्तत: आनन्द का ही उद्भावक है।[2] इस प्रकार प्लेटो द्वारा प्रतिपादित उपयोगिता के पक्ष को अरस्तू ने आनुषंगिक सिद्ध कर आनन्द को सर्वोपरि घोषित किया। अरस्तू द्वारा प्रतिपादित काव्य-प्रयोजनों—आनन्द और शिक्षा के आधार पर पाश्चात्य समीक्षा-जगत् में विद्वानों के स्पष्टत: दो वर्गों का विकास हुआ: प्रथम तो वे जिन्होंने काव्य-प्रयोजन के रूप में ज्ञान, शिक्षा, नीति, सदाचार, आत्म-परिष्कार एवं लोक-कल्याण को मान्यता दी और

---

1. "... ..let them show not only that she is pleasant but also useful to states and to human life, and we will listen in a kindly spirit......that there is a use in poetry as well as a delight. —Dialogues of Plato : B. Jowett; Vol II, P-484.

2. "......that to learn gives the liveliest pleasure, not only to philosophers but to men in general, whose capacity, however, of learning is more limited.

—Aristotle's Poetics : Text by S. H. Butcher; IV, 4-5.

दूसरे वे जिन्होंने ग्रानन्द को काव्य का एक-मात्र ग्रथवा कम से कम प्राथमिक प्रयोजन माना। यहाँ यह उल्लेख्य है कि इन दोनों वर्गों में से किसी ने भी ग्ररस्तू के वक्तव्य की मूल ग्रात्मा को यथावत् ग्रहण नहीं किया। ग्ररस्तू शिक्षा द्वारा प्राप्त ग्रानन्द को स्वीकार करते थे जबकि कलावादियों ने नीति-निरपेक्ष ग्रानन्द तथा उपयोगितावादियों ने ग्रानन्द-निरपेक्ष कल्याणवादी मूल्यों को प्रश्रय दिया। नीतिवादी ग्रथवा उपयोगितावादी वर्ग में होरेस, मिल्टन, रस्किन, टॉल्स्टॉय ग्रादि चिन्तक ग्राते हैं, जो प्रत्यक्षत: प्लेटो से प्रभावित थे। द्वितीय वर्ग वाल्टर पेटर, ग्रॉस्कर वाइल्ड, ब्रैडले, क्लाइव बल, स्पिन्गार्न ग्रादि उन सौंदर्यवादी कलाचिंतकों का है जो कला को ही कला का एकमात्र प्रयोजन मानते हैं। इसी वर्ग में शिलर, कॉलरिज, शैले ग्रादि ग्रानन्दवादी भी ग्राते हैं। इस वर्ग के ग्रालोचक कला से इतर किसी भी प्रकार के समाज-सापेक्ष मानव-मूल्यों ग्रथवा धार्मिक-ग्राध्यात्मिक नीति-मूल्यों को कला ग्रथवा काव्य के संसार में प्रवेश पाने का ग्रधिकारी नहीं मानते। उनके लिए कला का एक स्वतंत्र निजी संसार है, जिसका एकमात्र उपजीव्य कलास्वाद ग्रथवा ग्रानन्द है। इन दो ग्रतिवादी मत-वर्गों के बीच ड्राइडन, कज़िन, मैथ्यू ग्रार्नल्ड ग्रादि ऐसे समीक्षक भी हैं जो एक मत का समर्थन करते हुए भी दूसरे का निषेध नहीं करते। ड्राइडन शिक्षा को काव्य-प्रयोजन मानते हुए भी उसका माध्यम ग्रानन्द मानते हैं। कज़िन ग्रौर मैथ्यू ग्रार्नल्ड ने नीति-पुष्ट स्वस्थ ग्रानन्द को ही काव्य का प्रयोजन माना। इस प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्र का सामान्य मत भी संस्कृत काव्यशास्त्र के समान मुख्यत: ग्रानन्द ग्रौर कल्याण के दोहरे उद्देश्य को काव्य का निमित्त मानता है यद्यपि ग्रानन्द-विरहित कल्याण ग्रथवा ग्रहितकर ग्रानन्द ग्रपने ग्रतिवादी रूप में उसे सामान्यत: स्वीकार्य नहीं।

हिन्दी समीक्षाशास्त्र का मत भी समग्रत: प्राय: यही है। ग्रमर कवि तुलसीदास ने स्पष्ट रूप से काव्य-सृजन की प्रक्रिया में कवि को प्राप्त होने वाले ग्रानन्द को ही काव्य-प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया है **स्वांतःसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा**—। भारतीय काव्यशास्त्र में कवि के सृजन-सुख का इतना स्पष्ट प्रतिपादन पहले कदाचित् नहीं हुग्रा था। तुलसीदास काव्य को समाज-हित की वस्तु भी मानते थे। जहाँ कवि के लिए वह ग्रात्म-सुख का साधन है वहाँ सामाजिक क्षेत्र में लोक-मंगल का साधक है।[१] इस प्रकार तुलसीदास ने ग्रानन्द ग्रौर कल्याण में ग्रभेद स्थापित करते हुए दोनों को एक ही धरातल पर प्रतिष्ठित कर दिया है। वस्तुत: यही मूल भारतीय मत है। हिंदी के ग्राधुनिक चिन्तकों में से कुछ तो स्पष्टत: कलावादी हैं ग्रौर कुछ ने उपयोगितामूलक नीतिवाद का समर्थन किया है। कला में सौंदर्येतर तत्त्वों के ग्रन्वेषण के विषय में इलाचन्द्र जोशी की टिप्पणी है कि "कला के भीतर किसी तत्त्व की खोज करना सौंदर्य देवी के मन्दिर को कलुषित करना है।" दिनकर का मत भी इनसे भिन्न नहीं है: "वसन्त का गुलाब ग्रौर कवि के स्वप्न ग्रपने में पूर्ण होते हैं। वे किसी को कुछ

---

१. **"कीरति भनिति भूति भल सोई।**
सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥"

सिखाने के लिए नहीं होते।'' स्पष्ट ही ये उक्तियाँ पश्चिम के कलावाद से प्रेरित हैं। मैथिली-शरण गुप्त तथा रामचन्द्र शुक्ल दूसरे मत के पोषक हैं। कला को ही कला का निमित्त मानना गुप्तजी की दृष्टि में स्वार्थ-साधन है, वे समस्त कला को अनिवार्यतः समाज-सापेक्ष मानते हैं।[1] शुक्लजी का मत भी इनसे तत्त्वतः भिन्न नहीं है। वे समाज-निरपेक्ष शुद्ध आनन्द को विलास की वस्तु मानते हैं, ''कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो।......मन को अनुरंजित करना, उसे सुख या आनन्द पहुँचाना ही यदि कविता का अन्तिम लक्ष्य माना जाय तो कविता भी केवल विलास की एक सामग्री हुई।'' स्पष्ट ही शुक्लजी आनन्द का पूर्ण निषेध नहीं करते; उनकी दृष्टि में अनिवार्यतः उसे सामाजिक हित का अनुबन्ध स्वीकार करना होगा। प्रेमचन्द भी साहित्य को जीवनोपयोगी ही मानते हैं। इस प्रकार हिन्दी समीक्षा भी उसी समन्वयवाद के पक्ष में है जिसका विवेचन संस्कृत तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र के संदर्भ में किया जा चुका है।

वस्तुतः कलावाद अथवा आनन्दवाद तथा कल्याणवाद अथवा उपयोगितावाद के बीच का विवाद भ्रान्त धारणाओं एवं आग्रहों पर आधृत है। यश, अर्थ आदि स्थूल एवं भौतिक अर्थों में काव्य के उपयोग खोजना तो निश्चय ही हास्यास्पद होगा, किन्तु कवि के सृजन-सुख को आत्म-कल्याण से भिन्न कैसे माना जा सकता है और जब सृजन की स्थिति में अनुभूत कवि का आनन्द काव्यास्वादन की स्थिति में प्रमाता तक संप्रेषित हो जाता है तब वह व्यक्ति स्तर पर शुद्ध आनन्दात्मक होते हुए भी साधारणीकृत होने पर अपनी सामूहिकता में अनिवार्यतः कल्याणकर ही होता है। भारतीय दृष्टि ने व्यक्ति के निजी सुख अथवा कल्याण में तथा सामाजिक आनन्द अथवा लोक-सुख में कभी पार्थक्य स्वीकार नहीं किया। यदि एक शब्द में 'आनन्द' को ही मूल काव्य-प्रयोजन स्वीकार कर लिया जाय तो असंगत न होगा, क्योंकि अपने मूल दार्शनिक और सांस्कृतिक अर्थ में भारतीय शब्द 'आनन्द' इतना उदार, उदात्त और व्यापक है कि इसमें व्यक्तिशः कवि की आत्म-लब्धि से लेकर प्रमाता की आनन्दानुभूति तक तथा सामाजिक स्तर पर लोक-रंजन से लेकर लोक-मंगल तक सहज समाविष्ट हैं।

(ङ) काव्य के भेद*

(१) तात्त्विक दृष्टि से रूप की स्थिति मानसिक या भावनात्मक है। किसी भी वस्तु का मानसिक अनुभव अनेक तत्त्वों का एक संघटित आकार होता है। वास्तव में वही रूप है। दार्शनिकों ने वस्तुजगत में रूप की नश्वरता, अतः असत्यता को स्वीकार

---

* डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा

१. मानते हैं जो कला को कला के अर्थ ही
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।
वह हमारे अर्थ और हम उसके लिए।
चाहिए पारस्परिकता ही प्रिये!

करते हुए भी रूप की भावना को नित्य और परम माना है। प्लेटो तो मनुष्य द्वारा निर्मित वस्तुओं के रूप को भी नित्य मानता है [रिपब्लिक, १०]। कलाकृतियों के रूप का आदि स्रोत भी इस प्रकार मानव-मन ही है।

परन्तु रूप क्या है ? इस प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक विचार करने से आज भी अरस्तू की यह धारणा सत्य प्रतीत होती है कि रूप किसी वस्तु के अस्तित्व का वह आभ्यान्तर कारण है जिसके द्वारा उस वस्तु के उपादान (मेटीरियल) को आकार प्राप्त होता है (मैटाफिज़िक्स)। इस सिद्धान्त के अनुसार कलाकृति में भी रूप का तात्पर्य उन समस्त तत्त्वों से समन्वित संघटित आकार है, जिससे उस कृति के विशिष्ट गुणों का निश्चय होता है। इन तत्त्वों में अर्थ और अभिव्यंजना के साथ वह उपादान भी सम्मिलित है, जिसे अर्थ और आकार दिया जाता है।

साहित्यकार अपने उपादान-भाषा को जो रूप प्रदान करता है वह पहले उसके मन में उठा हुआ अस्पष्ट, रूपहीन विचाराभास होता है। इसी विचाराभास से कृतिकार को अब रचना की प्रेरणा मिलती है और जब विचाराभास स्पष्ट अनुभव या विचार बन जाता है तभी कहा जा सकता है कि उसे रूप प्राप्त हो गया है। इस तात्त्विक अर्थ में रूप अभिव्यंजना से भिन्न है क्योंकि रूप तो वह सिद्धांत है, जिसके द्वारा उपादान को आकार मिलता है। और इस कारण रूप और उपादान का सामंजस्य पृथक्करण की सम्भावना से परे है, परन्तु अभिव्यंजना चाहे कितनी भी पूर्ण क्यों न हो, उसके आधार और आधेय में इतनी एकरूपता नहीं आ सकती। इसका यह तात्पर्य नहीं कि साहित्य में अभिव्यंजना का स्थान निम्न है। अभिव्यंजनावादियों की बात छोड़ दें तब भी साहित्य में अभिव्यक्ति का तत्त्व अत्यन्त मूल्यवान है, क्योंकि उसी के आधार से उपादान पर आरोपित रूप का अनुभव प्राप्त होता है।

इसी प्रकार रूप और शैली में भी अन्तर है। शैली वह प्रक्रिया है, जिसमें हम किसी वस्तु को समाविष्ट देखते हैं। रूप का सम्बन्ध वस्तु से होता है, प्रक्रिया से नहीं। शैली बदली जा सकती है। किसी साहित्यिक कृति की शैली को हम तभी पहचान सकते हैं, जब यह जान लें कि वह प्रक्रियाओं को मूर्त्त करने का एक तत्त्व मात्र है तथा उस वृत्ति को दूसरे ढंग से, दूसरी शैली में भी प्रस्तुत किया जा सकता है। फिर भी प्रक्रिया को समझ लेने तथा कृति को उसमें प्रतिष्ठित कर लेने के बाद रूपात्मक तत्त्व और शैली तत्त्व में अन्तर नहीं रह जाता। वस्तु को वस्तु के रूप में देखकर, जिसे हम रूपतत्त्व कहते हैं, वही वस्तु को समाविष्ट करने वाली प्रक्रिया की दृष्टि से देखने पर शैलीतत्त्व कहलाता है।

साहित्य में रूप और उपादान की अभिन्न परिणति की व्याख्या करते हुए कुछ आलोचकों ने उसके अंगीय (ऑरगेनिक) या नैसर्गिक होने पर जोर दिया है। टी० एस० इलियट ने उन साहित्यरूपों को, जो स्वभावतः किसी रचना के सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होते हैं, भाषा-विशेष, काल-विशेष और कवि-विशेष से सम्बद्ध किया

है। जो रूप एक भाषा के लिए स्वाभाविक है, वही दूसरी के लिए यांत्रिक और कृत्रिम लगता है; जो रूप किसी काल-विशेष में उपयुक्त होता है, वही कालान्तर में अपनी उपयुक्तता खो बैठता है। इसी प्रकार एक प्रतिभाशाली कवि जिस रूप को अपनी रचना के उपयुक्त बना लेने में समर्थ होता है, दूसरा कवि, जो केवल बने-बनाये साँचे में अपने भाव उँडेलने मात्र की योग्यता रखता है, उसी रूप को निरर्थक बना डालता है। अतः साहित्य में रूप की समस्या वस्तुतः अर्थ और आकारगत तत्त्वों को इस प्रकार स्वाभाविक ढंग से मिला देने की समस्या है कि दोनों में सम्पूर्ण संगति और समरूपता दिखाई दे।

(२) रूप की इस तात्त्विक विवेचना के उपरान्त रूप के व्यावहारिक पक्ष का उल्लेख भी आवश्यक है, जिसमें रूप 'प्रकार' 'विधा' या 'भेद' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस दृष्टि से साहित्य अनेकरूपों में हमारे सम्मुख आता है। इन रूपों को कई प्रकार से वर्गीकृत करने के प्रयत्न किये गए हैं।

साहित्य को वर्गीकृत करने का विचार मन में आते ही प्रश्न उठता है कि साहित्य शब्द की अर्थव्याप्ति क्या है? व्यापक अर्थ में साहित्य को 'वाङ्मय' की संज्ञा दी गई है। प्राचीनतम काल में कदाचित् समस्त साहित्यिक कृतित्व मौखिक रूप में ही चलता था। परन्तु अब हम साहित्य का पहला वर्गीकरण मौखिक और लिखित, इन दो रूपों में कर सकते हैं। इस वर्गीकरण का कोई गम्भीर और तात्त्विक आधार नहीं है, क्योंकि मौखिक और लिखित साहित्य में परस्पर गहरा साम्य और एकरूपता सम्भव है। इसी प्रकार का दूसरा स्थूल वर्गीकरण भाषा की लय-ताल सम्बन्धी शब्द-योजना के आधार पर 'गद्य' और 'पद्य' के रूप में किया जाता है। इस आधार पर एक तीसरा भेद गद्य-पद्य या 'चम्पू' नाम का भी बताया गया है, जिसमें गद्य और पद्य का सम्मिलित प्रयोग होता है। भाषा में बद्ध मनुष्य के सम्पूर्ण कृतित्व को, चाहे वह मौखिक हो या लिखित, यदि हम वर्गीकृत करना चाहें तो सबसे पहले दो स्थूल भेद लक्षित होते हैं—एक वह, जिसका लक्ष्य हमारी हार्दिक वृत्ति होती है और जो प्रधान रूप से हमारा रंजन करता है और दूसरा वह, जिसका लक्ष्य हमारी बोधवृत्ति होती है और जो प्रधान रूप से हमारा ज्ञान-वर्धन करता है। परन्तु इन दोनों प्रकार के साहित्यों के बीच विभाजक रेखा खींचना प्रायः कठिन हो जाता है, क्योंकि हार्दिक वृत्ति और बोध-वृत्ति में स्वाभाविक अन्तःसम्बन्ध है। फिर भी इस दृष्टि से साहित्य या वाङ्मय के जो भेद किए गए हैं, वे क्रमशः 'ललित' या, 'सरस' साहित्य और 'उपयोगी साहित्य' के नाम से अभिहित हैं। 'उपयोगी साहित्य' पुनः दो प्रधान भेदों में विभक्त हो सकता है। एक 'कल्पनाश्रित' या विचार-प्रधान साहित्य है जैसे दर्शन और दूसरा 'प्रयोगाश्रित' जो पुनः दो प्रकार का होता है—अनुमान ज्ञान पर आधारित 'शास्त्र' तथा निश्चय ज्ञान पर आधारित 'विज्ञान'। राजशेखर ने 'काव्य मीमांसा' में काव्य से भिन्न शास्त्र का विवरण दिया है, जो उपयोगी साहित्य का ही समानार्थी है। शास्त्र के उन्होंने विषयानुसार अनेक भेद गिनाये हैं। (दे० 'काव्य मीमांसा' अध्याय २,८,१०)। 'उपयोगी साहित्य' को 'जिज्ञासात्मक साहित्य' भी कह सकते हैं। सरस या ललित साहित्य भी दो

प्रधान भेदों में विभक्त किया गया—एक 'अनुभवात्मक' या 'इन्द्रियाश्रित' और दूसरा 'कल्पनात्मक' या 'हार्दिक'। अनुभवात्मक या इन्द्रियाश्रित साहित्य के 'कथात्मक' 'नैरेटिव' और वर्णनात्मक (डिस्क्रीप्टिव) दो मुख्यभेद हैं तथा हार्दिक साहित्य के भेदों में पद्यबद्ध रचनाओं के अनेक रूप हैं।

संस्कृत-काव्य-शास्त्रियों में सबसे प्रथम भामह ने अपने 'काव्यालंकार' (१६ : ३६) में काव्य के पहले गद्य और पद्य दो भेद किये, फिर भाषा के आधार पर संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश—तीन भेद देकर विषय की दृष्टि से (१) इतिहास पर आधारित चरितकाव्य, (२) उत्पाद्य [कल्पित] वस्तु वाले काव्य, (३) कला-प्रधान काव्य और (४) शास्त्र-प्रधान काव्य—ये चार भेद किये हैं। इसके उपरान्त उन्होंने (१) सर्गबन्ध [महाकाव्य], (२) 'अभिनेयार्थ' [नाटकादि], (३) आख्यायिका और (४) 'कथा' ये चार प्रकार के प्रबन्ध-काव्य तथा (५) अनिबद्ध [मुक्तक] कुल पाँच भेद किये हैं। दण्डी ने गद्य-पद्य और मिश्र अर्थात् चम्पू—काव्य के त्रिविध भेद देकर मुक्तक कुलक, कोष, संघात इसी प्रकार के अन्य तथा सर्गबन्ध महाकाव्य के रूप में पद्यकाव्य के भेद किये हैं [काव्यादर्श : १ : ११ : १४] तथा गद्य-काव्य के कथा और आख्यायिका नामक दो भेद बताए गए हैं [वही : २३] एवं मिश्र के नाटकादि एवं श्रव्य-मिश्र चम्पू का उल्लेख किया है [वही : ३१]। वामन ने काव्य के गद्य और पद्य, द्विविध भेदों के अनिबद्ध, (मुक्तकादि) और वद्ध (खंडकाव्य और महाकाव्य आदि)—दो रूपों का उल्लेख करके केवल निबद्धकाव्य के अवान्तर भेदों का वर्णन लिया है। निबद्ध [प्रबन्ध] काव्य को उन्होंने सन्दर्भकाव्य भी कहा है और दशरूपक [नाट्कादि] को उत्तम बताया है। काव्य के अन्य भेदों कथा, आख्यायिका, महाकाव्य आदि को दशरूपक का ही विस्तार कहा गया है [काव्यालं० सू० वृ० : १:३:२६-३२]। राजशेखर ने मुक्तक और प्रबन्ध, द्विविध काव्य के पाँच-पाँच भेद और बताए हैं। ये हैं–शुद्ध चित्र (सप्रपंच), कथोत्थ (ऐतिहासिक इतिवृत्ति), संविधानकाव्य (सम्भावित इतिवृत्त), आख्यातवान् (परिकल्पित इतिवृत्त); (का० मी० : श्र० ८)। 'ध्वन्यालोक, (३ : ७) में प्रसंगवश काव्य के जिन भेदों का उल्लेख किया गया है उनमें भी मुक्तक और प्रबन्ध ये ही दो प्रधान भेद हैं। मुक्तक एक श्लोक की रचना होती है ; परन्तु 'सन्दानितक' [दो श्लोकों में अन्वित), विशेषक (तीन श्लोकों में), 'क्लापक' (चार श्लोकों में) और 'कुलक' (पाँच श्लोकों में) भी मुक्तक के ही भेद कहे जा सकते हैं। 'पर्यायबन्ध' वर्णनात्मक प्रबन्ध होता है, जिसमें वसन्तादि का वर्णन किया जाता है। 'परिकथा' (किसी एक पुरुषार्थ के उद्देश्यवादी अनेक कथाओं से समन्वित कथा), 'अखण्डकथा (बड़ी कथा के एक अंश का वर्णन करने वाली), 'सकलकथ' (फलसहित सम्पूर्ण इतिवृत्त सर्गबन्ध (महाकाव्य), अभिनेयार्थ (नाटकादि), 'आख्यायिका' और 'कथा' कथात्मक प्रबन्धों के भेद हैं।

विश्वनाथ कविराज ने उक्त पूर्ववर्ती आचार्यों के आधार पर इस विषय में कुछ अधिक विस्तार किया है। 'साहित्यदर्पण' के छठे परिच्छेद में नाटकादि का वर्णन करने

के उपक्रम में एक नवीन ग्राधार पर काव्य के 'दृश्य' ग्रौर 'श्रव्य' दो भेद किये गए हैं। दृश्य काव्य को 'रूपक' भी कहते हैं। ग्रौर उसके दस भेद हैं। दस रूपकों के ग्रतिरिक्त ग्रठारह 'उपरूपक' भी होते हैं। दृश्य काव्य के विस्तृत निरूपण के बाद श्रव्य काव्य का वर्गीकरण किया गया है (सा० द० : ६ : ३१३-३३७)। श्रव्य काव्य तीन प्रकार का होता है—पद्य, गद्य ग्रौर गद्य-पद्य (चम्पू)। पद्य के पुनः दो प्रधान भेद होते हैं—मुक्तक ग्रौर प्रबन्ध। एक श्लोक या छन्द के मुक्तक काव्य के ग्रतिरिक्त उपर्युक्त 'सन्दानितक' ग्रादि का भी उल्लेख किया गया है। ग्रन्तर केवल इतना है कि कहीं ध्वन्यालोककार ने दो श्लोकों में ग्रन्वित काव्य की सन्दानितक कहा है, वहाँ विश्वनाथ कविराज उसे 'युग्मक' कहते हैं तथा ग्रौर सन्दानितक को एक ही मानते हैं।

प्रबन्ध-काव्य के विश्वनाथ ने केवल तीन भेद गिनाये हैं। पंच सन्धियों तथा ग्रन्य विशिष्ट गुणों से युक्त एक कथा के निरूपक पद्यमय काव्य को 'महाकाव्य' कहते हैं; जिस सर्गमय एक कथा के निरूपक काव्य में सब सन्धियां न हों उसे 'काव्य' की संज्ञा दी जाती है तथा काव्य के एक ग्रंश का ग्रनुकरण करने वाले 'एकदेशानुसारी' काव्य को खण्डकाव्य कहते हैं। वामन के ग्रनुसार गद्य-शैलियों का निरूपण करने के उपरान्त विश्वनाथ ने गद्य के केवल दो भेद गिनाए हैं—'कथा' ग्रौर 'ग्राख्यायिका'। 'कथा' में कहीं-कहीं छन्दों का प्रयोग किया जाता है। ग्रारम्भ में पद्यमय नमस्कार तथा खलादिक वृत्तकीर्तन होता है। 'कादम्बरी' इसका उदाहरण है। ग्राख्यायिका कथा के ही समान होती है, परन्तु उसमें कवि-वंश वर्णन तथा ग्रन्य कवियों का वृत्तान्त भी दिया जाता है। इसमें कथा-भाग 'ग्राश्वास' कहलाते हैं। तथा प्रत्येक ग्राश्वास के ग्रारम्भ में ग्रगली कथा का संकेत किया जाता है। 'हर्षचरित' इसका उदाहरण है। 'ग्राख्यान' ग्रादि कथा ग्रौर ग्राख्यायिका में ही ग्रन्तर्भूत होते हैं। ग्रार्ष काव्य जैसे 'महाभारत' में सर्ग के नाम को भी 'ग्राख्यान' कहते हैं। कथा ग्रौर ग्राख्यायिका में भामह के ग्रनुसार यह ग्रन्तर है कि जहाँ ग्राख्यायिका उच्छ्वासों में विभक्त होती है तथा उसमें वक्ता, प्रतिवक्ता के रूप में नायक स्वयं ग्रपने वृत्तान्त का वर्णन करता है वहाँ 'कथा' वक्ता, प्रतिवक्ता तथा उच्छ्वास ग्रादि विभागों से रहित होती है। उसमें कन्या-हरण उसके कारण संग्राम, उसके वियोग ग्रौर पुनःप्राप्ति का वर्णन होता है; कथानक कल्पित होता है ग्रौर उसका नायक ग्रपने चरित्र का वर्णन नहीं करता, ग्रन्य लोग ग्रपना ग्रौर नायक का वर्णन करते हैं। इस सम्बन्ध में विश्वनाथ ने दण्डी का उद्धरण दिया है कि ग्राख्यायिका का केवल नायक द्वारा वर्णित होना कोई नियम नहीं है, उसमें कथा की तरह ग्रन्य लोगों के वचन होते हैं।

गद्य-पद्यमय काव्य का, जिसे चम्पू कहते हैं, विश्वनाथ ने एक विशिष्ट रूप विरूद बताया है। इसमें राजस्तुति की जाती है। ग्रन्त में उन्होंने काव्य के एक ग्रौर नवीन भेद 'करम्भक' का उल्लेख किया है, जो विविध भाषा में लिखा जाता है।

संस्कृत ग्राचार्यों द्वारा दिए गए उपर्युक्त काव्य-भेदों में से दृश्य ग्रौर श्रव्य का

भेद तो अत्यन्त स्पष्ट है। दृश्य के अन्तर्गत नाटकादि अभिनेय काव्यरूप आते हैं। ये सदैव ही गद्य-पद्यमय रहे हैं, परन्तु इन्हें चम्पू नहीं कहा गया। संस्कृत नाटकों में पद्य की प्रधानता रहती थी, परन्तु आधुनिक नाटक सर्वथा गद्यमय होते हैं, प्रसंगवश आये हुए गीतों में ही पद्य का प्रयोग किया जाता है। 'श्रव्य' के अन्तर्गत श्रवणीय [कथा-कहानी' रेडियो नाटकादि], वाचनीय, अध्ययनीय और मननीय सभी प्रकार का गद्य या पद्य रचित कथा, प्रबन्ध आदि का साहित्य आ सकता है। यद्यपि नाटकादि अभिनेय होने के साथ-साथ पठनीय में होते हैं, परन्तु वर्गीकरण के परस्पर संक्रमण को बचाने के लिए हम 'श्रव्य' की व्यापक परिभाषा के अन्तर्गत वह समस्त साहित्य ले सकते हैं जो 'दृश्य' न हो।

श्रव्य काव्य या साहित्य के प्रथमतः चार प्रधान भेद हो सकते हैं—'मुक्तक' 'प्रबन्ध-निबन्धात्मक,' 'कथात्मक' और 'गीत्यात्मक। यद्यपि 'ध्वन्यालोक' में ऐसा उल्लेख नहीं है, परन्तु व्यवहार में यह अपवादरहित जान पड़ता है कि मुक्तक पद्य में ही होता है। प्राचीन परिभाषाओं में एक श्लोक की प्रबन्ध-निरपेक्ष रचना को मुक्तक कहा गया है। एक से अधिक श्लोक होने पर कदाचित वर्ण्य विषय एक होने पर भी, रचना को मुक्तक नाम न देकर श्लोकों की संख्या के आधार पर सन्दानितक, कलापक, कुलक आदि नाम दिए गए हैं। पद्य की इन रचनाओं को यदि पद्य-निबन्ध कहा जाय तो अनुचित न होगा, क्योंकि इनमें किसी एक विषय को ही सीमित विस्तार में काव्य-बद्ध किया जाता है। परन्तु एक से अधिक श्लोकों वाली इन रचनाओं के व्यावहारिक उदाहरणों के अभाव में निश्चयात्मक रूप से अधिक नहीं कहा जा सकता। फिर भी मुक्तक के अन्तर्गत आधुनिक काल में अनेक छन्दों वाली उन रचनाओं को तो सम्मिलित किया ही गया है, जिन्हें 'गीतिकाव्य' की सामान्य संज्ञा दी गयी है। संस्कृत के साहित्य-शास्त्र में गीतिकाव्य का कोई उल्लेख नहीं है, गीति को कदाचित् साहित्य की गरिमा से हीन समझ कर ही उसकी उपेक्षा हुई है। प्राचीन पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में काव्य के 'एपिक ('वीराख्यान काव्य' या 'महाकाव्य') और 'ड्रामा' (नाटक) के साथ 'लिरिक' (गीति) भी एक प्रधान काव्यरूप माना गया है। परन्तु वहाँ भी लिरिक को उतना महत्त्व नहीं दिया गया जितना 'एपिक' और 'ड्रामा' को। आधुनिक काल में गीति को जो महत्ता मिली है, उसी से प्रभावित होकर संस्कृत साहित्य के नए समीक्षकों ने संस्कृत काव्यशास्त्र के मुक्तक में ही गीति को अन्तर्भूत मान लिया है। हिन्दी के कुछ समीक्षकों ने इसी भाव से मुक्तक के दो भेद किए हैं—मुक्तक या सूक्ति मूक्तक और प्रगीत मुक्तक। परन्तु वास्तव में 'गीतिकाव्य' एक स्वतन्त्र वर्ग है। मुक्तक काव्य के विषय और संग्रह की दृष्टि से अनेक रूप हो सकते हैं, जैसे, विषय और संग्रह की दृष्टि से कबीर आदि सन्तों की सूक्तियाँ 'साखी' कही जाती हैं; वृन्द, गिरिधर आदि कवियों की रचनाएँ नीतिकाव्य नाम से प्रसिद्ध है। संस्कृत में इन्हें 'सुभाषित' कहते थे। मुक्तकों के अनेक संख्याओं के संग्रह प्राप्त हैं। हिन्दी में पाँच पद्यों के संग्रह 'पंचक' से लेकर, जिसे 'संस्कृत' का 'कुलक', कह सकते हैं, 'सप्तक', 'अष्टक', 'दशक', 'बाईसी', 'पचीसी',

'छब्बीसी', 'बत्तीसी', 'पचासा', 'बावनी', 'साठी', 'बहत्तरी', 'शतक', 'सतसई (सप्तशती) और हजारा तक अनेक प्रकार के संग्रह हैं।

इन संग्रहों में प्रायः सभी पद्य मुक्तक अर्थात् पूर्वापर प्रसंग-निरपेक्ष होते हैं। जिन छोटे-छोटे संग्रहों जैसे 'हनुमानपंचक' [खुमान बन्दीजन], 'रामाष्टक' [गिरिधरदास], 'छत्रसाल दशक' [भूषण], 'खटमल बाईसी' [अली मुहिब खां], 'हनुमतपचीसी' [गणेश भगवन्तराय खीची], 'हनुमत छब्बीसी' [मनियार सिंह], 'शिवाबावनी' [भूषण], 'सूरसाठी' [सूरदास], 'लक्ष्मणशतक' [खुमान बन्दीजन], 'वीरसतसई' [वियोगीहरि] में न्यूनाधिक मात्रा में विषय की एकता है, उनमें भी प्रत्येक पद्य अपनी स्वछन्द सत्ता रखता है। इन रचनाओं को मुक्तकता और निबन्धात्मकता का समन्वय कहा जा सकता है। कुछ तो निश्चित रूप से पद्य-निबन्ध ही हैं। किसी एक विषय पर अनेक छन्दों की रचना भी, जिसमें किसी दृश्यादि का वर्णन हो या सम्बद्ध विचार प्रकट किए गए हों, 'पद्य-निबन्ध' या 'पद्य-प्रबन्ध, नाम से अभिहित की जा सकती है। प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट 'पर्याय-निबन्ध' वस्तुतः 'पद्य-निबन्ध' ही है। ये निबन्धात्मक रचनाएँ अनेक रूप और आकार की हो सकती हैं, परन्तु उनका कोई वर्गीकरण नहीं किया गया है। वर्गीकरण केवल 'गीतिप्रधान' अर्थात् आत्मनिष्ठताप्रधान कविताओं का हुआ है, विषयप्रधान वर्णनात्मक पद्यों को तो मात्र 'कविता' नाम से ही अभिहित किया जा सकता है।

पद्यात्मक निबन्धों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के गद्यात्मक निबन्धों की रचनाएँ होती हैं, यथा, 'निबन्ध', 'लेख' 'प्रवन्ध' 'स्केच' 'यात्रा संस्मरण' 'रिपोर्ताज' आदि। इनमें कुछ आत्मनिष्ठताप्रधान होती हैं और कुछ में निरपेक्ष दृष्टि से वैज्ञानिक विषय-प्रतिपादन किया जाता है। पुनः कुछ आकार में अत्यन्त लघु और कुछ बहुत बड़ी होती हैं।

संस्कृत के आचार्यों ने यद्यपि समस्त कथात्मक साहित्य को, जिसमें अभिनेय साहित्य भी सम्मिलित है, प्रबन्ध की संज्ञा दी है, परन्तु क्योंकि आधुनिक काल में प्रबन्ध शब्द गद्य की विषय-प्रधान विचारात्मक रचनाओं के लिए प्रचलित हो गया है तथा विषय-प्रधान कविताओं को भी 'पद्य-प्रबन्ध, का नाम दिया गया है, अतः उन प्रबन्धों का, जिनमें किसी कथा के आधार पर रचना की गयी हो, 'कथात्मक साहित्य' के नाम से एक भिन्न वर्ग बनाया जा सकता है। कथात्मक साहित्य पद्य और गद्य, दोनों में ही हो सकता है। पद्यमय कथात्मक साहित्य के लिए 'प्रबन्धकाव्य' नाम भी प्रचलित है और उसके अन्तर्गत 'महाकाव्य' और 'खण्डकाव्य' तथा उनके भिन्न-भिन्न विशेषताओं वाले अनेक रूप आते हैं। 'आख्यानक गीत' (साहित्यिक लोकगाथा या बैलेड') में कथात्मकता और गीति तत्त्वों का समन्वय पाया जाता है और वह 'गीति' और 'कथा-प्रबन्ध' के बीच का रूप है। गद्यामय कथासाहित्य में 'कथा' 'कहानी', 'लघुकथा', 'उपन्यास 'लघुउपन्यास' (उपन्यासिका), 'आत्मकथा' आदि अनेक नवीन साहित्यरूपों

का विकास हुआ है। प्राचीन 'कथा', 'आख्यायिका', 'आख्यान', 'परिकथा, 'सकल कथा' आदि रूप' अब लुप्त हो गए हैं।

गीत्यात्मक साहित्य को मुक्तक में अन्तर्मुक्त न मानकर एक स्वतन्त्र वर्ग में रखने का केवल यही कारण नहीं है कि इस प्रकार की रचनाएँ आधुनिक भाषाओं में अपेक्षाकृत अधिक हुई हैं तथा उनमें स्वतः विविध लक्षणों वाले विविध प्रकार-भेद पाये जाते हैं, बल्कि इनके भिन्न वर्ग में रखने का औचित्य यह भी है कि इनकी प्रकृति ही विशेष प्रकार की होती है। इनके रचयिता की आत्माभिव्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष, सघन और तीव्र होती है तथा ये कहीं अधिक भावावेश और भावसंहिति से युक्त होती हैं। आधुनिक समीक्षा में गीति-काव्य को क्या महत्ता मिली है, यह इस बात से प्रमाणित होता है कि समस्त साहित्य के एक वर्गीकरण का आधार रचयिता का आत्मपरक दृष्टिकोण' भी है। इस आधार पर साहित्य का एक वर्ग 'बाह्यार्थनिरूपक' (शुक्ल) 'बाह्यार्थ-व्यंजक', 'बाह्यार्थमूलक','बाह्यवादी', वस्तुपरक (—मूलक या—प्रधान) अथवा 'विषयपरक' (—मूलक या—प्रधान) कहा जाता है दूसरा स्वानुभूतिमूलक (शुक्ल), 'स्वानुभूतिव्यंजक (—निरूपक,—परक—प्रधान), 'अध्यान्तरिक' (श्री कृष्णलाल), 'अन्तर्वादी', 'आत्माभिव्यंजक' 'स्वात्मपरक' (मूलक,—निरूपक,—प्रधान,—व्यंजक) 'स्वात्मनिष्ठ', 'आत्मनिष्ठ' 'व्यक्ति प्रधान' (—परक,—मूलक,—व्यंजक), 'विषयि-प्रधान (—मूलक,—व्यंजक,—परक) अथवा, प्रधान या भावात्मक कहलाता है। पहले में रचयिता का दृष्टिकोण निरपेक्ष या तटस्थ (ऑब्जेक्टिव) होता है, वह अपनी व्यक्ति-गत भावना, रुचि और प्रवृत्ति को सीधे तौर पर व्यक्त नहीं करता। परन्तु स्वात्मनिष्ठ या अध्यान्तरिक (सब्जेक्टिव) रचनाओं में हम रचयिता के व्यक्तित्व का सीधा और घनिष्ठ परिचय पाते हैं। दृष्टिकोण की इस विशेषता के ही कारण इस प्रकार के काव्य में लेखक की संवेदना में प्रेरणा और सद्यःस्फूर्ति का अंश कहीं अधिक होता है तथा उसकी कृति भावानुभूति की दृष्टि से अधिक प्रभावोत्पादक और मार्मिकतापूर्ण होती है।

'गीतिकाव्य' के विभिन्न लक्षणों की न्यूनता–अधिकता के आधार पर उसके अनेक भेद किए गए हैं। हिन्दी के पुराने साहित्य में भक्त कवियों के 'पद' गीतिकाव्य के एक विशेष रूप के उदाहरण हैं : एक दूसरा प्रकार 'स्तोत्रों' या 'स्तुतिगीतों' का है। 'गीत' (पाश्चात्य साहित्य का लिरिक या सांग), जिन्हें 'लोकगीतों' का एक विशिष्ट वर्ग कहा जा सकता है, गीतिकाव्य का सबसे प्राचीन रूप है। अनेक अवसरों के समवेत गीत (पाश्चात्य साहित्य का कोरिक लिरिक), जिन्हें 'समूहगीत', 'वर्गगीत' या 'समाज-गीत' कह सकते हैं, 'गीत' की ही भाँति प्राचीन है। 'भावगीति' आधुनिक गीतिकाव्य का सबसे प्रधिक प्रकृत रूप कहा जा सकता है। इसके भी अनेक रूप और प्रकार हो सकते हैं। प्रेम की भावना ही इसका प्रधान विषय होता है, अतः इसका एक विशेष वर्ग 'प्रेम-गीति' या 'प्रणयगीति' नाम से अभिहित किया जा सकता है। एक प्रमुख भेद 'सम्बोध-गीति (ओड) नामक भी है। 'करुणगीति' या 'शोकगीति' (एलिजी) भी गीति-कवियों

का एक सर्वप्रिय गीतिरूप है। इनके अतिरिक्त 'राष्ट्रगीत', 'राष्ट्रगान', 'राष्ट्रीय गीति', 'व्यंग्यगीति' (सैटायर), 'पत्रगीति' (एपिसिल्स) और 'सॉनेट' भी गीतिकाव्य के अन्यरूप हैं। पद्य के अतिरिक्त गद्य में भी गीतिरचना होती हैं जिसे 'गद्यगीत' या 'गद्यकाव्य' की संज्ञा दी जाती है।

साहित्य के इन सभी वर्गों—अभिनयात्मक, मुक्तक, प्रबन्ध-निबन्धात्मक, कथा त्मक तथा गीत्यात्मक की रचना गद्य, पद्य, या गद्य-पद्य की सम्मिलित शैलियों में होती है। परन्तु संस्कृत साहित्य में गद्य-पद्य के मिले-जुले रूप का चम्पू नाम दिया गया है। इस नाम का आधुनिक भाषाओं में प्रयोग नहीं होता।

अध्याय ३

काव्य की आत्मा*

शरीर और आत्मा

शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर कहा गया है, ये दोनों ही अभिन्न से हैं। अर्थ के बिना शब्द का कुछ मूल्य नहीं—वह डमरू के डिमडिम से भी कम मूल्य रखता है। (डमरू के डिमडिम से महर्षि पाणिनि द्वारा प्रतिपादित माहेश्वर सूत्रों का जन्म हुआ था)—और शब्द के बिना अर्थ का मानव-मस्तिष्क में भी कठिनाई से निर्वाह होता है, इसीलिए तो शब्द और अर्थ की एकता को पार्वती परमेश्वर की एकता का उपमान बताकर कवि-कुल-गुरु कालिदास ने अपने अमर काव्य 'रघुवंश' के प्रथम श्लोक[1] द्वारा इस अटूट सम्बन्ध को महत्ता प्रदान की थी। शब्द के साथ अर्थ का लगाव है और अर्थ के साथ शब्द का। एक के बिना दूसरे की पूर्णता नहीं, इसीलिए दोनों मिलकर ही काव्य का शरीरत्व सम्पादित करते हैं।

यद्यपि बिना शरीर के आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित करना दर्शनशास्त्रियों की बुद्धि-परीक्षा का विषय बन जाता है, तथापि आत्मा के बिना शृंगार की आलम्बन-स्वरूपा ललित लावण्यमयी अंगनाओं के कोमल-कान्त-कमनीय कलेवर भी हेय, त्याज्य और वीभत्स के स्थायी भाव घृणा के विषय बन जाते हैं। अतः हमारे यहाँ के आचार्यों ने काव्य की आत्मा को विशेष रूप से अपनी मनीषा और समीक्षा का विषय बनाया है।

विभिन्न सम्प्रदाय

इस आत्मा-सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर पर काव्य का स्वरूप और उसकी परिभाषा

---

* डॉ० गुलाबराय

१. **वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।**
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

—रघुवंश (१।१)

इसी भाव को गोस्वामी तुलसीदास ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

गिरा अरथ जल-बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
बन्दउँ सीता-राम-पद, जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥

—रामचरितमानस (बालकाण्ड ३४)

निर्भर है और काव्य की आलोचना भी इससे बहुत अंशों में प्रभावित होती है, क्योंकि आलोचना के मान भी काव्य के आदर्श पर ही निर्भर रहते हैं। इस सम्बन्ध में प्राय: पाँच सम्प्रदायों का उल्लेख होता है। काव्य के विभिन्न अंगों में से किसी एक पर बल देने और महत्त्व प्रदान करने के आधार पर ही वे सम्प्रदाय अस्तित्व में आए हैं, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि कोई भी सम्प्रदाय काव्य के इतर अंगों की नितान्त उपेक्षा करता है। इन सम्प्रदायों और इनके प्रवर्तक तथा पोषक आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं—

सम्प्रदाय	आचार्य
१. अलंकार-सम्प्रदाय	भामह दण्डी, उद्भट आदि।
२. वक्रोक्ति-सम्प्रदाय	कुन्तल वा कुन्तक।
३. रीति-सम्प्रदाय	वामन।
४. ध्वनि-सम्प्रदाय	ध्वनिकार और आनन्दवर्द्धन।
५. रस-सम्प्रदाय	भरत मुनि, विश्वनाथ।

अब इन सम्प्रदायों का पृथक्-पृथक् वर्णन किया जाएगा। यह विवेचन रस को ही काव्य की आत्मा मानकर चलेगा और इसके ही आलोक में इनका मूल्यांकन किया जाएगा। इन मतों के अतिरिक्त आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य की कसौटी माना है।

१. अलंकार-सम्प्रदाय—अलंकार शोभा को अलं अर्थात् पूर्ण वा पर्याप्त करने के कारण अलंकार कहलाते हैं। अलंकरण की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक है। इसके द्वारा उसके आत्मभाव और गौरव की वृद्धि होती है। यद्यपि अलंकार बाहरी साधन होते हैं तथापि उनके पीछे अलंकृतिकार की आत्मा का उत्साह और ओज छिपा रहता है। बाहरी होने के कारण अलंकारों पर ही पहले दृष्टि जाती है, इसीलिए अलंकार शास्त्र के इतिहास के प्रारम्भिक काल में अलंकारों का कुछ अधिक महत्त्व रहा है। इस शास्त्र का अलंकार शास्त्र के नाम से अभिहित होना ही अलंकारों की महत्ता का द्योतक है। बहुत-से नामों का ऐतिहासिक महत्त्व होता है। यह नाम प्राचीन काल में अलंकार की महत्ता का अवश्य द्योतक था पीछे से चाहे अलंकारों की वह महत्ता न रही हो। उत्तर काल में 'साहित्य-विद्या' आदि नामों का प्रयोग होने लगा था—'पंचमी साहित्य-विद्याधर इति यायावरीय:' (राजशेखरकृत काव्य मीमांसा, पृष्ठ ४)। रूपक की 'साहित्य मीमांसा' और विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' में साहित्य शब्द को ही प्रधानता मिली, फिर भी 'अलंकार-शास्त्र' शब्द बहुत प्रचलित है। कुछ आचार्यों ने इनको काव्य के लिए अनिवार्य माना है। दण्डी (छठी शताब्दी) ने इन अलंकारों को शोभा का कारण बताया है।

'काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते।

—काव्यादर्श (२।१)

चन्द्रालोककार जयदेव पीयूषवर्ष (१३वीं शताब्दी) ने तो यहाँ तक कह डाला

कि कोई काव्य को अलंकाररहित मानता है तो अपने को पण्डित मानने वाला वह व्यक्ति अग्नि को उष्णताहीन क्यों नहीं कहता ?

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ।।

—चन्द्रालोक (१।८)

यहाँ पर 'अनलंकृती' में सभंग यमक का चमत्कार है। पहली पंक्ति में 'अनलंकृती' का अर्थ है अलंकार-रहित और दूसरी पंक्ति में 'अनलं' और 'कृती' अलग-अलग हैं। 'अनलं' का अर्थ अग्नि है और 'कृती' का अर्थ है कार्यशील विद्वान्। इसमें मम्मटाचार्य (१२वीं शताब्दी) की दी हुई काव्य की परिभाषा में आये हुए 'अनलंकृती पुनः क्वापि' वाक्यांश पर करारा व्यंग्य है। भामह (छठी अथवा सातवीं शताब्दी) ने कहा है—

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ।

—काव्यालंकार (१।१३)

अर्थात् सुन्दर होते हुए भी आभूषणों के बिना वनिता का मुख शोभा नहीं देता। इसी स्वर में स्वर मिलाते हुए हमारे केशवदासजी (१७वीं शताब्दी) ने भी कहा है—

जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुवरन सरस सुवृत्त ।
भूषण बिन न विराजई, कविता बनिता मित्त ।।

—कविप्रिया (कविता-अलंकार-वर्णन १)

इसमें 'कविता', 'बनिता' और 'मित्र' के लिए ऐसे विशेषण दिए गए हैं जो श्लेष द्वारा तीनों के सम्बन्ध में लागू हो सकते हैं। 'सुवरन' का अर्थ 'कविता' के पक्ष में सुन्दर अक्षर वाला और 'बनिता' तथा 'मित्र' के पक्ष में अच्छे वर्ण (रंग) वाले और इसी प्रकार 'सुवृत्त' का 'कविता' के पक्ष में अच्छे छंद वाली और 'वनिता' तथा 'मित्र' के पक्ष में अच्छे चरित वाले होगा।

ऐसे आचार्यों ने, विशेषकर केशव ने अलंकार शब्द का अर्थ बहुत विस्तृत कर दिया है। केशव ने अलंकारों में वर्ण्य-विषय भी शामिल कर लिये हैं। आचार्य वामन (९वीं शताब्दी) ने 'गुणों को शोभा के कारण' माना है और 'अलंकारों को शोभा की अतिशयता देने वाला या बढ़ाने वाला' कहा है। यह बात नीचे के अवतरणों से स्पष्ट हो जाएगी—

काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः ।
तदतिशयहेतवस्त्वलंकारा ।

—काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः (३।१।१,२)

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ (१४वीं शताब्दी) ने भी अलंकारों को शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म कहा है और उनको 'कवच आदि की भाँति शोभा को बढ़ाने वाले' तथा 'रस के उपकारक' माना है—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽगंदादिवत् ।।

—साहित्य दर्पण (१०।१)

जब गाँठ की शोभा होती है तभी अलंकार उसे बढ़ा सकते हैं अथवा यों कहिए कि शोभावान वस्तुओं के साथ ही अलंकार सार्थक होते हैं। दण्डी ने इनको 'शोभा का कर्त्ता' माना है।

जब तक अलंकार भीतरी उत्साह के द्योतक होते हैं तब तक तो वे शोभा को उत्पन्न करने वाले या बढ़ाने वाले कहे जा सकते हैं। किन्तु जब वे रूढ़ि या परम्परा-मात्र रह जाते हैं, तभी वे भार रूप दिखाई देने लगते हैं। अलंकारों का महत्त्व अवश्य है किन्तु वे मूल पदार्थ का स्थान नहीं ले सकते हैं। 'अग्निपुराण' में रस को काव्य का जीवन लिखा है—

वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्रजीवितम् ।

—अग्निपुराण (३३७।३३)

किन्तु उसी ग्रन्थ में अर्थालंकार प्रसंग में यह भी कहा है कि—

अर्थालंकाररहिता विधवेव सरस्वती ।

—अग्निपुराण (३४५।२)

इस बात को स्वीकार करते हुए भी हमको यह कहना पड़ेगा कि निर्जीव से विधवा होकर भी जीवित रहना श्रेयस्कर है (प्राचीन आदर्शों के अनुकूल ऐसा नहीं है)। स्वाभाविक शोभा के होते हुए रूपवान के लिए कोई भी वस्तु अलंकार बन जाती है—

सरसिज लगत सुहावनी जदपि लियो ढपि षंक ।
कारी रेख कलंक हूँ लसति कलाधर अंक ।।
पहरे बल्कल बसन यह लागति नीकी बाल ।
कहा न भूषन होइ जो रूप लिख्यो बिधि भाल ।।[1]

—शकुन्तला नाटक (१।१६)

इसीलिए तो बिहारी ने अलंकारों का तिरस्कार करते हुए उन्हें 'दर्पण-के-से मोर्चे' कहा है, फिर भी अलंकार नितान्त बाहरी नहीं हैं, जो जब चाहे पहन लिए जाएँ या उतारकर रख दिए जाएं। वे कवि या लेखक के हृदय के उत्साह के साथ बँधे हुए हैं। हमारी भाषा की बहुत-कुछ सम्पन्नता अलंकारों पर ही निर्भर है। वे महात्मा कर्ण के कवच और कुण्डलों की भाँति सहज होकर ही शक्ति के द्योतक बनते हैं।

अलंकार और अलंकार्य— अब प्रश्न यह होता है कि क्या अलंकार और अलंकार्य में भेद नहीं है? इटली के अभिव्यंजनावादी समालोचक क्रोचे (Crouche) अलंकार्य और

---

१. राजा लक्ष्मणसिंह कृत शकुन्तला नाटक से उद्धृत ये पंक्तियाँ—'अभिज्ञान-शाकुन्तल' के निम्नलिखित श्लोक का पद्यानुवाद हैं—

'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्केनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।'

—अभिज्ञान शाकुन्तल (१।१९)

अलंकार का भेद स्वीकार नहीं करते। वे अलंकारों को ऊपर से आरोपित नहीं मानते। 'यह चादर सफेद है' यह एक वाक्य है। जब हम यह कहते हैं कि "वह चादर दुग्ध-फेन सम श्वेत है" तब हम पहले वाक्य पर कोई नया आरोप नहीं करते वरन् एक नया वाक्य ही रचते हैं। नया वाक्य एक नये प्रकार की अभिव्यक्ति का द्योतक होता है। हमारे यहाँ आचार्यों ने अलंकार और अलंकार्य का भेद माना है, किन्तु यह भेद ऐसा ही है कि जैसे अंगी और अंगों का होता है। तरंगें समुद्र की होती हैं, समुद्र तरंग का नहीं होता। कुन्तल ने स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं माना है क्योंकि यह अलंकार्य है। अलंकार्य और अलंकार का भेद मानते हुए भी हमें बिल्कुल ऊपरी न मानना चाहिए। वस्तु के भीतर की चीज़ भी उसका अलंकार हो सकती है, जैसे फूल वृक्ष के अलंकार कहे जा सकते हैं।[1] कविता का सौन्दर्य अलंकार और अलंकार्य की पूर्णता में है। 'पयसा कमलं कमलेन पयः पयसा कमलेन विभाति सरः'—का-सा अलंकार-अलंकार्य और पूरे वाक्य का संबंध है, इसीलिए कुन्तल ने पहले तो अलंकार और अलंकार्य का अन्तर माना है। यदि शरीर को ही अलंकार कहा जाय तो वह किसी दूसरी वस्तु का अलंकरण कैसे करेगा क्योंकि वह तो अलंकार्य है। क्या कोई स्वयं अपने कंधे पर चढ़ सकता है—

शरीरं चेदलंकारः किमलंकुरुतेऽपरम् ।
आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति ।।

—वक्रोक्तिजीवित (१।१४)

दोनों का भेद सुविधा के लिए व्यावहारिक रूप से मानना पड़ेगा, किन्तु वास्तव में अलंकार-सहित पूर्ण रचना को ही काव्य कहेंगे। कुन्तल (१०वीं शताब्दी) के अनुकूल काव्य के भीतर ही अलंकारों को पृथक् किया जाएगा—

अलंकृतिरलंकार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते ।
तदुपायतया तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता ।।

—वक्रोक्तिजीवित (१।७)

अलंकार कृत्रिम या आरोपित हो सकते हैं और होते भी हैं, किन्तु महत्त्व कवि के हृद्गत उत्साह से प्रेरित सहज अलंकारों का ही है। वे ही रस के उत्कर्ष के हेतु बन सकते हैं।

ध्वनिकार ने अलंकारों का रस से संबंध बतलाते हुए कहा है कि वे ही अलंकार काव्य में स्थान पाने योग्य हैं जो रस-परिपाक में बिना प्रयास के सहायक हों। ध्वनिकार के मत से रसिक और सहृदय प्रतिभावान पुरुष के लिए अलंकार अपने-आप दौड़े हुए आते हैं और प्रथम स्थान पाने के लिए प्रतिस्पर्द्धा करते हैं। उनके मत से अलंकारों की सार्थकता इसी में है कि वे रस और भाव का आश्रय लेकर चलें—

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ।।

—ध्वन्यालोक (२।६)

---

१. क्रोचे ने अलंकारों को अभिव्यक्ति का अंग और पूर्ण से पृथक् न किए जाने योग्य कहा तो है, किन्तु वे फूल की भाँति अलग दिखाई दे सकते हैं।

वैसे भी रस और अलंकार दोनों एक-दूसरे की पुष्टि करते हैं। हमारे यहाँ अलंकारों में जो वर्ण्य विषय मिले हुए हैं वे रस के ही किसी-न-किसी रूप से संबंध रखते हैं। रसवत् अलंकार तो इस संज्ञा में आएगा ही; कभी-कभी सूक्ष्म और पिहित आदि अलंकार केवल क्रिया-चातुर्य या वाक्-चातुर्य के द्योतक न होकर रस के किसी अंग से ही संबंधित रहते हैं। सूक्ष्मालंकार प्रायः शृंगार का ही विषय बनता है। उसका प्रयोग प्रायः वचन-विदग्धा या क्रिया-विदग्धा नायिकाओं द्वारा ही होता है। वक्रोक्ति प्रायः हास्य-रस में सहायक होती है। अभिसारिका नायिकाओं की गतिविधि में मीलित और उन्मीलित अलंकारों के उदाहरण मिल जाते हैं। नीचे के उदाहरण में शुक्लाभिसारिका द्वारा मीलित अलंकार चरितार्थ हो रहा है —

जुवति जोन्ह में मिलि गई, नेंक न होति लखाइ।
सौंधे कैं डोरैं लगी, अली चली संग जाइ॥

—बिहारी रत्नाकर (दोहा ७)

अतिशयोक्ति, प्रतीप, विभावना, उत्प्रेक्षा आदि सभी अलंकार कवि के हृदय में उपस्थित उपमेय को प्रधानता देने की भावना के द्योतक हैं। अनुप्रास अपनी-अपनी वृत्तियों के अनुकूल रसों में सहायक होते हैं। अलंकार अर्थ-व्यक्ति में भी सहायक होकर रस का उत्कर्ष बढ़ाते हैं।

अलंकारवादी रस की नितांत अवहेलना नहीं करते। वे रसवत् और प्रेयस् अलंकारों द्वारा रस और भाव के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। रस को रस के लिए नहीं वरन् चमत्कार बढ़ाने में सहायक होने के कारण अलंकार के रूप में ग्रहण करते हैं। सारांश यह है कि अलंकार नितान्त बाहरी न होते हुए भी अंगी का स्थान नहीं ले सकते हैं। रसों को रसवत् अलंकार के अन्तर्गत करना अपने मनोराज्य के मोदकों में भूख बुझाना-मात्र है। चमत्कार मात्र स्वयं साध्य नहीं हो सकता।

२. वक्रोक्ति सम्प्रदाय—इसके प्रधान आचार्य कुन्तल हैं। वक्रोक्ति शब्द दो अर्थों में व्यवहृत होता है, एक अलंकार-विशेष के रूप में और दूसरा उक्ति की वक्रता असाधारणता के रूप में। वक्रोक्ति अलंकार वहाँ होता है जहाँ पर कि श्रोता श्लेष या काकु (कण्ठ-ध्वनि) के आधार पर वक्ता के अर्थ से कुछ भिन्न अर्थ लगाकर उसका उत्तर देने का चमत्कार दिखाता है, जैसे—

अयि गौरवशालिनि ! मानिनि ! आज,
सुधास्मिति क्यों बरसाती नहीं ?
निज कामिनि को प्रिय ! गौ, अवशा,
अलिनी भी कभी कही जाती कहीं ?

—पोद्दार अलंकार मंजरी (पृ० ६७ तथा ६८)

यहाँ पर महादेवजी ने तो सम्मान देने के लिए पार्वतीजी से 'गौरवशालिनि' कहा था, किन्तु उन्होंने इस पद को भंग करके (गौः + अवशा + अलिनि) इसका यह दूसरा ही अर्थ लगाया और महादेवजी को उलाहना दिया कि वे अपनी प्रिया को 'गौ, शक्तिहीना

ग्रौर 'भौंरी' कहकर ग्रपमानित करते हैं।[1]

कुन्तल ने वक्रोक्ति को व्यापक ग्रर्थ में लिया है। उस ग्रर्थ में वह सब ग्रलंकारोंकी माता बन जाती हैं। भामह ने कहा—

'कोऽलंकारोऽनया बिना' (काव्यालंकार, २।८५)। कुन्तल ने वक्रोक्ति को कवि-कौशल द्वारा प्रयुक्त विचित्रता कहा है—"वक्रोक्ति रेव वैदग्ध्यभंगी भरिणतिरुच्यते (वक्रोक्तिजीवित, १।११)—विचित्रता के लिए 'विच्छित्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है। कवि कुछ ग्रसाधारण बात कहता है, वह वायु को वायु न कहकर स्वर्ग का उच्छ्वास कहेगा, कमल को कमल कहकर उसको सन्तोष न होगा वरन् वह ऐसी कल्पना करेगा कि जल मानो सहस्र नेत्र होकर ग्राकाश की शोभा को देख रहा है। कथा-प्रसंग ग्रादि को कल्पना द्वारा बदलकर मनोरम बना लेने को भी वक्रता के ग्रन्तर्गत माना है; इसको उन्होंने प्रकरण-वक्रता कहा है। महाभारत की शकुन्तला की कथा को कालिदास ने बदल दिया है, यह प्रकरण-वक्रता का ग्रच्छा उदाहरण है। ग्रलंकार वाक्य-वक्रता में ग्राते हैं। ध्वनि को भी पर्याय ग्रौर उपचार-वक्रता के भीतर लाया गया है। इस सम्बन्ध में रुय्यक का कथन है, 'उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपंचः स्वीकृत एवं।' ग्राचार्य शुक्लजी ने वाल्मीकीय रामायण से वक्रोक्ति का जो उदाहरण दिया है 'न स संकुचितः पन्था येन बाली हतोगतः'[2] ग्रर्थात् वह रास्ता संकुचित नहीं है जिससे बालि मरकर गया है ग्रर्थात् सुग्रीव भी मृत्युपथ पर जा सकता है यह उक्ति का वैचित्र्य है। यह वक्रता ग्रवश्य है, किन्तु इसे केवल-मात्र उदाहरण न समझना चाहिए। वक्रता ग्रनेक प्रकार की होती है। कुन्तल द्वारा दी गई काव्य की परिभाषा इस प्रकार है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाल्हादकारिणि॥

—वक्रोक्तिजीवित (१।८)।

इनके मत से कविता में शब्द ग्रौर ग्रर्थ दोनों का महत्त्व है। दोनों में कवि का वक्रता-संबंधी कौशल ग्रपेक्षित है। शब्द ग्रौर ग्रर्थ दोनों को सुगठित ग्रौर सुसम्बद्ध होना ग्रावश्यक है। कुन्तल ने काव्य में तद्विद् ग्रर्थात् सहृदयों को ग्राह्लाद देने का गुण भी स्वीकार किया है। इस परिभाषा में रस, रीति एवं गुण (बन्धे व्यवस्थितौ) ग्रौर ग्रलंकार तीनों

---

१. लेखक के नवरस में पाण्डुलिपि की ग्रव्यवस्था के कारण वक्रोक्ति का वर्णन केवल ग्रलंकार-रूप में ही छपा है।

२. पूरा श्लोक इस प्रकार है—

न स संकुचितः पन्था येन बाली हतो गतः।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा बालिपथमन्वगाः॥

—वा० रामायण (कि० काण्ड ३०।८१)

ग्रर्थात् हे सुग्रीव ! वह रास्ता संकुचित नहीं है जिससे बालि गया है (ग्रर्थात् तुम भी मृत्यु-पथ पर जा सकते हो)। ग्रपने समय (वायदे) पर स्थिर रहो, बालि के ग्रनुगामी मत बनो।

को स्थान मिल जाता है, किन्तु कुन्तल के विवेचन में मुख्यता अलंकारों की है, फिर भी वक्रोक्तिवाद का अभिव्यंजनावाद से तादात्म्य करना ठीक नहीं है।

वक्रोक्तिकार ने यद्यपि अपनी परिभाषा को व्यापक बनाया है तथापि उनका झुकाव अलंकारों को ही मुख्यता देने की ओर दिखाई देता है, पुस्तक में अलंकार शब्द अवश्य व्यापक अर्थ में आया है। रस को भी कुन्तल ने वक्रोक्ति के साधक के रूप में स्वीकार करते हुए दण्डी आदि की भाँति रसवत् अलंकार के अन्तर्गत रखा है, फिर भी कुन्तल ने रस की मुख्यता स्वीकार की है। जादू वही है जो सर पर चढ़कर बोले।

निरन्तररसोद्‌गारगर्भसौन्दर्यनिर्भराः
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रितः॥

—वक्रोक्ति जीवित (उन्मेष ४)

कुन्तल ने काव्य में कथा को मुख्यता न देकर रस को ही मुख्यता दी है। उसी के कारण कवियों की वाणी जीवित रहती है। चमत्कार-वैचित्र्य और अलंकार सबमें ही यह प्रश्न रहता है कि ये किस लिए ? यही उत्तर होता है······सहृदयों की प्रसन्नता के अर्थ।

३. **रीति-सम्प्रदाय**— वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है— "रीतिरात्मा काव्यास्य" (काव्यालंकार सूत्र १। २। ६)— और "विशिष्ट पद-रचना" को रीति कहा है— "विशिष्टपद रचना रीतिः" (काव्यालंकार सूत्र १ । २ । ७)। यह विशिष्टता गुणों में है और काव्य में शोभा के उत्पन्न करने वाले धर्मों को गुण कहा गया है— "काव्य शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः" (काव्यालंकार सूत्र ३ । २ । १)। गुण और रीति दोनों ही अन्त में साध्य नहीं रहते वरन् शोभा के साधन बन जाते हैं। वामन ने अलंकारों के कारण काव्य की ग्राहकता बतलाई है— "काव्य ग्राह्यमलंकारात" (काव्यालंकार सूत्र १ । १ । १) —किन्तु उन्होंने अलंकार को सौंदर्य के व्यापक अर्थ में माना है—" सौंदर्यमलंकारः (काव्यालंकार सूत्र १ । १ । २)। रीति का संबंध गुणों से है और गुणों का संबंध काव्य की आत्मा रस से है। माधुर्य और प्रसाद गुणों का संबंध कोमल और कठोर वर्ण (टवर्ग के वर्ण तीसरे चौथे वर्णों के मीलित रूप्—जैसे क्रुद्ध, युद्ध, बग्घी द्वित्ववर्ण) से लगाया जाता है किन्तु ये वर्ण गुणों से द्योतित मानसिक स्थिति-विशेष के अनुकूल होते हैं। जैसे हृष्ट-पुष्ट शरीर में ही वीरता के भाव शोभा देते हैं (यह नहीं कि सब हृष्ट-पुष्ट वीर होते हैं।) वैसी ही गुण मानसिक दशा के द्योतक होते हैं— माधुर्य में चित्त की द्रुति का पिघलना या नीचे की ओर झुकना होता है, ओज में अग्नि की भाँति ऊँचे उठने की मनोदशा होती है और प्रसाद में चारों ओर फैलने या विस्तार की ओर झुकाव रहता है।

वामन ने भी रसों को माना है, किन्तु दण्डी आदि की भाँति रसवत् अलंकार के अन्तर्गत नहीं वरन् काँति गुण के सम्बन्ध में उनका उल्लेख किया है—"दीप्तरसत्व काँति" (काव्यालंकार सूत्र, ३ । २ । १५)—रस के प्रभाव से वामन भी नहीं बचे हैं।

४. **ध्वनि-सम्प्रदाय**—ध्वनि-सम्प्रदाय के आचार्य ध्वनिकार माने गए हैं और उनकी व्याख्या करने वाले आनन्दवर्धन (नवीं शताब्दी) को भी उतना ही महत्त्व दिया

गया है, यहाँ तक कि कुछ लोग दोनों को एक ही मानते हैं। प्रोफेसर ए० शंकरन ने अपनी पुस्तक 'Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit' में इसी पक्ष का समर्थन किया है। ध्वनिकार के पूर्व भी ध्वनि-सम्प्रदाय के सिद्धान्त स्वीकृत थे और कहीं उनका विरोध भी हुआ है, ऐसा ध्वनिकार ने ही कहा है—

काव्यास्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व ।
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ।।

—ध्वन्यालोक (१।१)

अर्थात् काव्य की आत्मा को पूर्व के आचार्यों ने ध्वनि कहा है। किसी ने उसका अभाव बतलाया है, उसका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया है और किसी ने इसे लक्षणा (गुणावृत्ति) के अन्तर्भुक्त रखा है।

ध्वनि क्या ? अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त व्यंजना नाम की एक तीसरी शब्द-शक्ति मानी गई है, 'व्यंजना' शब्द 'वि' 'पूर्वक' 'अंज' (प्रकाशने) से 'ल्युट' प्रत्यय लगाकर बना है, इसका अर्थ है—विशेष रूप से प्रकाशन करने वाली वृत्ति। 'अंजन' में भी यही धातु है। व्यंजना को हम आलंकारिक भाषा में एक विशेष रूप से प्रभावशाली अंजन कह सकते हैं जिसके कारण एक नया अर्थ प्रकाशित होता है। गोस्वामी तुलसी-दासजी ने भी अंजन की महत्ता स्वीकार की है—

यथा सुअञ्जन आँजि दृग, साधन, सिद्ध, सुजान।
कौतुक देखहिं सैल बन, भूतल, भूरि विधान ।।

—रामचरितमानस (बालकाण्ड)

व्यंजना के अंजन से भूतल का ही गुप्त खजाना नहीं वरन् हृदय-तल की निधि भी प्रकाशित हो जाती है।

लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ में यही भेद है कि मुख्यार्थ के बाध होने पर लक्षणा का व्यापार चलता है, किन्तु व्यंजना-व्यापार में मुख्यार्थ के बाध की आवश्यकता नहीं होती। वह अर्थ ऊपरी तह पर नहीं होता है परन्तु उसमें झलकता दिखाई देता है। जहाँ पर अभिधा का अर्थ व्यंजना से दब जाता है वही रचना ध्वनि कही जाती है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यंक्तः काव्याविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः-कथितः ।।

—ध्वन्यालोक (१।१३)

इसी ध्वनि के चमत्कार के आधार पर काव्य की तीन श्रेणियाँ की गई हैं—पहली 'ध्वनि काव्य'[1] जिसमें अभिधार्थ की अपेक्षा व्यंगार्थ की प्रधानता हो, दूसरी 'गुणीभूत व्यंग्य'[2] जिसमें व्यंग्यार्थ गौण हो गया हो अर्थात् वाच्यार्थ के बराबर या

---

१. इदमुक्तमतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः

—काव्यप्रकाश (१।४)

२. अतादृशि गुणी भूत व्यंग्यं-व्यंग्यें तु मध्यमम्

—काव्यप्रकाश (१।५, प्रथम पंक्ति)

अतादृशि का अर्थ है 'वाच्यादनतिशायिनी' अर्थात् वाच्यार्थ से बढ़कर न हो।

उससे कम महत्त्व रखता हो, तीसरी 'चित्रकाव्य'[1] जिसमें बिना व्यंजना के भी शब्द-चित्रों (शब्दालंकारों) और वाच्यचित्रों (अर्थालंकारों) का चमत्कार होता है। यह ध्वनि-सम्प्रदाय की उदारता है कि जिन काव्यों में व्यंग्यार्थ की प्रधानता न हो उनको भी काव्य की श्रेणी में रखा है चाहे वह निम्न श्रेणी की क्यों न हो। ध्वनि में व्यंग्यार्थ की प्रधानता रहती है। वास्तव में यह अर्थ का भी अर्थ है, इसमें थोड़े में बहुत का अथवा एकता में अनेकता का चमत्कार रहता है। क्षण-क्षण में नवीनता धारण करने वाला सौन्दर्य वा रमणीयता का जो लक्षण है वही ध्वनि में भी घटता है। केवल हाथ-पैर, नाक-कान से पूर्ण होना ही सौन्दर्य नहीं है, सौन्दर्य उससे ऊपर की चीज है--

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु ॥

—ध्वन्यालोक (१।४]

ध्वनि उसी अवर्णनीय 'और कछु' में आती है। ध्वनि को ही प्रतीयमान अर्थ भी कहते हैं। यह विभिन्न अवयवों के परे रहने वाले स्त्रियों के सौन्दर्य की भाँति महाकवियों की वाणी में रहती है।

ध्वनि में काव्य के सौन्दर्य के एक विशेष एवं अनिर्वचनीय उपादान की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। यह सम्प्रदाय करीब-करीब रस-सम्प्रदाय के बराबर ही लोकप्रिय हुआ है। मुक्तक काव्य के मूल्यांकन में इसको विशेष मान मिला है, क्योंकि स्फुट पद्यों में प्राय: ऐसा रस-परिपाक नहीं होता जैसा कि प्रबन्धान्तर्गत पद्यों में अथवा नाटकों में।

ध्वनि-सम्प्रदाय के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि वह सौन्दर्योत्पादन और रस-सृष्टि में प्रधानतम साधन है किन्तु रस का स्थान नहीं ले सकता। अलंकार वक्रोक्ति रीति और ध्वनि सभी सौंदर्य के साधन हैं। रमणीयता व सौंदर्य भी तो स्वयं अपने में कोई अर्थ नहीं रखता, वह किसी सचेतन के लिए होता है और उसकी सार्थकता उसी को प्रसन्नता देने में है ''जंगल में मोर नाचा किसने जाना' सौंदर्य सौन्दर्यास्वादक की अपेक्षा रखता है। सौंदर्यास्वादन का अन्तिम फल है आनन्द, वही रस है—रसो वै स: '। 'रसंह्योवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति' (तैत्तिरीय उपनिषद्, ११।७।१) आनन्द एक ऐसी संज्ञा है जिस पर रुक जाना पड़ता है, वह स्वयं ही साध्य है।

५. रस-सम्प्रदाय—इसका साहित्य में व्यापक प्रभाव रहा है। इस सम्प्रदाय के मूल प्रवर्त्तक हैं नाट्यशास्त्र के कर्त्ता भरतमुनि (ईसा पूर्व पहली शताब्दी से पूर्व)। उनके पश्चात् कुछ दिनों अर्थात् नवीं शती तक अलंकार सम्प्रदाय का प्राधान्य रहा।

---

१. **शब्दचित्रं वाच्य चित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम् ।**

—काव्यप्रकाश (१।५ द्वितीय पंक्ति)

'चित्र' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई हैं—
चित्रमिति गुणालंकारयुक्तम—गुण या अलंकारों से सम्पन्न को चित्र कहते हैं ।

वे लोग यद्यपि रस का ग्रस्तित्व स्वीकार करते थे तथापि महत्ता ग्रलंकारों को ही देते थे। ग्रानन्दवर्द्धन ने रसध्वनि को प्रधानता देकर ग्रलंकारों को पीछे हटा दिया। ग्रभिनवगुप्त (१०वीं शताब्दी) ने ध्वन्यालोक की टीकालोचन तथा नाट्यशास्त्र की टीका ग्रभिनवभारती लिखकर, बहुत-सी रस-सम्बन्धी समस्याग्रों को सुलझाकर ग्रौर ग्रन्त में विश्वनाथ ने रस को काव्य की ग्रात्मा घोषित कर रस को पूरा-पूरा महत्त्व दिया। हिन्दी के ग्राचार्यगण देव, मतिराम, कुलपति मिश्र ग्रादि रस-सम्प्रदाय से ही प्रभावित हैं।

काव्य के लिए नव ग्रौर ग्रभिव्यक्ति दोनों ही ग्रपेक्षित हैं। ग्रलंकार, वक्रोक्ति रीति ग्रौर ध्वनि भी ग्रभिव्यक्ति के सौन्दर्य से ग्रधिक सम्बन्धित हैं। ग्रलंकार शोभा को बढ़ाते हैं, रीति शोभा का ग्रंग है, किन्तु पूर्ण शोभा नहीं। वक्रोक्ति में काव्य को साधारण वाणी से पृथक् करने वाली विलक्षणता पर ग्रधिक बल दिया गया है, किन्तु स्वभाविकता ग्रौर सरलता की उपेक्षा की गई है। कुन्तल ने स्वभावोक्ति को ग्रलंकार नहीं माना है। 'मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी' ग्रथवा 'मैया मोहि दाऊ बहुत खिजावत' की स्वाभाविकता पर सौ-सौ ग्रलंकार न्यौछावर किये जा सकते हैं।

ध्वनि ग्रौर रस सम्प्रदाय की प्रतिद्वन्द्विता ग्रवश्य है किन्तु उनकी प्रतिद्वन्द्विता इतनी बढ़ी हुई नहीं है कि समन्वय न हो सके। ग्राचार्यों ने स्वयं ही उसका समन्वय कर लिया है। ध्वनि का विभाजन करते हुए तीन प्रकार की ध्वनियाँ मानी गई हैं—वस्तु-ध्वनि, ग्रलंकारध्वनि ग्रौर रसध्वनि।

इन तीनों भेदों में रसध्वनि को, जो ग्रसंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि के ग्रन्तर्गत है, ग्रधिक महत्त्व दिया गया है। रस में ध्वनि की तात्कालिक सिद्धि है। उसमें व्यंग्यार्थ ध्वनित होने की गति इतनी तीव्र होती है कि हनुमानजी की पूँछ की ग्राग ग्रौर लंका-दहन की भांति पूर्वापर क्रम दिखाई ही नहीं देता है। रसध्वनि को विशिष्टता देना रस-सिद्धान्त की स्वीकृति है। ध्वनिकार ने कहा है कि व्यंग्य-व्यंजक-भाव के विविध रूप हो सकते हैं। किन्तु उनमें जो रसमय रूप है उस एकमात्र रूप में कवि को ग्रवधान-वान होना चाहिए ग्रर्थात् सावधानी के साथ प्रयत्नशील होना वांछनीय है—

व्यंग्यव्यजंकभावेऽपिस्मिन्विविधे सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन्कविः स्वादवधानवान्॥

—ध्वन्यालोक (४।५)

ध्वनिकार ने ग्रौर भी कहा है कि जैसे वसन्त में वृक्ष नये ग्रौर हरे-भरे दिखलाई देते हैं वैसे ही रस का ग्राश्रय ले लेने से पहले देखे हुए ग्रर्थ भी नया रूप धारण कर लेते हैं—

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमा॥

—ध्वन्यालोक (४।४)

मम्मटाचार्य ने भी, जिन्होंने कि ध्वनि के सिद्धान्त को मानकर रस का वर्णन ध्वनि के अन्तर्गत किया है, कवि की भारती की वन्दना करते हुए उसे 'ह्लादैकमयी' और 'नवरसरुचिरो' कहा है। इतना ही नहीं उन्होंने तो दोष, गुण और अलंकारों की परिभाषा भी रस का ही आश्रय लेकर दी हैं। जिस प्रकार आत्मा के शौर्यादि गुण हैं उसी प्रकार काव्य के अंगी रस में हमेशा रहने वाले धर्म गुण कहलाते हैं।

ये रसस्यागिनोधर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥

—काव्यप्रकाश (८।६६)

मम्मटाचार्य ने अलंकारों को रस का उपकारी माना है और दोषों की व्याख्या भी रस के सम्बन्ध में की है। उन्होंने कहा कि दोष मुख्यार्थ के नाश करने वाले हैं और मुख्य तो रस ही है, उसी के सम्बन्ध से वाच्यार्थ भी मुख्य कहलाता है। उसी के अपकर्ष के कारण ये दोष कहलाते हैं अर्थात् रस के कारण ये दोष की संज्ञा में आते हैं—

मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः।

—काव्यप्रकाश (७।४६)

इसमें 'हतिः' शब्द आया है। 'हति' का अर्थ है अपकर्ष (हतिरपकर्षः)।

इन परिभाषाओं में रस की इतनी स्पष्ट स्वीकृति है कि इनको पढ़कर कोई भी यह नहीं कह सकता कि मम्मट रसवादी नहीं थे। यहाँ तक कि रस-सिद्धांत के पोषक और अभिभावक आचार्य विश्वनाथ ने इनका ही अनुकरण किया है। उन्होंने गुण शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—

खल्वंगित्वमाप्तस्यात्मन उत्कर्षहेतुत्वाच्छौर्यादयो गुणशब्दावाच्याः।

...साहित्यदर्पण (८।१ की वृत्ति)

मम्मट ने यदि काव्य की परिभाषा में रस का उल्लेख नहीं किया है (उसमें ध्वनि का भी उल्लेख नहीं है) तथापि जिन तीन चीजों का अर्थात् दोष (अदोषौ), गुण (सुगणौ) और अलंकार (अनलंकृती पुनः क्वापि) का उल्लेख है, उन सबको रस के आश्रित कर दिया है।

रसवादी विश्वनाथ ने यद्यपि मम्मट की काव्य-परिभाषा का खण्डन किया है

ग्रौर रस की स्वतन्त्र व्याख्या की है, फिर भी रस को व्यंग्य ही माना है ग्रौर ध्वनि के भेदों में ग्रसंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि को मानते हुए रस तथा भावों को उनके ग्रन्तर्गत रखा है किन्तु रसों की व्याख्या वहाँ पर नहीं की है। भेद इतना ही है कि मम्मट ने रस का वर्णन स्वतन्त्र न रखकर उसे ध्वनि के ही प्रसंग में किया है ग्रौर विश्वनाथ ने रस का वर्णन स्वतन्त्र रूप से किया है। विश्वनाथ ने व्यंजना के प्राधान्य पर पाँचवाँ परिच्छेद ही लिख डाला है ग्रौर रस की ग्रभिव्यक्ति के लिए ग्रन्य वृत्तियों का निराकरण कर व्यंजना नाम की वेदान्तियों की तुरीय ग्रवस्था की-सी तुरिया (चतुर्थ) वृत्ति को ही स्वीकार किया है—'तुरिया वृत्ति रुपास्यैवेति सिद्धम्' (साहित्य दर्पण) ग्रौर यह प्रश्न उठाकर कि तुरीया वृत्ति क्या है उन्होंने कहा है—'सा चेयं व्यंजना नाम वृत्तिरित्युच्यते बुधैः' (साहित्यदर्पण, ५।५)। विश्वनाथ ने भी 'ध्वनिकाव्य' ग्रौर 'गुणीभूतव्यंग्य' नाम के काव्य के दो भेद करते हुए चित्र-काव्य को नहीं माना है ग्रौर ध्वनिकाव्य को उत्तम काव्य कहा है—

वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम् ।

—साहित्यदर्पण (४।१)

साहित्य शब्द (सहित का भाव) में स्वयं समन्वय बुद्धि है। इसी कारण साहित्य के ग्राचार्यों में वह साम्प्रदायिक कट्टरता नहीं होती जो कहीं-कहीं धार्मिक ग्राचार्यों में देखी जाती है। रसवादी विश्वनाथ ने ग्रौर सब मतों को भी उचित स्थान दिया है—'उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालंकाररीतयः' (साहित्यदर्पण, १।३)। क्षेमेन्द्र ने ग्रौचित्य वाले सिद्धान्त को महत्ता दी है—'ग्रौचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्' (ग्रौचित्यविचारचर्चा, पृष्ठ ११५)। उस सिद्धान्त की रसाभास में स्वीकृति हो जाती है—'तदाभासा ग्रनौचित्यप्रवर्तिताः' (काव्यप्रकाशसूत्र, ४९)। जहाँ रस ग्रौर भावों के प्रयोग में ग्रनौचित्य हो वहाँ ग्राभास कहलाता है। क्षेमेन्द्र ने ग्रौचित्य की परिभाषा इस प्रकार की है—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ।।

—ग्रौचित्यविचारचर्चा

ग्रर्थात् जो जिसके सदृश हो ग्रर्थात् ग्रनुकूल वा उपयुक्त हो उसे ग्राचार्य उचित कहते हैं। उचित के भाव को ही ग्रौचित्य कहते हैं किन्तु कविता केवल ग्रौचित्यमात्र नहीं हैं। वस्तुएँ एक-दूसरे के ग्रनुकूल हो सकती हैं। फिर भी उनमें सरसता ग्रपेक्षित रहती है।

ग्रलंकार, वक्रोक्ति, रीति ग्रौर ध्वनि ग्रभिव्यक्ति से ही सम्बन्ध रखते हैं। यद्यपि रसध्वनि ग्रौर वस्तुध्वनि में विषय का ग्रहण है तथापि उनमें भी मुख्यता ध्वनन-व्यापार की ही है। गुण, रीति, ग्रलंकार ग्रौर ध्वनि का भी सम्बन्ध कृति से ही है। कर्त्ता ग्रौर भोक्ता कुछ गौण-से रहते हैं। रस में कर्त्ता (कवि), कृति (काव्य) ग्रौर भोक्ता (पाठक) तीनों को ही समान महत्त्व मिलता है। उसमें प्रभाव है, गति है ग्रौर जीवन की तरलता है। वह कवि के हिमगिरि से विशाल, रत्नाकर से विस्तृत ग्रौर गंभीर हृदय-स्रोत से

निःसृत होकर कृति के रूप में प्रवाहित होता हुआ पाठक के हृदय को आप्लावित करता है। इसी से वह रस (जल के अर्थ में) अपना नाम सार्थक करता है। आस्वाद्य होने के कारण वह रसना के रस की भी समानधर्मता सम्पादित करने में समर्थ रहता है। म्लान और म्रियमाण हृदयों को संजीवनी शक्ति प्रदान कर आयुर्वेदिक रस के गुणों को वह अपनाता है। काव्य का सार होने के कारण उसमें फलों के रस की भी अभिव्यक्ति है। रस अर्थात् आनन्द उसका निजी रूप है। वह रमणीयता का चरम लक्ष्य है और अर्थ की अर्थ-स्वरूपा ध्वनि का भी विश्राम-स्थल है। इसलिए वह परमार्थ है, स्वयं प्रकाश्य चिन्मय, अखण्ड, ब्रह्मानन्द सहोदर है—'रसो वै सः।'

अध्याय ४

रस सिद्धान्त

(क) १ रस का स्वरूप*

काव्यानुभूति को संस्कृत काव्यशास्त्र में 'रस' संज्ञा से अभिहित किया गया है। रस-स्वरूप का सर्वांग-सम्पूर्ण परिनिष्ठित निरूपण अभिनवगुप्त की कृतियों में प्राप्त होता है। अभिनवगुप्त ने रस की स्वरूपबोधक निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है—

समस्त विघ्नों से विनिर्मुक्त संवित्ति, चमत्कार, निर्वेश, रसन, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि।[1]

अभिनवगुप्त की शैवाद्वैत-परम्परा से भिन्न शांकर अद्वैत-परम्परा के आचार्य विश्वनाथ के अनुसार रस-स्वरूप-विषयक विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

सत्वोद्रेक, अखण्ड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वाद-सहोदर, लोकोत्तर, चमत्कारप्राण, स्वाकारवत् अभिन्न, आस्वाद रूप।[2]

अन्य आचार्यों ने शब्द-भेद से प्रायः इन्हीं विशेषताओं को दुहराया है जो संक्षेप में इस प्रकार हैं :

१. रस आस्वादरूप हैं, सहृदय जिसका रसन या भोग करता है।

२. यह आस्वाद सत्त्योद्रेक की स्थिति में होता है, जिसकी परिणति चित्त की विश्रान्ति, लय और समापत्ति में होती है।

३. रस निर्विघ्न और अखण्ड होता है।

४. रस चिन्मय, अन्य-ज्ञानरहित और स्वप्रकाश होता है।

५. रस लोकोत्तर-चमत्कार प्राण है।

---

* डॉ० निर्मला जैन

१. लोके सिकलवध्नविनिर्मुक्ता संवित्तिरेव चमत्कारनिर्देश—
रसनास्वादनभोगसमापत्तिलयविश्रन्त्यादिशब्दैरभिधीयते।
—अभिनवभारती, भाग-१, पृ० २८०

२. सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्द चिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।
—साहित्य दर्पण, ३।२-३

६. रस ब्रह्मास्वाद सहोदर है।

१. आस्वादरूपता-रस काव्यार्थ के रूप में आस्वाद्य और स्वयं आस्वादरूप है, ऐसा निरपवाद रूप में सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। भरत ने रस को रससंज्ञा ही उसके 'आस्वाद्यत्व' के कारण दी तथा रस की उपमा नाना प्रकार के व्यंजनों से संस्कृत अन्न से देते हुए कहा कि जैसे उक्त प्रकार के अन्न को खाने वाले पुरुष रसों का आस्वादन करते हैं एवं हर्ष को प्राप्त करते हैं···उसी प्रकार नाना प्रकार के भावों और अभिनयों के द्वारा व्यक्त किए गए वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों से युक्त स्थायी भाव का सहृदय प्रेक्षक आस्वाद करते हैं और हर्षादि को प्राप्त करते हैं।[1]

अन्न ग्रहण के आस्वाद और रसास्वाद में अन्तर ग्राहक इन्द्रिय का है, यह भी अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है। भोजनास्वाद रसनेन्द्रिय का व्यापार है और काव्यास्वाद मानस व्यापार है।[2] रसास्वाद के लिए चित्तवृत्ति की एकाग्रता सर्वथा अनिवार्य है। रसास्वाद में विषयेतर सभी अनुभवों से मुक्त सहृदय की चित्तवृत्ति का विषय में पूर्ण निवेश और तन्मयीभवन अनिवार्य है, जबकि भोजनास्वाद के क्षणों में भोक्ता अन्यथा चित्तवृत्ति से भी आस्वादन में समर्थ हो सकता है। समानता दोनों में यही है कि दोनों का परिणाम या फल है आह्लादन तथा चर्वण और चर्वण का अर्थ है सब इन्द्रियों का समकाल सन्तोष।

भट्टनायक ने 'आस्वादनात्माऽनुभवा रसः काव्यार्थ उच्यते।'[3] कहकर रस का आत्मानुभव का आस्वादन स्वीकार किया है।

इसी आस्वादरूपता को आगे चलकर अभिनवगुप्त ने रस का अन्य प्रतीतियों से भेदक लक्षण बताया है। उन्होंने एकाधिक स्थलों[4] पर रस का सामान्य लक्षण निरूपित

---

१. **यथा हि नाना व्यंजनसंस्कृतमन्नं भुंजाना रसानास्वादयन्ति······तथा नानाभावाभिनयव्यजितान् वागङ्गसत्त्बोपेतान् स्थायिभावानास्वदयन्ति··· तस्मान्नाट्यरसाः।**

—नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ० २८८-८९

२. **न रसनाव्यापार आस्वादनम्। अपितु मानस एवं। स चात्राविकलोऽस्ति।**

—अभिनवभारती, भाग-१ पृ० २९०

३. **वही, पृष्ठ २७७।**

४. **(क)···रसना गोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति** —वही, पृ० २८५

(ख) सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एवं रसः।

— वही, पृ० २८०

(ग) विभावादिनाम्···सामाजिकधियि सम्यग्योगं संबंधमैकाग्रयं वाऽऽसादितवद्भिरलौकिकनिर्विघ्नसंवेदनात्मकचर्वणागोचरतां नीतोऽर्थश्चर्व्यमाणतैकसारो न तु सिद्धस्वभावः तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी, स्थायिविलक्षण एव रसः।

-- वही, पृ० २८४

करते हुए आस्वाद्यता को उसका भेदक लक्षण माना है। इसी आधार पर रस तथा भाव को एक मानते हुए वे एक ही[1] 'सामान्य रस' अथवा 'महारस' को स्वीकार करते हैं। भोज ने साधारणीकरण के सिद्धान्त की स्पष्ट स्वीकृति या व्याख्या न करते हुए भी रस को हृदयस्थित अहं का आस्वाद माना है।[2] रस-विषयक विविध प्रश्नों का संग्रह-सार प्रस्तुत करने वाले विश्वनाथ ने भी रस को निज स्वरूप से अभिन्न आस्वाद-रूप माना है।[3]

इसके अतिरिक्त पंडितराज जगन्नाथ[4] भी रस का आस्वादन स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि चैतन्य के ऊपर से अज्ञानरूप आवरण का हट जाना ही रस-चर्वणा (आस्वादन) है, अथवा अन्तःकरण की आनन्दाकार वृत्ति को रस-चर्वणा समझना चाहिए।

इन आचार्यों के अतिरिक्त उन आचार्यों ने भी, जो प्रत्यक्षतः रस-परम्परा में नहीं माने जाते, रस की आस्वादरूपता का समर्थन किया है। उदाहरण के लिए वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक[5] और व्यक्तिविवेककार अनुमतिवादी महिमभट्ट[6] भी रस को आत्मास्वादरूप मानते हैं।

२. सत्त्वोद्रेक, विश्रान्ति, लय और समापत्ति --रस की अभिव्यक्ति होने पर सतोगुण का उद्रेक होता है। भट्टनायक ने रस-भोग की स्थिति का वर्णन करते हुए

---

१. **सर्वथा रसनात्मक···भाव एव रसः।**

—वही, पृ० २८०

२. (क) **साहंकृते हृदि परं स्वदते रसोऽसौ।** डा० राघवन,

शृंगार प्रकाश, पृ० ४८१

(ख) **तेन रसाभिमानादिशब्देनअभिधीयमान स्वादात्मा। सरस्वती कण्ठाभरण अ० ५**

—सरस्वती कण्ठाभरण अ, ५

(डॉ० राघवन द्वारा भोज का शृंगार प्रकाश, पृ० ४२१ पर उद्धृत)

३. **स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।** --साहित्यदर्पण, ३।३

४. (क) **चर्वणा चास्य चिद्गतावरणभंग एवं प्रागुक्ता, तदाकाराऽन्तःकरणवृत्तिर्वा।**

—हिन्दी रस गंगाधर, प्रथमानन, पृ० ८९

(ख) **आस्वादनस्य रसविषयकत्वव्यवहारस्तु रत्यादिविषयकत्वालम्बनः।**

—वही, पृ० ११२

५. **वाच्यावबोधनिष्पत्तौ पदवाक्यार्थवर्जितम्।**
यत्किमप्यर्पयत्यन्तः पानकास्वादवत् सताम्॥

—वक्रोक्तिजीवित, पृ० ६३

६. **भावसंयोजनाव्यंग्यपरसंवित्तिगोचरः।**
आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते।

—व्यक्तिविवेक, प्रथमोविमर्शः ७०

कहा है कि रस के भावित होने पर वह भोग, रज और तम के अनुवेध से विचित्र सत्त्वो-द्रेकमय होता है।[1] उस सत्त्वोद्रेकमय में चित्त द्रुति विस्तार और विकास की स्थितियाँ प्राप्त करता है। इसकी परिणति अन्ततः सहृदय के संवित् की विश्रान्ति में होती है। इसी को आचार्यों ने लय एवं समापत्ति भी कहा है।

२. रसास्वाद को संस्कृत के आचार्यों ने अखंडानुभव कहा है। वे अखंड अनुभूति का दो अर्थों में प्रयोग करते हैं: (क) आचार्य आनन्दवर्द्धन ने रस-व्यापार को मात्र रसिकगत व्यापार न मानकर कवि-सहृदयगत अखंडानुभवरूप व्यापार माना है। इसी-लिए वे सरस्वती के तत्त्व को भी कवि सहृदयरूप मानते हैं और स्वीकार करते हैं कि रस की यह प्रतीति कवि से सहृदय तक अखंड रूप में आती है।

(ख) अखंडानुभूति का दूसरा अर्थ रसिक की रसानुभूति के पक्ष में किया गया है। रस-सामग्री के विभिन्न अंगों—विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि की प्रतीति सहृदय को खंड-खंड रूप में न होकर रसिक का रसास्वाद अखंड एकघन प्रतीति के रूप में होता है। उपर्युक्त खंड एवं उनका संयोग—इस क्रम से रसिक को रस-प्रतीति नहीं होती। रसिक की दृष्टि से विभावादि की रस-निरपेक्ष रूप में सत्ता ही नहीं है। इन खंडों की कल्पना केवल अध्ययन की सुविधा के लिए की जाती है। रस के लोक-भिन्न स्वरूप के विवेचन के संदर्भ में यही चर्चा रस की 'समूहालम्बनता' के रूप में की जाती है। रस-सामग्री ही नहीं गुणालंकार, शब्दार्थ आदि की प्रतीति भी रसिक तो क्या कवि को भी खंड रूप में नहीं होती। काव्यास्वाद की दृष्टि से देखें तो कहना होगा कि उसमें शास्त्रतः विवेच्य किन्तु प्रतीतितः अविभाज्य घटक दिखाई देते हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार जो प्रतीति के धरातल पर अखंड बुद्धि से आस्वाद्य है, वही शास्त्रीय विवेचन के धरातल पर अपोद्धार बुद्धि से विभाजित हो जाता है।[2]

रसास्वाद को अखंड अनुभूति मानने का कारण वेदान्त की वाक्यबोध की अपनी उपपत्ति है। वेदान्त के सिद्धान्त वाक्य या 'महावाक्य' परब्रह्म का बोध कराते हैं। श्रुति वाक्यों से उत्पन्न अखण्ड बुद्धि के द्वारा वेदान्तियों के अनुसार परब्रह्मात्मक अर्थ का ज्ञान होता है। अर्थ का बोधक सम्पूर्ण वाक्य ही होता है, और उसके विभाग कल्पनामात्र होते हैं। वेदान्त के इस अखंडार्थ-बोध को स्फोटवादी वैयाकरणों ने भी स्वीकार किया है। वे भी अखंड बुद्धिग्राह्य स्फोट को ही वाक्यार्थ और उसके पद-पदार्थ विभाग को

---

१. (क) भाविते च रसे तस्य भोगः···एव द्रुतिविस्तारविकासात्मा रजस्त-मोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमयनिजचित्स्वभावनिर्वृत्तिविश्रान्तिलक्षणः···।

—ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० १९३

(ख) रसो···रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद्द्रुतिविस्तार विकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशा नन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन·· भुज्यत इतिः

—अभिनवभारती भाग-१ पृ० २७७

२. अखण्डबुद्धिसमास्वाद्यमपि काव्यमपोद्धारबुद्ध्या यदि विभज्यते।

—ध्वन्यालोकलोचन, पृ० २३

कल्पनामात्र तथा व्युत्पत्ति दशा तक सीमित मानते हैं ।

इन आचार्यों ने रस की अखंडता की इतनी आग्रहपूर्वक प्रतिष्ठा की कि काव्यार्थ और रसानुभूति के बीच कोई बाधा या विघ्न स्वीकार नहीं किया । ध्वनिवादी आचार्यों ने तो रस-व्यापार को ही असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के अन्तर्गत रखा और रसानुभूति को 'झटिति प्रत्यय' कहा । अभिनवगुप्त के मतानुसार काव्यगत विभावादि के माध्यम में होने वाली रसप्रीति में सहृदय के चित्त में रस-सामग्री से व्यंग्य काव्यार्थ और रसास्वाद के बीच का क्रम लक्षित नहीं होता, इसीलिए रसादिध्वनि को वे असंलक्ष्यक्रम-ध्वनि के अन्तर्गत रखते हैं । काव्य-पक्ष में शब्दार्थ के व्यापार की दृष्टि से जो असंलक्ष्य-क्रमध्वनि है, सहृदय-पक्ष में रसास्वाद की दृष्टि से वही 'झटितिप्रत्यय' है, जिसका अर्थ है काव्य पढ़ने के समकाल ही रस-प्रतीति होना । व्यंजना व्यापार के द्वारा रसानुभूति की प्रक्रिया समझाने के लिए ही ध्वनिवादी आचार्यों ने रसास्वाद का निरूपण झटितिप्रत्यय के द्वारा किया । स्वयं आनन्दवर्द्धन ने भी कहा था कि रस आदि का प्रत्यय विभावादि के वाक्यों के समकाल ही अवभासित होता है ।[1]

आनन्दवर्द्धन ने काव्य-रसिक की बुद्धि के दो धर्म—सामान्यत्व से ग्रहण करना तथा काव्य-प्रतीति में विश्रान्त होना—स्वीकार किए हैं । और ऐसी बुद्धि को वे 'तत्त्वार्थ-दर्शिनी' बुद्धि कहते हैं । इसके अतिरिक्त रसिक के तन्मयीभवन के लिए तीसरी आवश्यकता है अनुमानपटुता की । ये सब साधन हैं, साध्य है झटितिप्रत्यय अर्थात् तत्काल प्रतीति ।[2] यदि यह झटितिप्रत्यय रसिक को सिद्ध न हुआ तो रसावेश भी सम्भव नहीं । यही मम्मट के शब्दों में 'सद्यः परनिर्वृत्ति' है । अभिनवगुप्त ने अन्ततः इसे आनन्द निर्वृत्ति और चमत्कार का पर्याय स्वीकार किया है ।[3]

रस-प्रतीति अपनी अखण्डता और निर्विघ्नता में एकघन भी है ।[4] रसास्वाद के

---

१. **रसादिरर्थो हि सहेव वाच्येनावाभासते ।**

—ध्वन्यालोक, पृ० १८८

२. **तद्वत्सचेतसां सोऽर्वो वाच्यार्थविमुखात्मनाम ।**
बुद्धौतत्वार्थदर्शिन्यांझटित्येवावभासते ।। वही १।१२, पृ० १०२

—धवन्यालोक, पृ० ३७

३. **आनन्दो निर्वृच्यात्मा चमत्कारापययिः ।**
(ख) प्रतिपत्ते एव स्वसंविच्चर्वणरूपस्यैववघनस्य

—अभिनवभारती, भाग-१० पृ० २७६

४. **(क) अतएव सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव । प्रकाशस्यानन्दसारत्वात । तथा हि एक घनशोक संविच्चर्वणेऽपि लोके स्त्रीलोकस्य हृदयविश्रान्तिर-न्तरॉय शून्य विश्रान्ति शरीरत्वात ।**

—वही, पृ० २८५

(ग) शुद्धपरयोगिगतस्वात्मानन्दैकघनानुभवाच्च विशिष्यते ।

—वही, पृ० २८५

लिए एकघन विशेषण का प्रयोग अभिनवगुप्त ने इस अनुभूति की निर्विघ्नता, अखण्डता और सघनता की व्यंजना के लिए किया है, जिससे प्रमाता की पूर्ण तन्मयता या तल्लीनता की व्यंजना भी होती है। रसानुभूति एकघन इसलिए हैं कि (१) उसमें अनेक घटकों का संघटन होता है, (२) यह अनुभूति निर्विघ्न एवं अखण्ड होती है, (३) यह अनुभूति सघन होती है। श्री आनन्द कुमारस्वामी के अनुसार एकघनता बहुविध तत्त्वों का दिकगत-विस्तार-निरपेक्ष घनीभूत रूप है।

इस प्रकार एकनघता संवित् की एक विशेष अवस्था है जिसमें चित् किसी प्रकार के विघ्न से बाधित नहीं होता।

४—रस चिन्मय, अन्यज्ञान-रहित और स्वप्रकाश है—रस को भट्टनायक ने आत्मचैतन्य से प्रकाशित आनन्दमयी चेतना के रूा में स्वीकार किया है। जब वे उसे स्वप्रकाशानन्दन कहते हैं तो उनका आशय आत्म के चैतन्यानन्द से होता है। लौकिक अनुभूति से रस की भिन्नता का विवेचन करते हुए यह स्पष्ट किया जाता है कि वह ऐन्द्रिय बोधों से एवं लौकिक अनुभवों से भिन्न है और इस अर्थ में अलौकिक है कि वह स्वसंवित का आस्वाद है। यह आस्वाद सत्त्व के उद्रेक की स्थिति में होता है, अतः यह चिन्मय है, आत्मास्वाद होने के कारण यह स्वप्रकाशित है। रसास्वाद आत्मीलनता और तन्मयता की स्थिति है। अतएव उसमें सहृदय देश-काल ममत्व और परत्व-संबंधी अन्य ज्ञानों से तो मुक्त रहता ही है, उसकी अहंता का भी परिहार हो जाता है। तन्मयीभवन की इस स्थिति में और तो और उसे अहं का बोध भी नहीं रहता। रसास्वाद आत्मलीनता की आत्मास्वाद में की स्थिति है, अहं के बोध या आत्म के ज्ञान की नहीं। इस प्रकार संवित् का यह आस्वाद आत्मानुभव होते हुए भी अहंकार का बोध या साक्षात्कार नहीं है। इस प्रकार अन्य ज्ञान से राहित्य जहाँ आत्मेतर तत्त्वों के परत्व के ज्ञान से शून्य स्थिति का बोधक है, वहाँ आत्मस्थ एवं स्वकीय तत्त्वों के ज्ञान के परिहार का भी।

५. रस लोकोत्तर-चमत्कारप्राण है : रस की लोकोत्तरता की परिणति चमत्कार-प्राणता में होती है। इतना ही तो निश्चित है कि रस न लौकिक अनुभूति है न आध्यात्मिक, किन्तु उस अनुभूति में अन्तर्निहित चमत्कृति लोक-भिन्न अवश्य है। रसास्वाद चमत्कारप्राण है और यह चमत्कृति लोकोत्तर कोटि की है। इस प्रकार जब संस्कृत के आचार्यों ने रस को लोकोत्तर-चमत्कारप्राण कहा तो लोकोत्तर का प्रयोग चमत्कार के विशेषण-रूप में किया और चमत्कार का प्रयोग सौन्दर्यानुभूति के अर्थ में किया। चमत्कार, इन आचार्यों के अनुसार रसानुभूति या रस-चर्वणा है।[1] क्रमशः जगन्नाथ तक आते-आते लोकोत्तरता का प्रयोग चमत्कार के पर्यायरूप में होने लग गया।[2] क्योंकि अद्भुत या विस्मयकर होने के लिए लोक-विलक्षणता अर्थात् सामान्य से भिन्नत

1. The term 'Camatkara' means aesthetic experience, the state of fruition of the Rasa. Camatkara is aesthetic experince of Tasting.
२. चमत्कारत्वापरपर्याय……। रसनंगाधर पृ० १०

अनिवार्य है। जो चमत्कारक होगा वह लोकभिन्न भी अवश्य होगा, साथ ही चमत्कारित्व का सौन्दर्य के साथ अविभाज्य संबंध है। 'चमत्कारित्वात्' सुन्दरः, अर्थात् सुन्दर वही है जो चमत्कृत करे, ऐसा जयरथ का मत है। आनन्दवर्द्धन[1] ने भी काव्यगत सौन्दर्य की व्याख्या करते हुए उसे चमत्कार रूप माना है। उनका कथन है कि सहृदय को जिस वस्तु के संबंध में नवीन स्फुरण का प्रत्यय हो, आस्वादमय चमत्कार जान पड़े, उस वस्तु को रम्भ (सुन्दर) कहा जाता है।' अर्थात् विषय-पक्ष में जो सौन्दर्य है विषयिपक्ष में वही चमत्कार है। सौन्दर्य वस्तुधर्म है और चमत्कृति आस्वादरूप, अतः चेतना का धर्म है। किसी अनुभव में जब चमत्कृति का भाव विद्यमान रहता है, तो उसका अर्थ यह है कि वह चमत्कृति सौन्दर्य के प्रति है। यह सौन्दर्य लोकोत्तर अर्थात् लोक-विलक्षण का नवीन स्फुरण का प्रत्यय कराने वाला है और उसके प्रति सहृदय की चेतना में होने वाली प्रतीति विस्मयाभिभूत एवं आस्वाद-रूप होती है।

विद्वानों ने चमत्कार के उपर्युक्त अर्थ की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या दो रूपों में की है, एक तो, 'चमत्+कार' के संयोग से निर्मित जिसमें 'चमत्' शब्द विस्मय या आश्चर्य का बोधक है और 'कार' चेतना की उक्त स्थिति के कर्तृत्व का या प्रक्रिया का। इस प्रकार चमत्कार शब्द में किसी विषय के प्रति, जो सहसा ही हमारी चेतना को अभिभूत या आक्रान्त कर लेता है, विस्मय या आश्चर्य का भाव सदैव विद्यमान रहता है। परम्परागत मत के अनुसार 'चमत्' की व्युत्पत्ति 'चम' से स्वीकार की गई है, जिसका अर्थ है भोग या आस्वादजन्य आनन्द। अतः 'चमत्' का अर्थ हुआ, किसी विषय का विशेषकर सौन्दर्यात्मक या रहस्यात्मक आस्वादजन्य आनन्द में तन्मय होना। अभिनवगुप्त ने उक्त दोनों व्युत्पत्तियों को स्वीकृति दी है। उनकी व्याख्या के अनुसार चमत्कार पर निरपेक्ष आत्मविश्रान्ति की स्थिति है। चमद् विशिष्ट कार्य का द्योतक है। इस शब्द का अर्थ है निर्विघ्न आस्वाद। इस कार्य की घटना आन्तरिक प्रक्रिया के रूप में होती है अतः काव्य और नाटक से होने वाला निर्विन रसास्वाद भी एक प्रकार का चमत्कार है। चमत्कार, इस प्रकार, चेतना की विशिष्ट अवस्था है जो निर्विघ्न होती है, जिसमें भोक्ता स्वव्यक्तित्व की विशिष्टता का पूर्ण परिहार कर देता है। कदाचित् इसी दृष्टि से विश्वनाथ ने चमत्कार को एक प्रकार का आत्मविस्तार स्वीकार किया है।[2]

चमत्कार का प्रयोग प्रत्यभिज्ञादर्शन और अभिनवगुप्त से पूर्व 'योगवाशिष्ठ' में 'चित्तचमत्कार के लिए किया गया है, जो प्रो० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के अनुसार 'सेल्फ़

---

१. **यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किंचित् ।**
सफुरितमिदमितीयं बुद्धिरम्युज्जिही ते ।।
सफुरणय काचिदिति सहृदयानां चमत्कृतिरुपद्यते ।
ध्वन्यालोक, ४।१५ पृ० ५९८ ।

२. **चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः ।**
--साहित्यदर्पण, अध्याय, ३, पृ० ४९

फ्लेशिंग ऑफ थॉट है।[1]

काव्यास्वाद के लिए 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग संभवत: दर्शन के क्षेत्र से ही अपनाया गया है, ठीक उसी प्रकार जैसे काव्यानन्द के लोकभिन्न स्वरूप की व्याख्या उसे ब्रह्मस्वाद-सहोदर कहकर की गई और उसे ब्रह्मानन्द का समकक्षी आनन्द ठहराया गया। परमानन्द की अनुभूति से होने वाली चित्तचमत्कृति के समकक्ष ही रस के प्रसंग में चमत्कार का प्रयोग किया गया। 'अग्निपुराण' के अनुसार—

"वेदान्त में कहा गया है कि ब्रह्म अक्षर है, परम है, सनातन है, अज्ञ है, विभु है, अद्वितीय है, चैतन्य है, ज्योति है और ईश्वर है। उसका सहज आनन्द जब कभी व्यक्त होता है तो उसकी वह 'व्यक्ति' चैतन्य, चमत्कार अथवा रस कहलाती है।[2]

प्रत्यभिज्ञादर्शन में चमत्कार का व्यापक अर्थ में प्रयोग चित्त के समस्त रूपों के लिए किया जाता है, उस मूल चेतन-तत्त्व के लिए जो आत्मा या चेतन को जड़ से अलग करता है। अभिनवगुप्त की 'परात्रिंशिका-विवरण' के अनुसार चमत्कार का सर्वथा अभाव ही जड़ता है और सहृदयता चमत्कार के आवेश का आधिक्य है। इसलिए जिनका हृदय ब्रह्मनन्द अथवा काव्यानन्द के अनन्त भोग का अभ्यासी है, वही अतिशय चमत्कार का स्वाद जानता है।[3]

संक्षेप में संस्कृत के आचार्यों ने चमत्कार शब्द का प्रयोग सौन्दर्यास्वाद के पर्याय रूप में किया। काव्य के संदर्भ में जब विभावादि का संयोग होता है, सहृदय की चेतना में आस्वाद-रूप चमत्कार निष्पन्न होता है। यह चमत्कार एक तो आस्वाद-रूप होता है, दूसरे विस्मय-रूप। रस का चमत्कारप्राण कहने का तात्पर्य यही है।

आनन्दरूपता—रस का आस्वाद सुख रूप है अथवा दु:खरूप, इस संबंध में संस्कृत के आचार्यों में मत-भिन्नता है। नाट्यशास्त्र के व्याख्याता अभिनवगुप्त सभी रसों को सुखरूप मानते हैं। उनका कथन है कि सब रस सुख-प्रधान होते हैं, क्योंकि स्वसंविद् की चर्वणा ही उनका रूप है तथा यह चर्वणा एकघन एवं प्रकाशमयी होती है और आनन्द इसका सारभूत तत्त्व है। सुख अन्तराय शून्य विश्रान्ति रूप होता है और दु:ख अविश्रान्ति-रूप। इसीलिए कपिल आदि सांख्य दार्शनिक दु:ख को रजोवृत्तिका धर्म मानते हुए चांचल्य को ही दु:ख का प्राण मानते हैं। रसास्वाद के क्षणों में सहृदय का चित्त एकघन-संविति में विश्रान्त होता है। अतएव सभी रस आनन्द रूप होते हैं।[4]

---

१. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, जिल्द २, पृ० २३६

२. अग्नि पुराण ३३६।१-२ रेनीरो नोली द्वारा उद्धृत पृ० ७३।

३. सर्वतोह्ययचमत्कारे जड़तैव, अधिकचमत्कार वेश एवं वीर्यक्षोभात्सा सहृदयता उचयते, यस्यैव एतद् भोगासंगाभ्यास निर्वेशितानन्तब्रह्मकवीर्य ब्रह्मितं हृदयं तस्यैव सातिशय चमत्क्रिया।

—रेनीरो नोली : द द सुथे० एक्स० अभि०, पृ० ७३

४. सर्वेऽभ्यो सुखप्रधानाः। स्वयविच्चर्वणारूपस्यैक्घनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात्।···अन्तरायशून्यविश्रान्तिशरीरत्वात सुखस्य। अविश्रान्तिरूपतैव

उक्त मत भरत के टीकाकार अभिनवगुप्त का है। अभिनवगुप्त को सभी रसों की आनन्दरूपता की साग्रह व्याख्या इसलिए करनी पड़ी कि उनसे पूर्व कुछ रसों को दुःखरूप मानने की पद्धति भी चल पड़ी थी। कुछ रसों को दुःखात्मक सिद्ध करने वाले आचार्यों ने अपने मत का आधार भरत के रस-विवेचन को ही बनाया। भरत ने रसास्वाद की तुलना 'नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं' से प्राप्त होने वाले रसनास्वाद से करते हुए रसास्वाद और रसनास्वाद दोनों को फल सुमनस् प्रेक्षक एवं पुरुष के लिए हर्षादि का अनुभव माना है।[1]

इसके अतिरिक्त भरत के 'स्थाय्येव रसः' के आधार पर भी स्थायी और रस में अभेद मानने की परम्परा प्रचलित हुई। रस को सुख-दुःखात्मक मानने वाले आचार्यों ने कहा कि भरत जब 'हर्षादि' कहते हैं तो वहाँ 'आदि' पद हर्ष से भिन्न दुःखात्मक अनुभव का वाचक है। क्योंकि स्थायी भावों को भरत ने उभय रूप माना है, अतः हर्षादि का अभिप्राय यह हुआ कि स्थायी के अनुसार वह आस्वाद हर्ष से विपरीत भी हो सकता है। इस व्याख्या का खंडन असंभव नहीं। जिस दृष्टान्त का उपयोग भरत मुनि ने किया है,वही रस की आनन्दरूपता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। जिस भोजन का उदाहरण वे देते हैं उसका आस्वाद अप्रीतिकर या अरुचिकर होने का प्रश्न ही नहीं। भोजन के प्रसंग में हर्षादि से अभिप्राय हर्ष की सजातीय अनुभूतियों—परितोष, तृप्ति आदि से है, उसी प्रकार काव्य के संदर्भ में भी रसास्वाद का रूप आनन्दमय के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

रसों सुख-दुःखात्मक मानने की भ्रान्ति का जन्म सम्भवतः हर्षादि प्रयोग से उतना नहीं हुआ जितना 'स्थाय्येव रसः' कहने से। इसके अतिरिक्त भी नाटक की स्वरूप-व्याख्या करते हुए जब भरत ने उसे लोकवृत्त का अनुकरण कहा और साथ ही यह भी कि जिस प्रकार लोक-स्वभाव सुख-दुःख समन्वित होता है, उसी प्रकार नाटक में उसका अभिनय किया जाता है।[2]

दुःखम् : तत एव कापिलैर्दुःखस्य चांचल्यमेव प्राणत्वेनोक्तं रजोवृत्तितां वदद्भिरित्यानन्दरूपता सर्वरसानाम्।

—अभिनवभारती, भाग १, पृ० २८२

१. यथा हि नानाव्यं जनसंस्कृतमन्नं भुंजाना रसानास्वदयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यंजितान्। वांगसत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाःहर्षादी चधिगच्छन्ति। तस्मान्ना ट्यरसा इत्यभिव्याख्याता। —नाट्यशास्त्र, भाग, १, पृ० २८८-८९

२. नानाभावोपसम्पन्न नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मयाकृतम्॥
योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखःदुखसमन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यमिधीयते॥

—नाट्यशास्त्र, १।११२, पृ० ११६

यह सुख-दुःखात्मक लोक-स्वभाव नाटक में अभिनीत होकर किस प्रकार आनन्द-प्रद बन जाता है, इस प्रक्रिया का स्पष्ट व्याख्यान करने की आवश्यकता सम्भवतः भरत-मुनि ने नहीं समझी। इसलिए परवर्ती आचार्यों में रस को सुख-दुःखात्मक और एकान्त आनन्दरूप मानने वाली दो परम्पराएँ प्रचलित हुईं। उनमें मतभेद का आधार यही था कि एक परिपुष्ट स्थायी को ही रस मानती थी और दूसरी रस को स्थायी से विलक्षण स्वीकार करती थी।

पहली में दण्डी, वामन, लोल्लट, श्रीशंकु, सांख्यवादी भोज और जैन आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र आते हैं। रस को केवल आनन्दरूप मानने वाली परम्परा में—आनन्द-वर्द्धन, भट्टतोत भट्टनायक, अभिनवगुप्त मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, मधुसूदन सरस्वती एवं जगन्नाथ आते हैं।[1] इस विषय में प्रो० देशपाण्डे का मत है कि सुख-दुःखवादी परम्परा ध्वनि सिद्धान्त को, अतएव व्यंजना व्यापार को अस्वीकार कर लौकिक प्रमाणों की सहायता से ही रस की सुख-दुखात्मकता सिद्ध करने का प्रयास करती है, जबकि ध्वनि-वादी रस का भेदक लक्षण चर्वणा या आस्वाद्यता मानते हुए उसे 'स्थायिविलक्षण' स्वीकार करते हैं।[2]

स्थायी व्यक्ति-सम्बन्ध है। सुख-दुःखवादी आचार्यों की मान्यता है कि इसी लौकिक स्थायी का परितोष रस है और इसीलिए रस भी लौकिक, परिणामतः सुख-दुःख रूप है। इस समस्या का तर्कपुष्ट व्याख्यान शैव-परम्परा के आचार्यों ने किया और स्थापना की कि रस जो 'हृदयसंवाद आस्वाद' है, लौकिक भूमिता पर होता ही नहीं। वस्तुतः रसिक यदि लौकिक भूमिका का विगलन नहीं करता तो वह रसविघ्न है, लौकिक-सृष्टि सुख-दुःख मोहात्मक है, प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप है एवं व्यक्ति-सम्बद्ध है। इसके विप-रीत रस साधारण्य-सम्बद्ध है, चित्त की विश्रान्ति के कारण आनन्द-रूप है। वह अखण्ड 'आनन्दघनसंवेदन' का ही आस्वाद है। कवि-सृष्टि ह्लादैकमयी है।

अभिनवगुप्त के तर्क से कवि-सृष्टि इसलिए आनन्दरूप है कि स्वात्मविश्रान्ति ही आल्हाद का स्वभाव है। वही आनन्दरूप है और कवि स्वतन्त्रता की निर्देशक है।[3] काव्यरचना को अभिनवगुप्त अनन्य-परतन्त्र मानते थे। उसके अनुसार आनन्द से उच्छ-लित कविशक्ति स्वयं ही अपना निर्माण करती है।[4] जो काव्य-सृष्टि कवि की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति का चमत्कारमय वैखरी रूप है, वह सहज आनन्दरूपिणी ही होगी। सृजन पक्ष में जो काव्य सहज आनन्द रूप है, वही आस्वाद के रूप में भी कैसे एकान्त आनन्द रूप होता है, इसकी व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने हृदय को स्पन्दनशक्ति से युक्त स्वीकार किया है। यही स्पन्दन-शक्ति आनन्द शक्ति है। सहृदय का लक्षण वे इसी आनन्द-

१. ग० त्र्यं० देशपाण्डे, भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० ३३७, ३४०

२. वही पृ० ३४१

३. आनन्द : स्वातन्त्र्यम् स्वात्मविश्रान्तिस्वाभावाल्हादप्रधास्यात।
ग० त्र्यं देशपांडे : भारतीय साहित्य शास्त्रांतील सौंदर्य।
—कल्पना, पृ० १७

४. आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना ...। —वही, पृ० १७

शक्ति को मानते हैं। मधुर गीत आदि के श्रवण से तथा चन्दनादि के स्पर्श से ताटस्थ्य का परिहार होकर हृदय की जो स्पन्दमान अवस्था होती है, उसी को आनन्द शक्ति कहते हैं, जिसके कारण मनुष्य सहृदय कहलाता है।[१]

काव्य के श्रवण के क्षणों में भी सहृदय को इसी आनन्द स्पन्दन का अनुभव होता है, जिसका तन्मयीभवन होकर देहमान नहीं छूटता, वे अहृदय हैं।[२]

प्रचलित मत है कि अभिनवगुप्त सभी रसों को आनन्द रूप मानते थे। विद्वानों ने प्रायः यह स्वीकार कर लिया है कि जब वे रस को आनन्द रूप कहते हैं तो आनन्द सम्बन्धी उनकी अवधारणा सुखात्मक ही है। यह प्रश्न विचारणीय है। अभिनवगुप्त की दार्शनिक मान्यता के प्रकाश में इसकी व्याख्या कदाचित् सम्भव है। अभिनवगुप्त ने 'तन्त्रालोक' में स्पष्ट किया है कि आनन्द-शक्ति के स्पन्द का बोध ही 'चमत्कार' है और कवि और रसिक का हृदय-संवाद इस 'स्पन्द' या 'चमत्कार' की भूमि पर होता है। कवि और रसिक दोनों के संदर्भ में इस आनन्द-शक्ति का आविष्कार काव्य तथा कलाओं की सौंदर्य भूमि पर होता है। इस स्पन्द या चमत्कार के तारतम्य से ही सौन्दर्य के अनुभव तथा सौंदर्य वस्तु का मूल्य निश्चित किया जाता है।

अभिनवगुप्त ने आनन्द की आठ कोटियाँ मानी हैं—प्रागानन्द, निजानन्द, निरानन्द, परानन्द, ब्रह्मानन्द, महानन्द, चिदानन्द और जगदानन्द। इनमें से चमत्कार की भूमिका वे प्रागानन्द को मानते हैं। आनन्द की इस भूमि पर पूर्णता का संस्पर्श होता होता है, पूर्णता में प्रवेश करने की ओर आकर्षण होता है, किन्तु प्रवेश नहीं हो पाता। प्रागानन्द आनन्दमय विश्व का प्रवेश-द्वार है। काव्य का रसास्वादन करते समय रसिक भी इसी चमत्कार भूमि पर आरूढ़ होता है। इस अवस्था में देहबन्ध छूट जाने के कारण निर्विघ्न संविन्मय प्रतीति होती है। इसी प्रकार के रसावेश के क्षणों में सहृदय भी इसी चमत्कार भूमि पर स्थित रहकर रसास्वादन करता है।[३]

यह बात ध्यान देने की है कि अभिनवगुप्त जहाँ इस आनन्द को ब्रह्मानन्द और लौकिक आनन्द से भिन्न मानते हैं वहाँ इसे चिदानन्द से भी पृथक् करते हैं, अर्थात् वे उसे विशुद्ध चित् का आस्वाद नहीं मानते। रस के प्रसंग में दुःखरूपता या सुखरूपता का प्रश्न ही नहीं उठता। सुख और दुःख लौकिक अनुभूतियों के वाचक शब्द हैं। इसीलिए आचार्यों ने रस के संदर्भ में जहाँ अलौकिक कहा है वहाँ उसके लिए आनन्द शब्द का प्रयोग भी किया है। यह आनन्द लौकिक दुःख से जितना भिन्न है, उतना ही सुख से भी। रीति की लौकिक अनुभूति और श्रृंगार रस की अनुभूति से प्राप्त सुख और दुःख का प्रश्न उठाते हैं वहाँ संदर्भ सहृदय के स्थायी भावों का होता है और सम्भवतः इसी दृष्टि

१. तथा हि मधुरे गीते स्पर्शे वा चन्दनादिके
माध्यस्थविमे यस्सो हार्दये स्पन्दमानता
आनन्दशक्तिः। सैवोक्ता यतः सहृदयो जनः। तन्त्रालोक ३।२१०

२. येषां न तन्मयीभूतिस्ते देहादिनिमज्जनम।
अविदन्तो भग्नसंविन्मानस्त्वहृदया इति ॥ वही, ३।२४०

३. ग० श्यं देशपांडे : भारतीय साहित्य शास्त्रांतील सौंदर्य—कल्पना पृ० ३६

से उन्होंने निर्वेद के अतिरिक्त सभी स्थायी भावों के उभात्मक स्वरूप का विवेचन किया है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त के मन में इस प्रश्न को लेकर द्वन्द्व अवश्य था। वे सुखात्मक स्थायी भावों के आधार पर निष्पन्न रसों में सुख और दुःखात्मक से दुःख की अनुभूति स्वीकार नहीं करते। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि शोक भी संवित् की चर्वणा के कारण निर्विघ्न विश्रान्ति रूप होने से आनन्द-रूप होता है, और इसी प्रकार अन्य सभी रस भी।[1] परन्तु उसी के साथ वे यह भी लगे हाथों कह देते हैं कि उपरंजक विषयों के कारण वीर रस के समान उनमें यह भी दुःख का स्पर्श रहता है, क्योंकि यह क्लेश सहिष्णुतादि-प्रधान होता है। इस प्रकार रति आदि में भी प्राधान्य होता है।[2] सभी रसों की आनन्दरूपता घोषित करते हुए भी आचार्य कदाचित् 'सर्वेऽमी सुख-प्रधानाः' का साभिप्राय प्रयोग करते हैं। यहाँ 'सुख की प्रधानता' से तात्पर्य रस-विशेष में सुख के मात्राधिक्य से होता है, दुःख के सर्वथा निषेध से नहीं। वे उसे ब्रह्मास्वाद का समकक्षी तो मानते हैं, शुद्ध आत्मास्वाद नहीं, साथ ही उसे 'चिदानन्द' से भिन्न 'प्रागानन्द' कहकर शुद्ध चित् का आस्वाद भी नहीं मानते। इसलिए वह विशुद्ध आनन्दरूप भी नहीं है। यह आनन्द चिद्-विशिष्ट भाव का आस्वाद है। ब्रह्मास्वाद या विशुद्ध आत्मास्वाद सच्चिदानन्द रूप होता है। रस सत् इसलिए नहीं कि वह नित्यानित्य है, चित् इसलिए नहीं कि वह चिद्-विशिष्ट भाव है, अतएव उससे प्राप्त आनन्द भी विशुद्ध आत्मास्वाद नहीं है। वह चिद्-विशिष्ट भाव का—संवित् का आस्वाद है जिसमें भाव के स्वरूप के अनुसार दुःख का अंश मिश्रित रहता है।

प्रश्न उठता है कि भाव का यह अंश रसास्वाद के क्षणों में आनन्दरूप कैसे हो जाता है? इसका उत्तर है कि दुःखात्मक स्थायी भाव भी आस्वाद रूप या चर्वणारूप होकर सुखदायक हो जाते हैं, इसके साक्ष्य के लिए कवि कालिदास की निम्न पंक्तियाँ अप्रासंगिक न होंगी।

तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषो सद्मसु चित्रवत्सु।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु संचिन्त्यमानानि सुखान्यभुवन।[3]

वे दोनों उस भवन में इच्छानुसार विलास करते थे जिसमें वनवास के समय चित्र टँगे हुए थे। उन चित्रों को देखकर वनवास के दुःखों का स्मरण करके भी उन्हें सुख ही मिलता था।

अंततः अभिनवगुप्त ने भी यही स्वीकार किया था कि स्थायी भावों का, जो सामान्यतः सुखदुःखात्मक होते हैं, काव्य में अत्यन्त आह्लादकारी संवित् की चर्वणा या

---

१. **एकघनशोकसंविच्चर्वणेऽपिलोके स्यीलोकस्य हृदयविश्रान्तिरन्तरायशून्य विश्रान्ति शरीरत्वात्...इत्यानन्दरूपता सर्वरसानाम्।**
—अभिनवभारती, भाग-१, पृ० २८२

२. **किन्तुपरंजकविषयवशात्तेषामपि कटु किं नास्ति। स्पर्शोवीरस्य। सहि क्लेशसहिष्णुतादिप्राण एव। एवं रत्यादीनां प्राधान्यम्।** वही पृ० २८२

३. **रघुवंश, १४।२५**

आत्मास्वाद के रूप में सहृदय द्वारा भोग किया जाता है।[1]

अभिनवगुप्त का यह मत परवर्ती आचार्यों में मम्मट, धनिकधनंजय, पंडितराज आदि के द्वारा मान्य हुआ। पंडितराज जगन्नाथ ने रसों की आनन्दरूपता के पक्ष में दो प्रमाण दिए : १. श्रुतिसम्मति, तथा २. सहृदय-प्रत्यक्ष।[2] वेद-वाक्य को तर्कातीत रूप में ग्रहण कर प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हुए उन्होंने तर्क दिया कि यदि सहृदयानुभूति इस बात का प्रमाण है कि करुण रस-प्रधान काव्यों से भी केवल सुख ही प्राप्त होता है, तब कार्य के अनुरोध से कारण की कल्पना करते हुए यह भी मान लेना चाहिए कि जिस प्रकार काव्य का लोकोत्तर व्यापार आह्लाद-जनक होता है, उसी प्रकार दुःख-प्रतिबन्धक भी।[3]

दुःख-सुख की उपलब्धि कैसी होती है, इसकी व्याख्या करते हुए पण्डितराज ने इसी को अलौकिक काव्य-व्यापार की महिमा कहा है जिसके द्वारा ज्ञात किए गए अरमणीय शोक आदि पदार्थ भी अलौकिक आनन्द उत्पन्न करने लगते हैं।[4] कहना न होगा कि यह अलौकिक व्यापार व्यंजना-व्यापार है।

(क) २. रस सिद्धान्त के अन्तर्गत काव्यास्वाद का स्वरूप*

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र की मीमांसा के अन्तर्गत रस का विवेचन किया था। उनकी दृष्टि लौकिक, सहज, व्यावहारिक एवं यथार्थवादी थी। उन्होंने रंगमंच पर प्रस्तुत उत्कृष्ट कलात्मक दृश्यों में रस-घटना की प्रकल्पना की थी। इसलिए वे काव्य-व्यापार के दो ध्रुवों —काव्य और आस्वादक —में से द्वितीय की चेतना और उनके अन्तर्जगत् की अनुभूति को सम्यक् महत्त्व न दे पाए। उनकी वस्तुमुखी दृष्टि ने रस को आस्वाद्य पदार्थ के रूप में देखा तथा उसकी स्थिति अनुकार्य और नट में स्वीकार की। रस की इस वस्तुमुखी व्याख्या का इतिहास भामह तक परिव्याप्त है। भरतसूत्र के

---

*डॉ० कृष्णबल

१. विलक्षणाकारसुखदुःखादिविचित्रवासनानुवेधोपनतहृद्यतातिशयसंविच्चर्वणात्मनाभुंजते।

—अभिनवभारती, भाग-१, पृ० २९०।

२. रसो वै सः 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति'
इत्यादिश्रुतिः, संकलसहृदयप्रत्यक्षं चेति प्रमाणद्वयम्।

—रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृ० ९१।

३. सत्यम श्रृंगारप्रधानकाव्येभ्य इव, करुणाप्रधानकाव्येभ्योऽपि यदि केवलाह्लद एव सहृदय-हृदयप्रमाणकः, तदा कार्यानुरोधेन कारणस्य कल्पनीयोवाल्लोकोत्तर व्यापारस्यैवाह्लदप्रयोजकत्वमिव, दुःखप्रतिबन्धकत्वमपि कल्पनीयम। —वही, पृ० १०६

४. अयं हि लोकोत्तरस्य काव्यव्यापारस्य महिमा, यत्प्रयोज्या
अरमणीय अपि शोकादयः पदार्था आह्लदमलौकिकं जनयन्ति।

—वही, पृ० १०९

व्याख्याताओं तथा रस के स्वतन्त्र विवेचकों ने सहज मनोविज्ञान तथा विभिन्न दार्शनिक मतो के प्रकाश में काव्यास्वाद के स्वरूप को अधिक विस्तार एवं सूक्ष्मता के साथ-व्याख्यायित और विश्लेषित किया। भरतसूत्र के प्रथम उल्लेखनीय व्याख्याता भट्ट-लोल्लट ने रस को पदार्थरूप ने मानकर अनुभूतिरूप माना।[1] उनका यह दृष्टिकोण यद्यपि भरत की भांति वस्तुमुखी ही है, तथापि कालान्तर में पल्लवित रस-स्वरूप की आत्म-वादी व्याख्या की दिशा में, अस्पष्ट ही सही, यह पहला संकेत था। रस की प्रमातागत व्याख्या की दिशा में प्रथम चरणन्यास भरत-सूत्र के द्वितीय व्याख्याता श्रीशंकुक ने किया उनके अनुसार रस है तो आस्वाद्यरूप ही, किन्तु तट में अनुमित रस की चर्वणा प्रमाता द्वारा ही निष्पन्न होती है।[2] भरतसूत्र के तृतीय व्याख्याता भट्टनायक ने रस-विवेचन के क्षेत्र में युगान्तर प्रस्तुत किया। काव्यास्वादन-प्रक्रिया के विश्लेषण के सन्दर्भ में काव्य-शब्द के तीन व्यापारों—अभिधाकत्व, भावकत्व एवं भोजकत्व··की प्रकल्पना की। मीमांसा पर आधारित भावकत्व व्यापार के अन्तर्गत उन्होंने साधारणीकरण-सिद्धांत की प्रस्थापना की तथा इस व्यापार को प्रमातृ-चेतना को परिबद्ध करने वाली 'मोह-संकटता' का निवारण करने वाला घोषित किया।[3] भट्टनायक ने शैव दर्शन से प्रेरित भोजकत्व व्यापार के अन्तर्गत काव्यानुभूति के अर्थ में "निजसंविद्विश्रांति"[4] का प्रयोग किया और इस प्रकार सामाजिक को भावित रस का उपभोक्ता बताया।[5]

भरत के रस-सूत्र के चतुर्थ व्याख्याता आचार्य अभिनवगुप्त ने रसानुभूति को भट्टनायक के द्वैताधृत भोगवाद के स्थान पर अद्वैत-प्रेरित अभिव्यक्तिवाद की दार्शनिक भूमिप्रदान की। भट्टनायक ने रस को भावित (अथवा 'सिद्ध') अनुभूति के रूप में

---

१. **तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचिता रसः। स्थायी त्वानुपचितः। स चोभयोरपि। मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये, अनुकर्तरि च नटे रामदि-रूपतानुसन्धानबलादिति।**
—हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४४३ पर उद्धृत भट्टलोल्लट का मत।

२. **······अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमान-विलक्षणः स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजि-कानां वासनया चर्व्यमाणे रस।"**
—काव्यप्रकाशः (व्या० आचार्य विश्वेश्वर), पृ० १०३ पर उद्धृत शंकुक का मत।

३. **······निविडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणी-करणात्मना,······भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसो,······**
—हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४६४, ६५ पर उद्धृत भट्टनायक का मत।

४. **···सत्वेद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन······**
—हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४६५ पर उद्धृत भट्टनायक का मत।

५. **भावित च रसे तस्य भोग······** —ध्वन्यालोक लोचन (व्याख्याकार डॉ० रामसागर त्रिपाठी), पृ० ३८७ पर उद्धृत भट्टनायक का मत।

स्वीकार किया था, अभिनवगुप्त ने उसे स्पष्टतः चर्वणा-रूप-माना । इसके अतिरिक्त रस को कविगत और 'मूलबीज स्थानीय'[1] मानते हुए तथा सामाजिक को कवि-समान[2] बतलाते हुए काव्यास्वाद की कविगत मूल बीज से विकसित वृक्षरूप-काव्य के फूल[3] के रूप में प्रकल्पना कर उन्होंने कवि और प्रमाता के बीच संचरण-सूत्र का अभूतपूर्व सिद्धांत प्रतिपादित किया । काव्यास्वाद के विवेचन में अभिनव का निश्चय ही यह महान् योगदान है । संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तिम समर्थ आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने रस को अभिनवगुप्त के शैव-मतावलम्बी द्वैतदर्शन से निकालकर भारतवर्ष के मूलभूत-दर्शन वेदान्त की अद्वैतवादी भूमि पर स्थापित किया । अभिनवगुप्त की दृष्टि में रसानुभूति 'निर्विघ्न संवित्' का विश्रान्तिजन्य आत्मास्वाद है, तो पण्डितराज की दृष्टि में वह 'रत्यादि से अवच्छिन्न भग्नावरण चिति' का आत्मास्वाद । इस प्रकार भरत से लेकर जगन्नाथ तक आते-आते रस दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक पद्धतियों में से गुजरता हुआ अंत में एक पदार्थ रूप न रहकर चर्वणा रूप हो गया—आधुनिक शब्दावली में उसका स्वरूप वस्तुगत न रहकर आस्वादमयी अनुभूति में परिणत हो गया, और दूसरे, उसकी अवस्थिति अनुकार्यगत अथवा तटगत के स्थान पर कविगत और अन्त में प्रमातागत मानी गई ।

(२)

संस्कृत काव्यशास्त्र के रामचन्द्र-गुणचन्द्र,[4] रुद्रभट्ट[5] आदि जैनाचार्यों एवं वामन[6] तथा भोज आदि ने यद्यपि रसानुभूति को सुख-दुःखात्मक माना है, तथापि संस्कृत-काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि रस-मीमांसकों ने एक स्वर से उसे अनिवार्यतः आनन्द-

---

१. ···तदेवं मूलबीजस्थानीयः कविगतो रस ।"

—हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५१५

२. कविर्हि सामाजिकतुल्य एव ।

—वही ।

३. ······ततो वृक्षस्थानीय काव्यम् ।·········तत्र फलस्थानीय सामाजिक-रसास्वादः । ··

—वही ।

४. स्थायी भावः श्रितोत्कर्षोविभावव्यभिचारिभिः ।
स्पष्टानुभावनिश्चेयः सुख-दुखात्मको रसः ॥१०६॥

--नाट्य-दर्पण तृतीय विवेक, पृ० २६०

५. करुणाभयानापच्युपादेयत्वं सामाजिकानाम्, रसस्य सुखदुःखात्मकतया तदुभयलक्षणत्वेन उपपद्यते, अतएव तदुभयजनकत्वम् ।

—डॉ० राघवन की पुस्तक 'द नम्बर ऑफ रसाज, पृ० १५५ पर उद्धृत रुद्रभट्ट (रसकलिका) का मत ।

६. करुणाप्रेक्षणीयेषु सम्प्लवः सुखदुःखयो ।

—काव्यालंकारसूत्र, प्रथम अध्याय, तृतीय अधिकरण पृ० १२२

मयी अनुभूति माना है। भरतमुनि द्वारा प्रयुक्त 'हर्षादि' शब्द यद्यपि कुछ काव्य-शास्त्रियों द्वारा हर्षेतर कटु अनुभवों के अर्थ में ग्रहण किया गया है, किन्तु भरत के व्याख्याता अभिनवगुप्त ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में इस मत का खण्डन कर रस को एकान्ततः आनन्दात्मक अनुभूति घोषित किया।[२] इनके अतिरिक्त भट्टनायक, मम्मट, धनिक तथा पंडितराज जगन्नाथ आदि ने भी निर्भ्रान्त शब्दों में रस की ऐकान्तिक आनन्दरूपता का प्रतिपादन किया है। संस्कृत रसशास्त्र के अनुसार रसानुभूति लौकिक स्थायी भावों पर आधृत होती है और वे स्थायी भाव प्रिय-अप्रिय दोनों प्रकार के होते हैं। किंतु रस-प्रक्रिया की विलक्षणता अप्रिय कटुभावों को भी सुखद बना देती है। सुख-दुःखात्मक लौकिक भाव काव्यनिबद्ध होकर अपना विशिष्ट, देशकाल की सीमा से आबद्ध स्थूल रूप छोड़कर प्रमाता के मन में आनन्दमय साधारणीकृत रूप धारण कर लेते हैं।

(३)

संस्कृत रसशास्त्र के अनुसार काव्यास्वाद का एक अन्य अनिवार्य लक्षण उसकी स्वप्रकाशता तथा रसेतर ज्ञानों से विनिर्मुक्तता है। भट्टनायक ने भावकत्व व्यापार के स्वरूप की चर्चा करते हुए 'निविडनिजमोहसंकट' के निवारण को रसानुभूति की अखण्डता और स्वप्रकाशता का कारण बताया है। उनके भोजकत्व-व्यापार द्वारा रस-स्थिति में प्रमाता की चेतना में सत्त्व का उद्रेक होता है और वह लोकोत्तर भूमि पर स्थित हो जाता है। भट्टनायक के अनुसार भोजकत्व-व्यापार का लक्षण 'निजसंविद्धि-श्रान्ति रसानुभूनि का भी लक्षण है। प्रमाता की विश्रान्त संवित्-चेतना विरोधी भावों तथा अन्य सभी प्रकार के ज्ञानों से विनिर्मुक्त होकर अखण्ड काव्यास्वाद प्राप्त करती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने भट्टनायक की 'निजसंविद्धिश्रान्ति' के स्थान पर इसी अर्थ में 'निर्विघ्न संविति' अथवा 'निर्विघ्न संवेदना' शब्द का प्रयोग किया है। मम्मट ने इसी संदर्भ में'वेद्यान्तरसंस्पर्शरहित्स्वात्ममात्रपर्यवसित' का प्रयोग किया है। उनके अनुसार रसानुभूति की स्थिति में प्रमाता के लौकिक ज्ञान वेद्यान्तर के स्पर्श से रहित आत्मानुभूति में पर्यवसित हो जाते हैं, तथा उसका नियत प्रमातृभाव विनष्ट होकर अपरिमित प्रमातृभाव में परिणत हो जाता है। विश्वनाथ के प्रसिद्ध रस-लक्षण में 'सत्त्ववोद्रेकादखण्ड', 'स्वप्रकाशानन्द', 'चिन्मय' तथा 'वेदान्तरस्पर्शशून्य' का प्रयोग भी इसी संदर्भ में हुआ है। पंडितराज जगन्नाथ ने प्रमाता के 'तन्मयीभाव' शुद्ध-चैतन्य के 'भग्नावरण' तथा स्वतःप्रकाशित आत्मा के स्वरूपानन्द की चर्चा भी रसानुभूति की इसी विशेषता के संदर्भ में की है।

(४)

संस्कृत के रस-विवेचकों ने रसानुभूति के लिए 'अनिर्वचनीय', लोकोत्तर' एवं 'ब्रह्मास्वाद-सहोदर' आदि विशेषणों का प्रयोग भी किया। भट्टनायक ने भोजकत्व-

---

१. **'रसा हि सुखदुःखरूपाः'**

—शृंगार प्रकाश, द्वितीय भाग, पृ० ३६९

२. **हिन्दी अभिनवभारती**, षष्ठ अध्याय, पृ० ५००।

व्यापार के आनन्द को ब्रह्मास्वाद के समान[1] कहा है। अभिनवगुप्त ने अलौकिक चमत्कारात्मा रसास्वादः, कहकर रस की लोकोत्तरता का आख्यान किया है। मम्मट ने 'ब्रह्मास्वादभिवायन्' तथा 'अलौकिकचमत्कारकारी' के द्वारा रस की ब्रह्मास्वाद से समकक्षता तथा उसकी त्रिविध अलौकिकता का उल्लेख किया है। कविराज विश्वनाथ ने 'ब्रह्मास्वादसहोदर' तथा लोकोत्तरचमत्कारप्राण' कहकर रस की इसी विशेषता की पुष्टि की है। पंडितराज जगन्नाथ ने रसानुभुति को 'लोकोत्तर' तथा 'अनिर्वचनीय' तो माना है किन्तु 'परब्रह्मास्वादात् समाधेर्विलक्षणा'[2] कहकर ब्रह्मास्वाद से उसकी भिन्नतका का निर्भ्रान्त प्रतिपादन किया है। काव्यास्वाद को उन्होंने लौकिक सुखों के आनन्दाभास' तथा निरूपाधिक चैतन्य के स्वरूपानन्द ब्रह्मास्वाद का मध्यवर्ती, चित्तवृत्ति का आत्मानन्द माना है। वस्तुतः पण्डितराज का यह मत भी अन्य विवेचकों के मत से भिन्न नहीं है, वे भी रस को ब्रह्मास्वाद-रूप नहीं, ब्रह्मास्वाद के समान लौकिक सुखों से श्रेष्ठ आस्वाद ही मानते हैं।

संक्षेप में, संस्कृत कायशास्त्र के प्रतिनिधि रस-विवेचकों के मतों के विवेचन के उपरान्त निष्कर्षों का आकलन इस प्रकार किया जा सकता है-—

१. काव्यास्वाद (रसानुभूति) अनिवार्यतः आनन्दमयी अनुभूति है।

२. लौकिक भाव काव्यनिबद्ध होने पर अपना विशिष्ट ऐहिक रूप छोड़कर प्रमाता की चेतना में साधारणीकृत रूप धारण कर लेते हैं। लौकिक भावों की यह अलौकिक, अविशिष्ट साधारणीकृत अनुभूति ही काव्यास्वाद है।

३. काव्यास्वाद अपने ही प्रकाश से प्रकाशित रहता है, यह अन्य सभी प्रकार के भावों और ज्ञानों से विनिर्मुक्त देशकाल की सीमाओं से अतीत, व्यक्तिगत मोह-विराग तथा 'स्व'-'पर' की भावना से रहित, सत्त्वोद्रिक्त मनः-स्थिति में प्रमाता का अनिर्वचनीय आत्मास्वाद है।

४. लौकिक भावों पर आधारित होने के कारण काव्यास्वाद जहाँ एक ओर शुद्ध आध्यात्मिक आनन्द से भिन्न है, वहाँ दूसरी ओर प्रत्यक्ष ऐहिक भोगास्वाद से उच्चतर एवं सूक्ष्मतर भूमि पर अव्यवस्थित होने के कारण इसे स्थूल लौकिक आनन्द भी नहीं कहा जा सकता। यह आनन्द ब्रह्मास्वाद के समान

---

१. (क) **'भाविते च रसे तस्य भोगः × × परब्रह्मास्वादसविधः × ×**
—ध्वन्यालोक-लोचन, द्वितीय उद्योत में उद्धृत भट्टनायक का मत।

(ख) **······परब्रह्मास्वादसविधेयभोगेन परं भुजयत इति**
— अभिनवभारती, षष्ठ अध्याय में उद्धृत भट्टनायक का मत।

१. **रसगंगाधर** चौखम्बा विद्याभवन संस्कृत ग्रंथमाला
—सन् १९५५; प्रथम आनन, पृ० ९०।

सूक्ष्म-परिष्कृत ग्रानन्द तो है, किन्तु ब्रह्म-साक्षात्कार रूप शुद्ध ग्रानन्द नहीं है।

निष्कर्षत: संस्कृत के रसशास्त्र की दृष्टि में: 'काव्यास्वाद (रस) इतरभावों ग्रौर ज्ञानों से विनिर्मुक्त, देशकाल की सीमाग्रों से ग्रनिबद्ध, व्यक्तिगत मोह-विराग एवं 'स्व'-'पर' की भावना से रहित, प्रमाता की सत्त्वोद्रिक्त मन:स्थिति में ग्रनुभूयमान, ऐहिक भोगास्वाद से भिन्न, ब्रह्मास्वाद के समान सूक्ष्म-परिष्कृत स्वत: प्रकाशित ग्रानन्दमयी ग्रात्मानुभूति है।

(ख) रस निष्पत्ति*

काव्य के विविध रूपों में से नाटक सबसे प्राचीन है। यह बात भारतीय परंपरा के लिए जितनी सत्य है, पाश्चात्य परंपरा के लिए भी उतनी ही सत्य है। प्राचीन यूनान में नाटक का जन्म कैसे हुग्रा ? इस प्रश्न का एक उत्तर यह दिया जाता है कि ग्रपने प्राचीन रूप में नाटक का संबंध देवता की उपासना से रहा होगा। भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में यह लिखा है कि ब्रह्मा ने चारों वेदों के उपकरण संजोकर नाटक की रचना की थी। इन दोनों बातों से दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली तो यह कि नाटक का संबंध धार्मिक ग्रनुष्ठान या धर्मग्रन्थ से जोड़ने के मूल में नाटक के गंभीर महत्त्व ग्रौर प्रभाव की स्वीकृति का भाव रहा है। ग्रौर दूसरी यह कि संस्कृति के ग्रारम्भिक रूप में नाटक धर्म के समान ही ग्रानन्द ग्रौर कल्याण का साधन रहा होगा। जहाँ तक कल्याण की बात है, इसकी सिद्धि में कोई विशेष बाधा नहीं रही ग्रौर न ही इसके लिए वशेष प्रयास की ही ग्रावश्यकता का ग्रनुभव हुग्रा। मगर नाटक से प्राप्त होने वाले ग्रानन्द का जन्म कैसे होता है ग्रौर उसका स्वरूप क्या है, ये गंभीर ग्रौर गहन चिन्तन के विषय बने रहे।

भरत:निष्पत्तिवाद

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में इस पर विचार किया है ग्रौर यह स्पष्ट कहा है कि रस के ग्रभाव में नाटक से 'कोई ग्रर्थ प्रवर्तित नहीं होता' ग्रथवा रसहीन नाटक निरर्थक ग्रौर ग्रसफल हो जाता है। इस उक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि भरत के मतानुसार रस ही काव्य की ग्रात्मा है। ग्रब सवाल यह होता है कि यह रस क्या है ग्रौर इसका निर्माण कसे होता है ? दूसरे सवाल के उत्तर में भरत ने यह कहा—विभाव, ग्रनुभाव ग्रौर व्यभिचारी भाव के संयोग से रस-निष्पति होती है। यह रस सूत्र परवर्ती ग्राचार्यों ग्रौर काव्यशास्त्रियों का ग्राधार रहा ग्रौर इसी के ग्राधार पर विभिन्न ग्राचार्यों ने विभिन्न मत प्रस्तुत किए। विविध मतों में से ग्रभिनवगुप्त का ग्रभिव्यक्तिवाद मान्य हुग्रा ग्रौर हिन्दी में इसी की विशेष चर्चा हुई। इसका परिणाम यह हुग्रा कि ग्रभिनव से पहले के ग्राचार्यों के मतों के बारे में कई प्रकार के भ्रम पैदा हो गए ग्रौर बिना किसी गहन ग्रध्ययन या ठोस ग्राधार के

*डॉ० तारकनाथ बाली

लोल्लट आदि के मतों को मीमांसा आदि दर्शनों पर आधारित माना जाने लगा। मैंने अपने शोध-ग्रन्थ 'रस सिद्धान्त की दार्शनिक और नैतिक व्याख्या' में रस संबंधी विविध मतों के सभी पक्षों के गंभीर और प्रामाणिक अध्ययन का प्रथम प्रयास किया था। अभिनव के मत का प्रभाव इतना गहरा था कि अन्य सभी मतों को भी अभिनव के मत के आलोक में समझने का प्रयास किया जाता रहा।

भरत के सूत्र को देखकर पहला सवाल यह पैदा होता है कि रस निष्पत्ति कहाँ होती है ? इस प्रश्न के उत्तर में हमारे सामने चार व्यक्ति उभरकर आते हैं—नाटककार, मूलपात्र, नट (रंगमंच) और सहृदय। बाद के आचार्यों ने इन्हीं में से ही किसी एक को रस का आश्रय माना है। भरत के मतानुसार रस का आश्रय नट या रंगमंच है, क्योंकि यहाँ मूल सवाल यह है कि विभावादि का संयोग कहाँ होता है ? स्पष्ट है कि विभावादि का संयोग रंगमंच पर होता है। और इसके अतिरिक्त भरत ने रस का आस्वाद्य पदार्थ माना है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि भरत की दृष्टि से रस और उसके आस्वाद में अन्तर है। रस सृष्टि रंगमंच पर होती है और सहृदय इसका आस्वाद करता है। भरत ने रस-निष्पत्ति को समझाने के लिए प्रपानक रस आदि का उदाहरण भी दिया है। प्रपानक रस और (सामाजिक द्वारा) उसके आस्वाद में भी अन्तर स्पष्ट ही है। एक स्थान पर रस के आस्वाद का वर्णन करते हुए भरत ने यह कहा है कि "सुमनस प्रेक्षक वाचिक, आंगिक और सात्विक (अनुभावों) से उपेत स्थायी भाव का आस्वादन करते हैं और हर्षादि को प्राप्त होते हैं।" दूसरे शब्दों में कहें तो यह कह सकते हैं कि नट के अनुभावों द्वारा उपेत् नट द्वारा प्रदर्शित स्थायी भाव ही रस है। और स्पष्ट है कि यह रस रंगमंच पर स्थित है। इस प्रकार रस एक नाट्यगत निर्मिति या रचना है।

व्यावहारिक अनुभव से भी इस मत की व्याख्या की जा सकती है। प्रेक्षक जब नाटक देखता है तो आरम्भ के कुछ अंश में तो वह विविध पात्रों, परिस्थितियों, घटनाओं आदि का ज्ञान प्राप्त करता है। फिर जैसे-जैसे कथा अग्रसर होती है वह विविध पात्रों आदि को सम्बन्ध रूप में देखने लगता है और उसे नाटक में एकान्विति की प्रतीति होने लगती है। इस अवस्था में पात्र (नट) की प्रत्येक क्रिया या वचन भावों का प्रकाशन करते हैं और वह मार्मिक प्रसंगों में पात्रों के वाचिक आदि अभिनय में निर्मित रस का आस्वादन करता है।

भट्टलोल्लट : उत्पत्तिवाद

परवर्ती आचार्यों ने भरत के इस रस-सूत्र की अनेक व्याख्याएँ की। सबसे पहले व्याख्याकार हैं। भट्टलोल्लट। इनका मूल ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता, केवल उनके मत का उल्लेख ग्रंथों में मिलता है। परम्परा में लोल्लट को मीमांसक और इनकी रस-व्याख्या को मीमांसा से प्रभावित माना जाता रहा है। ये मीमांसक थे या नहीं, इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। लेकिन इनके मत का जो उल्लेख मिलता है उस पर मीमांसा दर्शन का कोई प्रभाव नहीं है।

इनके मतानुसार रस मूल पात्र में स्थित होता है, नट तो केवल उसका प्रदर्शन

मात्र करता है। विभाव से रस उत्पन्न होता है, इसलिए विभाव और रस में उत्पादक-उत्पाद्य संबंध है। व्यभिचारी भाव रस को पुष्ट करते हैं। इसलिए व्यभिचारी भाव और रस में पोषक-पोष्य संबध है, तथा अनुभव रस की प्रतीति का साधन है क्योंकि अनुभाव द्वारा ही सहृदय को यह ज्ञान होता है कि नट अमुक भाव का प्रदर्शन कर रहा है। इस प्रकार लोल्लट के मतानुसार निष्पत्ति का अर्थ हुआ उत्पत्ति। प्रतीति का साधन तो अनुभाव है और प्रतीति स्वयं सहृदय द्वारा रस के आस्वाद का साधन है।

इस मत पर सूक्ष्मता से विचार करें तो कुछ महत्त्वपूर्ण बातें स्पष्ट होती हैं। पहली बात तो यह है कि लोल्लट के मतानुसार रस एक लौकिक अनुभव है क्योंकि मूल-पात्र उसका अनुभव करते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो यह मानना पड़ेगा कि आज हम जिसे भाव (लोकानुभूति) कहते हैं उसे ही लोल्लट ने रस (काव्यानुभूति) कह दिया है, अर्थात् इनके मतानुसार लोकानुभव ही काव्यानुभव है। कह नहीं सकते कि लोल्लट ने इस पक्ष पर विशेष विचार किया है या नहीं, मगर इससे यह सिद्ध होता है कि लोल्लट के युग तक रस को यथार्थ के धरातल पर ही प्रतिष्ठित किया जाता था किसी आत्मवादी धरातल पर नहीं।

लोल्लट के मत में भरत की अपेक्षा एक महत्त्वपूर्ण नई बात सामने आई। वह यह कि इन्होंने रस को अनुभूति माना, पदार्थ नहीं। और उस अनुभूति का प्रदर्शन नट करते हैं इसलिए नट में भी उसी अनुभूति की प्रतीति होती है। यह प्रतीति ही आस्वाद का साधन है। और सहृदय अनुसंधान व्यापार द्वारा नटादि पर रामत्व आदि का आरोप कर लेता है। इसलिए नटादि में ही वह रामादि की अनुभूति की प्रतीति करने लगता है। इस प्रकार सहृदय का आस्वाद नट द्वारा प्रदर्शित अनुभूति का आस्वाद है। और अनुभूति का यह प्रदर्शन रंगमंच पर होता है। इस प्रकार यहाँ भी रस रंगमंच पर ही आश्रित माना गया है।

लोल्लट के मत पर यह आक्षेप किया जाता है कि मात्र प्रतीति से सहृदय को गंभीर अनुभूति कैसे हो सकती है? यह आक्षेप आसानी से निरस्त हो जाता है। ऊषा या कमल के दर्शन से भी तो सहृदय अनुभूति में डूब जाता है। यदि ऊषा और कमल आदि के दर्शन से अनुभूति पैदा हो सकती है तो फिर रंगमंच पर प्रदर्शित नट की अनुभूति से पाठक आनंदित क्यों नहीं हो सकता? और यह आक्षेप यदि लोल्लट पर लगाया जा सकता है तो यही आक्षेप भरत पर भी लगाया जा सकता है।

लोल्लट के विरुद्ध दूसरा आक्षेप यह है कि यदि पात्र ऐतिहासिक होकर कल्पित हो तो रस की स्थिति कहाँ होगी? स्पष्ट है कि लोल्लट ने ऐसी स्थिति पर विचार ही नहीं किया और इसलिए उनमें इस प्रश्न का उत्तर भी नहीं मिल सकता।

श्री शंकुक : अनुकृतिवाद

श्री शंकुक ने रस-निष्पत्ति की व्याख्या के उसी क्रम को आगे बढ़ाया जो हमें भट्टलोल्लट में मिलता है। लेकिन इन्होंने दो नए व्यापारों का उपयोग किया। ये दो व्यापार हैं अनुकृति और अनुमिति। अनुकृति का संबंध रस की निष्पत्ति से है और अनु-

मिति का रस के ग्रास्वाद से । इसीलिए इनके मत को ग्रनुकृतिवाद कहना ही समीचीन है । ग्रनुमिति का संबंध रस की निष्पत्ति से नहीं है । इस व्यापार का कार्य तो रस की ग्रनुकृति (निष्पत्ति) के बाद ग्रारंभ होता है ।

श्री शंकुक ने भट्ट लोल्लट के समान ही रस की स्थिति मूल पात्रों में मानी है । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि इस दृष्टि से शंकुक भी लोल्लट की तरह रस ग्रौर भाव में कोई ग्रन्तर नहीं मानते, क्योंकि मूल पात्रों ने जिस ग्रनुभूति का ग्रनुभव किया वह तो भाव ही है । लेकिन बाद में शंकुक यह भी कहते हैं कि रस मूल पात्रों के भाव की ग्रनुकृति है ग्रौर ग्रनुकरण रूप होने के कारण ही इसको एक नया नाम रस दे दिया गया है । इस उक्ति से ऐसा प्रतीत होता है कि शंकुक भाव ग्रौर उसकी ग्रनुकृति रस में केवल नाम का ग्रन्तर मानते हैं । लेकिन ग्राज का समीक्षक जब इस स्थिति पर विचार करता है तो वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि ग्रनुकार्य (भाव) ग्रौर ग्रनुकृति (रस) में केवल नाम का ग्रन्तर मानना संगत नहीं है । ग्रगर इस पर गहराई से विचार किए जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि दोनों में मूलभूत ग्रन्तर मानना होगा ।

नट मूल पात्रों की वाणी, वेशभूषा, ग्रनुभाव ग्रादि का ग्रनुकरण करता है । ग्रौर यह ग्रनुकरण इतना निर्दोष तथा पूर्ण होता है कि सामाजिक नटादि को नायकादि समझने लगते हैं । नटादि में नायकादि की प्रतीति के लिए लोल्लट ने ग्रनुसन्धान व्यापार की कल्पना की थी । शंकुक ने चित्र-तुरंग न्याय के ग्राधार पर इस प्रतीति की संगति स्थापित की है । जिस प्रकार घोड़े के चित्र को ही घोड़ा कह दिया जाता है ग्रौर दर्शक उसे घोड़ा मान लेता है, उसी प्रकार नायकादि के वेश में उपस्थित नटादि को भी सहृदय नायकादि मान लेता है । विभावादि के संयोग से नट में नायकादि के भावों की ग्रनुकृति सम्पन्न होती है । यहाँ तक विभावादि ग्रनुकरण के साधन (ग्रमुकारक) हैं ग्रौर मूल नायकादि का भाव (जोकि शंकुक की दृष्टि से वस्तुतः रस ही है) ग्रनुकार्य । यहाँ विभावादि नट ग्रौर नायकादि के बीच के व्यवधान को दूर करते हैं । नटादि द्वारा नायकादि के भावों की ग्रनुकृति ही रस की निष्पत्ति है ।

ग्रब सवाल ग्राता है सहृदय के ग्रास्वाद का । सहृदय उक्त ग्रनुकृति का ग्रास्वाद कैसे करता है ? ग्रास्वाद के साधन के रूप में ग्रनुमिति की प्रतिष्ठा की गई है । ग्रनुभूति सूक्ष्म ग्रौर ग्रदृश्य है । सहृदय उसको प्रत्यक्ष रूप से नहीं देख सकता है । मगर जैसे जीवन में किसी व्यक्ति के कार्यों, मुद्राग्रों ग्रौर शब्दों ग्रादि के द्वारा उसके ग्रान्तरिक भावों का ज्ञान होता है, उसी प्रकार नटादि के कार्यों, मुद्राग्रों ग्रौर शब्दों के द्वारा उनकी ग्रनुभूति का ज्ञान हो जाता है । यह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं वरन् ग्रनुमान पर ग्राधारित ज्ञान होता है, क्योंकि ग्रनुभूति का प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव ही नहीं । इस प्रकार सहृदय को रस रूप ग्रनुकृति की ग्रनुमिति होती है ग्रौर इस ग्रनुमिति से उसे ग्रानन्द की भांति होती है । इस प्रकार ग्रनुमिति ग्रास्वाद का साधन है, ग्रनुकृति का नहीं ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नट की दृष्टि से विभादि ग्रनुकारक हैं ग्रौर रस ग्रनुकार्य है तथा सहृदय की दृष्टि से विभावादि ग्रनुमापक या गमक हैं ग्रौर रस ग्रनुमेय या गम्य है । विभावादि के इन दोनों कार्यों को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए ।

पुराने काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में इन दोनों कार्यों का अन्तर स्पष्ट नहीं किया गया था। मैंने अपने शोध-ग्रंथ 'रस सिद्धान्त की दार्शनिक और नैतिक व्याख्या' में पहली बार विभावादि के इस द्विविध कार्य की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया था।

यहाँ एक अन्य बात पर भी विचार करना आवश्यक है। क्या अनुमान के इस प्रयोग के आधार पर शंकुक को नैयायिक कहा जा सकता है? इस सवाल का उत्तर देने के लिए इस पर विचार करना होगा कि क्या अनुमान का यह प्रयोग दर्शन-सम्मत है? इस सवाल का जवाब देने के लिए हमें पहले इस पर विचार करना होगा कि क्या नटादि को रसादि का अनुभव होता है या वे केवल भाव का अनुकरण ही करते हैं। स्पष्ट है कि नटादि रस का अनुभव नहीं करते, केवल उसका प्रदर्शन करते हैं; उसका अभिनय करते हैं। इसलिए यद्यपि अनुभावादि हेतु तो हैं मगर रस अनुमेय-विद्यमान नहीं है। ऐसी स्थिति में रस की अनुमिति एक मिथ्या अनुमिति है। मम्मट ने इसीलिए इस अनुमिति को विलक्षण अनुमिति कहा है क्योंकि रस असत् होते हुए भी अनुमित होता है और आनन्द प्रदान करता है। मम्मट ने इस दूसरी विशेषता को समझाने के लिए ही यह कहा है कि सौंदर्य के बल से यह विलक्षण (मिथ्या) अनुमिति भी सहृदय को आनन्द प्रदान करती है। अनुमिति के इस मिथ्यात्व को आधार बनाकर ही परवर्ती आचार्यों ने अनिर्वचनीय ख्याति के आधार पर रस निष्पत्ति की व्याख्या की है।

शंकुक के मत पर भी वे ही दो आक्षेप लगाए जाते हैं जो भट्टलोल्लट पर लगाए गये थे। पहला आक्षेप तो यह है कि जहाँ ऐतिहासिक कथानक नहीं है वहाँ रस का आश्रय कौन होगा? स्पष्ट है इस आक्षेप का कोई समाधान शंकुक में नहीं मिलता। दूसरा आक्षेप यह है कि मात्र अनुमिति से सहृदय को आनन्द की अनुभूति कैसे हो सकती है? इसका उत्तर पहले दिया जा चुका है।

भट्टनायक : भावितिवाद

भट्टनायक के मत को भुक्तिवाद कहा जाता रहा है। मगर, जैसा कि मैंने अपने शोध-प्रबन्ध में पहली बार दिखाने का प्रयास किया है, भुक्तिवाद नाम असंगत है। मुक्ति तो रस का भोग है। भट्टनायक के अनुसार निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति नहीं, भाविति है। पहले रस भावित होता है और फिर उसका भोग होता है—**भाविते च रसे तस्य भोगः।** इसलिए निष्पत्ति का अर्थ भाविति ही होगा जो कि भुक्ति से पहले की अवस्था है।

भट्टनायक ने गम्भीर दार्शनिक आधार पर रस के विवेचन का प्रयास किया है। उन्होंने रसास्वाद को ब्रह्मास्वाद के समान माना है। वे स्वयं दार्शनिक थे और शैव दर्शन की द्वैतवादी धारा को मानने वाले थे। परम्परा में जो उन्हें सांख्यमत का अनुयायी कहा जाता है इसके लिए कोई उपयुक्त आधार नहीं है।

भट्टनायक ने काव्यशब्द की तीन शक्तियाँ मानी हैं—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। अभिधा के द्वारा तो सहृदय को नाटकादि के सामान्य अर्थ का ज्ञान होता है। इसके उपरान्त भावकत्व व्यापार का कार्य आरम्भ होता है। भावकत्व व्यापार के

अन्तर्गत ही भट्टनायक ने साधारणीकरण की प्रतिष्ठा की है। भावकत्व व्यापार की दो विशेषताएँ हैं—पहली, निज मोह का विनाश, दूसरी, विभावादि का साधारणीकरण। यदि गहराई से देखा जाए तो निज मोह का विनाश भी साधारणीकरण में ही अन्तर्भूत है।

साधारणीकरण का शाब्दिक अर्थ है साधारण करना। इसलिए विभावादि के साधारणीकरण का अर्थ हुआ विभावादि को साधारण रूप में प्रस्तुत करना अथवा उनके वैशिष्ट्य का लोप। जब कोई व्यक्ति नाटक देखता है तो शुरू में नाटक के पात्र अपने विशिष्ट व्यक्तित्व के साथ उपस्थित होते हैं। वे अपने देश और काल की सीमाओं के भीतर ही दिखाई देते हैं और दर्शक को उनके पृथक् अस्तित्व के ज्ञान के साथ-साथ अपनी पृथक् सत्ता का अनुभव भी रहता है। जैसे-जैसे नाटक अग्रसर होता है तो एक ओर तो पात्रों के वैशिष्ट्य का तिरोभाव होने लगता है और दूसरी ओर दर्शक को अपने पृथक् सीमित और संकुचित व्यक्तित्व का एहसास नहीं रहता। एक ओर तो विभावादि साधारण होने लगते हैं और दूसरी ओर दर्शक के मोह का विनाश होने लगता है। इसी अवस्था को शुक्लजी ने 'स्वार्थ के सीमित घेरे से मुक्ति' या 'हृदय की मुक्तावस्था' कहा है। दर्शक के मोह का विनाश—दर्शक के 'हृदय की मुक्ति'—और विभावादि का साधारणीकरण एक ही व्यापार के दो छोर हैं, इसीलिए ये दोनों व्यापार एक साथ ही होते हैं। विभावादि के साधारणीकरण में प्रदर्शित भाव का साधारणीकरण भी अन्तर्निहित है। साधारणीकृत भाव ही भावित रस है। दर्शक को साधारणीकरण की अवस्था में भी पात्रादि का, अपना तथा प्रदर्शित भावादि का एक विशेष प्रकार का ज्ञान रहता है। यह विशेष प्रकार का ज्ञान ही रस के सन्दर्भ में रस की भाविति है। इसलिए निष्पत्ति का अर्थ हुआ भाविति। भाविति के बाद ही रस की भुक्ति होती है।

यहाँ भी विभावादि का दुहरा कार्य है। एक ओर तो वे रस के भावन में साधन होते हैं—रस भाव्य है और वे भावन के साधन। लेकिन आस्वाद की दृष्टि से रस भोग्य है और विभावादि भोजक। सहृदय विभावादि के द्वारा ही रस का भोग करता है। मगर रस-भोग के समय दर्शक की अवस्था लौकिक अवस्था नहीं है। उसके सीमित-संकुचित व्यक्तित्व का परिहार हो चुका है, उसके मोह का विनाश हो चुका है और उसकी संवित् की चंचलता नष्ट हो चुकी है। उसकी वही अवस्था होती है जो मुक्ति के समय जीव की अवस्था होती है। इसलिए जिस प्रकार मुक्ति की अवस्था में आत्मा ब्रह्म के आनन्द का आस्वाद करती है, उसी प्रकार मोहमुक्त अवस्था में दर्शक रस का लोकोत्तर आस्वाद करता है। और इसीलिए रस का यह आस्वाद ब्रह्मास्वाद के समान माना गया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भट्टनायक और अभिनवगुप्त के मतों में मूलभूत अन्तर है। अभिनवगुप्त भुक्ति और निष्पत्ति को एक ही मानते हैं, मगर भट्टनायक ने भुक्ति और निष्पत्ति (भाविति) में भेद किया है। भट्टनायक की दृष्टि से रस का आश्रय नाटक या काव्य है, मगर अभिनव की दृष्टि से रस का आश्रय सामाजिक है।

भट्टनायक पर यह आक्षेप लगाया जाता है कि उन्होंने भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों की जो कल्पना की है उसका कोई शास्त्रीय आधार नहीं है तथा इन दोनों

व्यापारों का कार्य लक्षरण और व्यंजना से चल सकता है।

मगर यह आक्षेप असंगत है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भावकत्व और भोजकत्व विशिष्ट व्यापार हैं जो लक्षरणा और व्यंजना के लौकिक व्यापारों से भिन्न हैं। क्या लक्षरणा से विभावादि का साधाररणीकररण हो सकता है? क्या व्यंजना रसास्वाद को ब्रह्मास्वाद के समान सिद्ध कर सकती है? स्पष्ट है दोनों ही बातें असम्भव हैं।

जहाँ तक नई कल्पना के शास्त्रीय आधार का सवाल है उसका उत्तर यह है कि अगर हम हर बात को शास्त्र के आधार पर ही प्रतिष्ठित करें तो चिन्तन विकसित कैसे होगा? नए विचार और नये सिद्धान्त कैसे बनेंगे? भट्टनायक के बाद के प्रत्येक काव्य-शास्त्री ने, अभिनवगुप्त ने भी साधाररणीकररण को स्वीकार किया है। यह साधाररणी-कररण भावकत्व व्यापार ही तो है। और अभिनव ने रस-भोग की चर्चा भी बार-बार की है।

भट्टनायक के मत की सबसे बड़ी सीमा उसकी दार्शनिकता है। यह सीमा अभिनव की व्याख्या की भी है। जो व्यक्ति उनकी दार्शनिक दृष्टि से सहमत नहीं है, उसके लिए उनकी व्याख्या बेमानी है।

अभिनवगुप्त : अभिव्यक्तिवाद

अभिनवगुप्त ने हृदय को रस-निष्पत्ति और रसास्वाद का केन्द्र बनाया। जिस प्रकार पानी छिड़कने से सूखी मिट्टी में से सोंधी महक निकलने लगती है, उसी प्रकार विभावादि के प्रभाव से सामाजिक में वासना रूप से स्थित रति आदि स्थायी भाव रस रूप में परिरणत हो जाते हैं। विभावादि व्यंजक हैं और रस व्यंग्य। प्रत्येक व्यक्ति के मन में (कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को छोड़कर) वासना रूप में सभी भाव विद्यमान रहते हैं जो उपयुक्त अवसर तथा वातावररण में व्यक्त हो जाते हैं। जब वे जीवन में व्यक्त होते हैं तो भाव कहलाते हैं और जब वे काव्य द्वारा व्यक्त होते हैं तो रस कहलाते हैं। इसका काररण है साधाररणीकररण व्यापार का अलौकिकत्व। रसानुभव मोह और मोह से उत्पन्न स्वार्थ की सीमाओं से मुक्त हो जाता है और इसीलिए रसाभिव्यक्ति एक लोकोत्तर आनन्द को जन्म देती है जहाँ शोक आदि दुःखात्मक भाव भी आनन्दमय हो जाते हैं। अभिनव के मतानुसार रस की अभिव्यक्ति और उसकी भुक्ति में कोई अन्तर नहीं होता। अभिव्यक्ति भोगरूप ही होती है।

रस-निष्पत्ति-सम्बन्धी विविध मतों में अभिनव के मत को ही अधिक मान्यता मिली है। मगर यह मत आत्मवाद पर प्रतिष्ठित है, क्योंकि अभिनव ने रस को आत्मा-नन्द का ही विशिष्ट रूप माना है। और अगर आत्मवाद पर भी आस्था नहीं होगी तो यह मत स्वीकार नहीं किया जा सकता। बिना आत्मवाद को स्वीकार किए हुए भट्ट-नायक और अभिनवगुप्त दोनों के मत निरर्थक हैं।

(ग) साधारणीकरण*

रस-निष्पत्ति के साथ साधारणीकरण का प्रसंग भी सम्बद्ध है। काव्य में वर्णित विशिष्ट रामादि पात्रों के 'भाव' सर्वसाधारण या कम-से-कम 'सहृदय-साधारण' के आस्वाद के विषय किस प्रकार हो जाते हैं? काव्यशास्त्र का यह अत्यन्त मौलिक प्रश्न है। काव्य मानव-जीवन का अत्यन्त प्राचीन एवं मूल्यवान उपकरण है : वह सहस्राब्दियों से संस्कृत मानव की आत्माभिव्यक्ति तथा आत्मास्वाद का सुन्दर माध्यम रहा है। ज्यों ही चिंतनशील मनुष्य ने जीवन और जगत् के अनेक तथ्यों के साथ-साथ काव्य के आस्वाद के विषय में विचार आरम्भ किया होगा, पहला प्रश्न यही उठा होगा कि राम और दुष्यन्त आदि से हमारा क्या सम्बंध? जब देश और काल का विराट् व्यवधान हमारे और उनके बीच विद्यमान है, तब उनके भाव हमारे आस्वाद्य किस प्रकार बन जाते हैं? इस प्रश्न का सबसे प्रामाणिक समाधान है साधारणीकरण-सिद्धांत, जिसके बीज तो नाट्यशास्त्र आदि में भी मिल जाते हैं—यथा 'एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते', अर्थात् जब इन भावों को सामान्य रूप से प्रस्तुत किया जाता है तो रसों की निष्पत्ति होती है (नाट्यशास्त्र, का० मा०, पृ० १०६); परन्तु निश्चित उल्लेख भट्ट-नायक के उद्धरणों में ही पहली बार मिलता है।

भट्टनायक के उद्धरण का अभीष्ट अंश इस प्रकार है :

विभावादिसाधारणीकरणात्मना ··· भावकत्व-व्यापारेण भाव्यमानो रसः···· भोगेन परं भुज्यत इति।

—अर्थात् विभावादि के साधारणीकरण रूप भावकत्व नामक व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायिभावरूप रस ········· भोजकत्व व्यापार के द्वारा आस्वादित किया जाता है।

इसका विश्लेषण करने पर निम्नलिखित तथ्य प्राप्त होते हैं :

(क) साधारणीकरण विभावादि का होता है।

(ख) यह साधारणीकरण ही वस्तुतः भावकत्व व्यापार का प्राण है—अर्थात् दोनों एक ही हैं।

(ग) भावकत्व व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायीभाव ही रस रूप में परिणत हो जाता है। भाव्यमान को काव्य प्रकाश के टीकाकारों ने 'साधारणीकृत' का ही पर्याय माना है और इसमें विप्रतिपत्ति के लिए विशेष अवकाश नहीं होना चाहिए।

(घ) साधारणीकरण रसास्वाद से पूर्व की प्रक्रिया है, यह वह प्रक्रिया है जो रस के विभिन्न अवयवों को अपने-अपने वैशिष्ट्य से मुक्त कर आस्वाद्य रूप में प्रस्तुत कर देती है।

---

* **डॉ० नगेन्द्र।**

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के मत में संशोधन कर साधारणीकरण के प्रसंग को अपने ढंग से प्रस्तुत किया है; उनके उद्धरण इस प्रकार हैं :

तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावद्भीत इति, त्रासकस्या पारमार्थिकत्वाद् भयमेव परं देशकालाद्यनालिंगितम् ।

—अर्थात् काव्य की उस प्रतीति में जो मृगशावक आदि विषय रूप से भासता है, उसके विशेष रूप न होने से, 'यह भीत है' यह ज्ञान तथा त्रासक (दुष्यन्त आदि) के वास्तविक न होने से, भय ही देशकाल आदि से पूर्णतः असम्बद्ध रूप में प्रतीत होता है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि आश्रय और आलम्बन का साधारणीकरण हो जाने से स्थायी भाव ही देशकाल के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

इस तथ्य को और स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त लिखते हैं :

तत एव भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा इत्यादिप्रत्ययेभ्यो दुःखसुखादिकृतबुद्ध्यन्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्य'...... भयानको रसः ।

—इसलिए 'मैं भीत हूँ', 'यह भीत है' या 'शत्रु, मित्र अथवा तटस्थ भीत है' इत्यादि सुख-दुःखकारी अन्य प्रत्ययों (ज्ञान) को नियमतः उत्पन्न करने के कारण विघ्न-बहुल प्रतीतियों से भिन्न, निर्विघ्न प्रतीति रूप में ग्राह्य (भय स्थायी भाव ही) भयानक रस बन जाता है।

अर्थात् काव्य में स्थायी भाव सभी प्रकार के व्यक्ति संसर्गों से मुक्त हो जाता है—ये व्यक्ति-संसर्ग अपनी परिमिति के कारण दुःखादि के कारण होते हैं, अतः **इनसे मुक्ति का अभिप्राय होता है लौकिक दुःख-सुख आदि की चेतना से मुक्ति ।**

यह साधारणत्व परिमित न होकर सर्वव्याप्त होता है—अनादि संस्कारों से चित्रित चित्त वाले समस्त सामाजिकों की एक जैसी वासना होने के कारण सभी को एक जैसी ही प्रतीति होती है :

तत एव न परिमितमेव साधारण्यमपि तु विततम् .... अतएव सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव प्रतिपत्तिः .... सर्वेषामानादिवासनाचित्रीकृतचेतसाम् वासनासंवादात् ।

—इस प्रकार, एकाग्रचित्त होने के कारण, समस्त सामाजिक जन को रंगमंच पर उपस्थित नृत्त, गीत आदि सुधासागर के समान प्रतीत होते हैं :

तथा ह्येकाग्रसकलसामाजिकजनः खलु । नृत्तं गीतं सुधासारसागरत्वेन मन्यते ।।

इन उद्धरणों के आधार पर अभिनव के अनुसार—

(क) साधारणीकरण विभावादि का ही नहीं होता, स्थायीभाव का भी होता है। जिस प्रकार विभावादि स्थायी भाव के कारण होते हैं, उसी प्रकार विभावादि का साधारणीकरण भी स्थायी भाव के साधारणीकरण का कारण होता है।

(ख) स्थायी भाव के साधारणीकरण का अर्थ है देशकाल के बन्धन, व्यक्ति-

संसर्ग आदि से मुक्ति। व्यक्ति-चेतना के कारण ही भाव की प्रतीति में सुखदु:खात्मकता का समावेश रहता है, उसके अभाव में ऐन्द्रिय सुख-दु:ख की भावना भी नष्ट हो जाती है।

(ग) कला के क्षेत्र में भाव का साधारणीकरण वैयक्तिक नहीं वरन् सामूहिक क्रिया है; केवल एक प्रमाता का ही भाव मुक्त नहीं होता—वरन् समस्त सामाजिक एकाग्रचित्त होकर मुक्त भाव का सामूहिक रूप से अनुभव करते हैं।

(घ) अत: साधारणीकरण का सार है स्थायी भाव का साधारणीकरण।

उपर्युक्त संशोधन के प्रकाश में काव्यप्रकाश के टीकाकार गोविन्द ठक्कुर ने भट्टनायक के साधारणीकरण-सिद्धान्त को संक्षिप्त एवं स्वच्छ रूप में इस प्रकार उपस्थित किया है :

भावकत्वं साधारणीकरणम् । तेन हि व्यापारेण विभावादय: स्थायी च साधारणीक्रियन्ते । साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थिति:। स्थाय्युनभावादीनां च सम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नत्वेन। (काव्यप्रकाश, निर्णयसागर प्रेस, पृ० ६६)

—अर्थात् भावकत्व का अर्थ है साधारणीकरण। इस व्यापार के द्वारा विभावादि का और स्थायी भावों का साधारणीकरण होता है। साधारणीकरण से अभिप्राय है सीतादि विशेष पात्रों का कामिनी आदि सामान्य रूपों में उपस्थित होना। स्थायी भाव और अनुभाव के साधारणीकरण का आशय है विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्ति।[1]

इस व्याख्या के अनुसार विभाव अर्थात् आश्रय, आलम्बन और उद्दीपन, अनुभाव स्थायी तथा संचारी (स्थायी के द्वारा संचारी की भी व्यंजना स्पष्ट ही है)—सभी का साधारणीकरण होता है। उदाहरण से स्थिति और भी स्पष्ट हो जाएगी :

---

१. इस प्रसंग में कुछ विप्रतिपत्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। (देखिए रसगंगाधर का शास्त्रीय विवेचन, पृ० १५४-१५८)। विषय के निर्भ्रान्त ज्ञान के लिए उनका समाधान कर लेना चाहिए। एक विप्रतिपत्ति तो यह है कि साधारणीकरण भावकत्व की आत्मा या मूल तत्त्व है, पर्याय नहीं है। इसके समर्थन में दो तर्क दिये गये हैं—(१) भट्टनायक ने 'साधारणीकरणात्मना' पद का प्रयोग किया है, 'साधारणीकरणरूपेण' का नहीं; (२) भावकत्व व्यापार का कार्य विभावादि का साधारणीकरण मात्र नहीं है, निजमोहसंकटता का निवारण भी हैं। हमारा विचार है कि इतना बारीक कातने से मूल सिद्धान्त के प्रतिपादन में बाधा पड़ती है। पहला तर्क शाब्दिक अधिक है, दोनों पदों के मूल अर्थ में विशेष भेद नहीं है, दूसरे तर्क का उत्तर यह है कि निजमोहसंकटता का निवारण भी तो

(शेष अगले पृष्ठ पर)

भूप बागु बर देखेउ जाई। जहँ बसंत रितु रही लोभाई।
लागे विटप मनोहर नाना। बरन बरन बर बेलि बिताना।
नव पल्लव फल सुमन सुहाए। निज सम्पति सुररूख लजाए।
चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत बिहग नटत कल मोरा।
मध्य बाग सरु सोह सुहावा। मनि सोपान बिचित्र बनावा।
बिमल सलिलु सरसिज बहुरंगा। जल-खग कूजत गुंजत भृंगा।
... ...
तेहि अवसर सीता तहँ आई। गिरिजा पूजन जननि पठाई।
... ...
कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लषन सन रामु हृदयँ गुनि।
मानहुं मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही।
अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा। सिय मुख ससि भए नयन चकोरा।
भए बिलोचन चारु अचंचल। मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल।

(पिछले पृष्ठ का शेष)

साधारणीकरण क्रिया का ही अंग है जिसके आधार पर आगे चलकर स्थायी भाव के (निर्विघ्न प्रतीति रूप) साधारणीकरण की व्यवस्था की गयी है। दूसरी विप्रतिपत्ति भट्टनायक के ही कुछ ऐसे वाक्यों को लेकर उपस्थित की गयी है जो उपर्युक्त स्थापनाओं के विरोधी प्रतीत होते हैं। ये वाक्य इस प्रकार हैं :

न च सा प्रतीतिर्युक्ता । सीतादेरविभावत्वात् । स्वकान्ता समृत्य-संवेदनात् । देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात् । समुद्रलंघनादेर साधारण्यात् ।

अर्थात् वह प्रतीति मान्य नहीं है। वास्तविक सीतादि के विभावरूप में उपस्थित न होने से। अपनी स्त्री आदि की स्मृति अभिनय-काल में न होने से। देवतादि (सीता, पार्वती आदि के पूजनीया देवियों) के साधारणीकरण के अयोग्य होने से। समुद्रलंघन आदि के असाधारण होने से। (हि० अ० भा, पृ० ४६२-६३) इन वाक्यों को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है मानों भट्टनायक को अलौकिक पात्रों और कार्यों का साधारणीकरण मान्य नहीं है। किन्तु स्थिति बिलकुल विपरीत है; भट्टनायक तो उसे मानकर ही चलते हैं और चूँकि इनका साधारणीकरण सिद्ध है, इसीलिए रस की (प्रत्यक्ष) प्रतीति असिद्ध हो जाती है। उनका तर्क स्पष्ट है : यदि रस की प्रत्यक्ष प्रतीति मान ली जाय तो सीतादि देवियों का और समुद्रलंघन आदि देवकार्यों का साधारणीकरण नहीं हो सकेगा, परन्तु चूँकि इनका साधारणीकरण सिद्ध है, इसलिए रस की प्रतीति असिद्ध है।

देखि सीय सोभा सुखु पावा। हृदयँ सराहत बचनु न आवा।
सिय सोभा हिश्रँ बरनि प्रभु, आपनि दसा बिचारि।
बोले सुचि मन अनुज सन, बचन समय अनुहारि।।
तात जनकतनया यह सोई। धनुषजज्ञ जेहि कारन होई।
पूजन गौरि सखीं लै आई। करत प्रकास फिरहिं फुलवाई।
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मनु छोभा।
सो सबु कारनु जान बिधाता। फरकहिं सुभग अंग सुनु भ्राता।
... ...
करत बतकही अनुज सन, मनु सिय रूप लोभान।
मुख सरोज मकरंद छबि, करै मधुप इव पान।
(रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २२६ से २३१)

यहाँ राम आश्रय है, सीता आलम्बन हैं, वासंती वैभव से समृद्ध जनक-वाटिका उद्दीपन है, राम के पुलक आदि अनुभाव हैं, रति स्थायी हैं और हर्ष, वितर्क, मति आदि संचारी हैं। उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार प्रस्तुत प्रसंग की रसास्वादन-प्रक्रिया में इन सभी का साधारणीकरण हो जाता है। आश्रय राम के साधारणीकरण का अर्थ यह है कि वे राम न रहकर रति-मुग्ध सामान्य पुरुष बन जाते हैं—उनके देश और काल तथा उनसे अनुबद्ध वैशिष्ट्य तिरोभूत हो जाते हैं और नारी के सौन्दर्य से अभिभूत सामान्य किशोर मन उभरकर सामने आ जाता है। आलम्बन सीता के साधारणीकरण का आशय भी बहुत-कुछ ऐसा ही है।—अर्थात् उनका भी देशकालावच्छिन्न वैशिष्ट्य समाप्त हो जाता है और सामान्य कामिनीरूप शेष रह जाता है। अनुभाव के साधारणीकरण से अभिप्राय यह है कि राम की चेष्टाएँ राम से सम्बद्ध न रहकर सामान्य मुग्ध पुरुष की चेष्टाएँ बन जाती हैं। इसी प्रकार रत्यादि स्थायी भाव और हर्ष वितर्क आदि संचारी भाव भी एक ओर राम सीता से और दूसरी ओर सहृदय तथा उसके आलम्बन से सम्बद्ध नहीं रह जाते—वे वैयक्तिक राग-द्वेष से मुक्त हो जाते हैं। उपर्युक्त प्रसंग में जो रति स्थायी भाव है वह न राम की सीता के प्रति रति है न सहृदय की सीता के प्रति और न सहृदय की अपने प्रणय-पात्र के पति—यह तो निमुक्त रति भाव हैं जिसमें स्व पर की चेतना निश्शेष हो चुकी है। मूलतः यह सहृदय का ही स्थायी भाव है, परन्तु साधारणीकरण के कारण व्यक्ति-चेतना से निर्मुक्त हो गया है। इस प्रकार रस के अवयवों में जो मूर्त्त हैं वे विशेष से सामान्य बन जाते हैं और जो अमूर्त्त भाव-रूप हैं वे व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त हो जाते हैं—विभावों की देश काल के बन्धन से मुक्ति होती है और भावों की स्व-पर की चेतना से।

संस्कृत के परवर्ती शास्त्रकार प्रायः इसी मत की आवृत्ति करते रहे—केवल दो आचार्यों—विश्वनाथ और जगन्नाथ—के विवेचन में वैचित्र्य के कुछ संकेत मिलते हैं। विश्वनाथ ने वैसे तो स्थायी भाव और विभावादि सभी का साधारणीकरण माना है।

साधारण्येन रत्यादिरपि तत्प्रतीयते।
परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।। सा० द० —३-१२।।

तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते ।—३.१३ का पूर्वार्ध ।।

—शृंगारादि रसों के स्थायी भाव रति आदिक भी काव्य-नाट्यादि में सामान्य रूप से प्रतीत होते हैं। रसास्वाद के समय विभावादिकों को ये [विभावादि] मेरे हैं अथवा मेरे नहीं हैं—अन्य के हैं अथवा अन्य के नहीं, इस विशेष रूप से परिच्छेद अर्थात् सम्बन्ध-विशेष का स्वीकार अथवा परिहार नहीं होता है।

किन्तु उन्होंने आश्रय के साथ प्रमाता के अभेद या तादात्म्य को औरों की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है :

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः ।। ३.९ ।।
तत्प्रभावेण, यस्यासन्पाथोधिप्लवनादयः ।
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते ।। ३.१० ।।
उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याभिमानतः ।
नृणामपि समुद्रादिलंघनादौ न दुष्यति ।।३.११ ।।

—यही साधारणीकरण विभावादि का विभाजन नामक व्यापार है। इसी के प्रभाव से उस समय प्रमाता अपने को समुद्रलंघन करने वाले हनुमान् आदि से अभिन्न समझने लगता है। [हनुमान् आदि के साथ] साधारण्याभिमान अर्थात् अभेद-ज्ञान हो जाने पर मनुष्यों का भी समुद्रलंघन आदि में उत्साह दूषित नहीं है।

इसका सारांश यह है कि साधारणीकरण व्यापार के प्रभाव से प्रमाता का आश्रय के साथ तादात्म्य हो जाता है—सामान्य आश्रय के साथ ही नहीं वरन् अलौकिक शक्ति-सम्पन्न देवादि के साथ भी। उदाहरण के लिए लौकिक परिस्थिति में सामान्य जन के लिए समुद्रलंघन के उत्साह का अनुभव सम्भव नहीं है किन्तु काव्य नाट्यादि में, साधारणीकरण के प्रभाव से उसका हनुमान आदि के साथ तादात्म्य हो जाने के कारण, इस प्रकार का उत्साह भी सहज सम्भव हो जाता है। यह प्रसंग अभावात्मक रूप में भट्टनायक ने भी उठाया था—विश्वनाथ ने भावात्मक रूप में उसे और भी उभारकर सामने रखा है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी नव्यन्याय के आलोक में प्रकारान्तर से आश्रय के साथ तादात्म्य का ही कथन किया है, किन्तु इस संदर्भ में उन्होंने 'दोष' शब्द का प्रयोग अधिक शुद्ध माना है :

काव्ये नाट्ये च, कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु, व्यञ्जन-व्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तरं च सहृदयतोल्लासितस्य भावना-विशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना, कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजतखण्डः समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्य शकुन्तलादिवि-षय करत्यादिरेव रसः ।

—हिन्दी रसगंगाधर, प्र० आ०, पृ० १०१

—इसका अभिप्राय यह है कि पहले तो हमें काव्य और नाटक में कवि तथा नट द्वारा प्रस्तुत विभावादि का ज्ञान होता है। फिर व्यंजना व्यापार के द्वारा यह प्रतीति होती है कि दुष्यंत शकुन्तला के प्रति अनुरक्त है। इसके उपरान्त सहृदयता के कारण

हमारे चित्त में एक प्रकार की भावना उत्पन्न हो जाती है, अर्थात् हम अपनी सहृदयता के कारण दुष्यन्तादि के विषय में पुनः-पुनः अनुसंधान करने लग जाते हैं। यह भावना एक ऐसा दोष है जिससे हमारी आत्मा कल्पित दुष्यन्तत्व आदि से आच्छादित हो जाती है, अर्थात् उस समय हम अपने को दुष्यन्त समझने लगते हैं--और जब हम अपने को दुष्यन्त समझ लेते हैं तब हमें अपने को शकुन्तला प्रेमी समझने में कोई बाधा नहीं रह जाती अर्थात् उक्त दोष के कारण कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छान्न आत्मा में कल्पित शकुन्तला-विषयक रति भी भासित होने लगती है, जैसे दूरत्व आदि दोषों के कारण जब सीपी के टुकड़े अज्ञान से ढक जाते हैं—वास्तविक रूप में नहीं समझ पड़ते, तब उन टुकड़ों में ही चाकचिक्य दोष से चाँदी के टुकड़े उत्पन्न हो जाते हैं—अर्थात् वे सीप के टुकड़े चाँदी के टुकड़े प्रतीत होने लगते हैं। यद्यपि न हममें शकुन्तला आदि की रति वास्तविक रूप में रहती है, न सीप के टुकड़ों में चाँदीपन, तथापि साक्षी आत्मा उनका भान करा देती है।[1]

बात यह भी वही है कि जो विश्वनाथ ने कही है, किन्तु इस पर दर्शन का वर्म चढ़ा हुआ है। पण्डितराज के दार्शनिक विधान में साधारणीकरण के लिए स्थान नहीं है —यहाँ तो 'भ्रम' है : भावना दोष है। किन्तु दर्शन के आवरण को हटाकर देखें तो ये भी आश्रय के साथ प्रमाता के तादात्म्य और समानुभूति की बात कर रहे हैं : कवि की भावना-रूढ़ कल्पना से सामाजिक की सहृदयता (भावना-कल्पना) उद्बुद्ध हो जाती है और वह आश्रय के साथ तादात्म्य का अनुभव करता हुआ समान भाव की अनुभूति करता है। लौकिक-अलौकिक का व्यवधान यहाँ नहीं रहता—दुष्यन्त के साथ तादात्म्य होने से जिस प्रकार वह (कल्पित) रति का अनुभव करता है, इसी प्रकार हनुमान की भावना से आच्छादित होने के कारण वह समुद्रलंघन के उत्साह का भी अनायास ही (कल्पित) अनुभव कर लेता है।

---

१. **वस्तुतः पण्डितराज ने सामान्य रूप से साधारणीकरण को स्वीकार नहीं किया :**

यदपि विभावादीनां साधारण्यं प्राचीनैरुक्तम् तदपि काव्येन शकुन्तलादि-शब्दैः शकुन्तलात्वादिप्रकारकबोधजनकैः प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु दोषविशेषकल्पनंबिना दुरुपपादम् ।

—अर्थात् यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने विभावादि के साधारणीकरण का कथन किया है, फिर भी यह बात दोष-विशेष की कल्पना के बिना बन नहीं सकती, क्योंकि काव्यों में शकुन्तला आदि शब्दों के द्वारा ही शकुन्तला आदि का प्रतिपादन रहता है और जो शब्द शकुन्तलात्वेन शकुन्तला आदि के बोधक हैं, फिर कान्तात्वेन उनका बोध कैसे हो सकता है? (हिन्दी रसगंगाधर, प्र० आ०, पृ० १०५)**—कहने की आवश्यकता नहीं** कि **यह अस्वीकृति केवल शाब्दिक या सैद्धान्तिक है, व्यवहार में साधारणीकरण का निषेध यहाँ भी नहीं है।**

पण्डितराज के बाद गम्भीर शास्त्रीय विवेचन का क्रम प्रायः समाप्त ही हो गया। हिन्दी के रीति-कवियों का अनुराग काव्यशास्त्र के रोचक एवं सरल प्रसंगों तथा कविशिक्षा तक सीमित रहा—साधारणीकरण आदि तात्त्विक विषयों के प्रति उनके मन में कोई आकर्षण नहीं। अतः काव्यशास्त्र के इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक विषय का विवेचन गतिरुद्ध पड़ा रहा और लगभग तीन शताब्दियों के उपरान्त आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने प्रसिद्ध लेख[1] 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' में सहसा इसका पुनरुद्धार किया। शुक्लजी का यह लेख भारतीय काव्यशास्त्र-विषयक अनुसंधान का परिच्छेद या अंग न होकर स्वतन्त्र चिंतन का ही परिणाम है। उनकी दृष्टि अतीत पर न होकर वर्तमान पर ही स्थिर है और उन्होंने इस प्राचीन सिद्धान्त की अपने अभिमत 'लोकधर्म सिद्धान्त' के समर्थन में ही उद्धृति एवं व्याख्या की है। अतः इस लेख में साधारणीकरण-सिद्धान्त का शास्त्रीय विवेचन नहीं, पुनराख्यान ही प्रमुख है और इसी रूप में उसकी स्थापनाओं का मूल्यांकन करना चाहिए।

विवेच्य विषय से सम्बद्ध शुक्लजी के उद्धरण इस प्रकार हैं :

१. जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूरी शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।[2]

२. (क) काव्य का विषय सदा विशेष होता है, सामान्य नहीं, वह व्यक्ति सामने लाता है, जाति नहीं।

(ख) साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' का भाव आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।

(ग) जिस व्यक्ति-विशेष के प्रति किसी भाव की व्यंजना कवि या पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना में वह व्यक्ति विशेष ही उपस्थित रहता है।[3]

३. कल्पना में मूर्ति तो विशेष ही की होगी पर वह मूर्ति ऐसी होगी जो प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगाए जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है।[4]

४. व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है। 'विभावादि सामान्य रूप से प्रतीत होते हैं' इसका तात्पर्य यही

---

१. यह लेख प्रथम बार सन् १९३३ में 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ' में प्रकाशित हुआ था।

२. चिंतामणि भाग (१) १९५७, पृ० २२७-२३०।

३. वही।

४. वही।

है कि रसमग्न पाठक के मन में यह भेदभाव नहीं रहता कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है।[1]

५. साधारणीकरण में आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में चाहिए, फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है वह तभी चरितार्थ होता है।[2]

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर कतिपत तथ्य प्रकाश में आते हैं :

साधारणीकरण का विवेचन करते समय भट्टनायक और अभिनवगुप्त के अभिमत शुक्लजी के सामने नहीं थे।—केवल विश्वनाथ का मत ही उनके सामने था। उसका भी उन्होंने शास्त्रीय विवेचन न कर केवल स्वतन्त्र चिन्तन या अपने सिद्धांत के अनुकूल प्रयोग मात्र किया है। पहला तथ्य शुक्लजी की सामयिक परिसीमा का द्योतक है और दूसरा उनकी मौलिक प्रतिभा का।

वे मूलतः आलम्बन का साधारणीकरण मानते हैं। आलम्बन का अर्थ है भाव का विषय। उसका साधारणीकरण इस प्रकार होता है कि पहले वह कवि के भाव का विषय बनाता है और फिर समस्त सहृदय-समाज के भाव का विषय बन जाता है।

आलम्बन के साधारणीकरण का अर्थ यह नहीं कि उसका व्यक्तित्व ही तिरोहित हो जाता है—अर्थात् वह व्यक्ति न रहकर जाति बन जाता है। उसका व्यक्तित्व तो बना रहता है पर उसमें कुछ ऐसे गुणों का समावेश हो जाता है जिनके कारण वह समस्त सहृदय-समाज के उसी भाव का विषय बन जाता है—अर्थात् सीता कामिनीमात्र बनकर रह जाती है, यह बात नहीं, वरन् वह अपने शील-सौन्दर्य आदि सामान्य गुणों के कारण सभी के प्रेम का विषय बन जाती है। आलम्बन का व्यक्तित्व बना रहे और फिर भी उसका साधारणीकरण हो जाए—इस विषमता का समाधान करने के लिए शुक्लजी अपनी मूल स्थापना में थोड़ा संशोधन करते हुए कहते हैं कि साधारणीकरण वस्तुतः आलम्बन धर्म का होता है, अर्थात् उन सामान्य गुणों का होता है जिनके कारण सीता राम को प्रिय लगती है। यहाँ कई बातें उलझ जाती हैं : सीता केवल कामिनी नहीं है, व्यक्ति है; वे राम की प्रिया हैं, किन्तु राम के प्रेम का आधार उनके शील-सौंदर्य आदि ऐसे सामान्य गुण हैं जो समस्त सहृदय समाज में रति-भाव उत्पन्न करते हैं। सीता राम की प्रिया है किन्तु प्रेम का आधार चूँकि सीता के सामान्य गुण ही हैं, अतः वे सहृदय-समाज को भी प्रिय हैं—अर्थात् सहृदय-समाज के प्रेम का विषय सीता व्यक्ति नहीं वरन् उस व्यक्ति के शील-सौन्दर्य आदि गुण हैं। शुक्ल के सामने वास्तव में अपने दो सिद्धान्तों के बीच सामंजस्य स्थापित करने की समस्या उपस्थित हो गयी है—(१) काव्य का विषय (आलम्बन) विशिष्ट होता है, और (२) काव्य का आस्वादन भाव की सामान्य भूमिका पर होता है। इस समस्या का समाधान उन्होंने अपने बुद्धि-बल से इस प्रकार कर लिया है : आलम्बन के वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए समर्थ कवि जिसे लोक हृदय की पहचान

---

१. **चिंतामणि, भाग (१) पृ० २२७-२३०।**

२. **रसमीमांसा पृ० ६६।**

होती है, सामान्य गुणों के आधार पर उसका साधारणीकरण कर लेता है। निदान सहृदय सीता राम के प्रति अनुरक्त हो जाता है परन्तु उसके हृदय में यह भेदभाव नहीं रहता कि सीता राम के प्रेम की आलम्बन है या उसके अपने प्रेम की। सहृदय का चित्त व्यक्ति-चेतना से मुक्त हो जाता है।

पहले कवि के हृदय में सीता के प्रति अनुराग का उदय होता है, फिर वह आश्रय के द्वारा उसे व्यक्त करता है और अन्त में काव्य का आस्वादयिता समस्त सहृदय-समाज उस भाव का अनुभव करता है। अभिनव के गुरु भट्टतोत का भी यही मत है —**नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।**

शुक्लजी के मत का सार कदाचित् यही है—यहाँ हमने उन्हीं के मत को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है, उसके सत्यासत्य का निर्णय बाद में करेंगे।

यह मत भारतीय काव्यशास्त्र के स्वीकृत सिद्धान्त से थोड़ा भिन्न है। इसीलिए संस्कृत के शास्त्रविद् पण्डितों ने इस पर आक्षेप किये हैं। पण्डित केशवप्रसाद मिश्र ने शुक्लजी के इस मन्तव्य को 'भ्रम' की संज्ञा देते हुए लिखा है :

साधारणीकरण से यहाँ यह अर्थ लिया गया है कि विभाव, अनुभाव आदि को साधारण रूप देकर सामने लाया जाय। विभाव, अनुभाव आदि का साधारण अथवा लोक-सामान्य होना दो अर्थों में माना जा सकता है। एक तो स्वरूपतः सामान्य होना और दूसरे परिणाम अथवा उद्देश्य में सामान्य होना। स्वरूपतः सामान्य होने का आग्रह करना ठीक न होगा, क्योंकि उस अवस्था में विभाव, अनुभाव आदि सीमित और शृंखलाबद्ध हो जाएँगे और काव्य की व्यापकता नष्ट हो जायेगी। परिणामतः या अन्तिम ध्येय में सामान्यता (साधारणीकरण) मानने के भी दो प्रकार हो सकते हैं। एक तो बौद्धिक या द्वैतवादी जिसमें काव्य को नैतिक और अनैतिक के द्वन्द्वों के भीतर देखा जाता है और नैतिक पक्ष का रसास्वाद किया जाता है। और दूसरा मनोवैज्ञानिक, ध्वन्यात्मक अथवा कलात्मक जिसमें नैतिकता का प्रश्न पृथक् नहीं रहता, 'ध्वनि' में अवसित हो जाता है। इनमें पहला प्रकार भट्टनायक के 'भुक्तिवाद' के अनुकूल पड़ता है और दूसरा अभिनवगुप्त के ध्वनिवाद से सम्बन्धित है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त विद्वान् पहले प्रकार के समर्थक हैं, किन्तु हम आचार्य अभिनवगुप्त का मत मानते हैं। साधारणीकरण तो कवि अथवा भावुक की चित्तवृत्ति से सम्बन्ध रखता है। चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।[1]

केशवजी ने अपना मन्तव्य अन्त में सर्वथा स्पष्ट कर दिया है। वे अभिनवगुप्त के अनुसार साधारणीकरण से अभिप्राय चित्तवृत्तियों के साधारणीकरण का ही मानते हैं। सहृदय का चित्त जब एकतान हो जाता है तो उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है। विभाव का साधारणीकरण एकांगी है, भाव का साधारणीकरण ही वास्तविक एवं पूर्ण है। अभिनव ने अपने अद्वैत सिद्धांत के आधार पर इसी अखंड चेतना में साधारणीकरण का अनुसन्धान किया था। विभाव पर बल देने का अर्थ है विषय की

---

१. साहित्यालोचन, डॉ० श्यामसुन्दर दास (१९९९)
—पृ० २८४-८५ पर उद्धृत।

सत्ता की महत्त्व-प्रतिष्ठा अर्थात् द्वैत की प्रतिष्ठा और द्वैतवादी रस-कल्पना का आधार मूलतः बौद्धिक एवं नैतिक ही रहेगा। इस प्रकार केशवजी आचार्य शुक्ल की रस-दृष्टि को द्वैतवादी भट्टनायक के भुक्तिवाद के साथ सम्बद्ध कर उसे उतने ही अनुपात में अपूर्ण मानते हैं। अभिनव के अनुसार रस आध्यात्मिक प्रक्रिया है और केशवजी भी इसी आध्यात्मिक कल्पना में रसदृष्टि की पूर्णता मानते हैं। उनके आक्षेप का सारांश यह है : विभाव बद्ध या सीमित हैं, भाव मुक्त या असीम, अतः विभाव का साधारणीकरण अपूर्ण एवं सीमित है—वह बौद्धिक एवं नैतिक है जबकि भाव का साधारणीकरण चित्त की मुक्ति अथवा संविद्विश्रान्ति का पर्याय है, अतः वह पूर्ण है। पं० केशवप्रसाद मिश्र का विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म एवं तात्त्विक है। उन्होंने आचार्य शुक्ल की विभावनिष्ठ दृष्टि तथा नैतिक चेतना के संबंध का उद्घाटन अत्यन्त मार्मिकता के साथ किया है और अन्ततः उसे अभिनवगुप्त के अद्वैत की अपेक्षा भट्टनायक के द्वैत-सिद्धान्त के सन्निकट माना है। फिर भी उनके सभी निष्कर्ष यथावत् ग्राह्य नहीं हैं। यह तो ठीक है कि प्राचीन आचार्यों में भट्टनायक के दृष्टिकोण में द्वैत का आधार होने से विषय की सत्ता की स्वीकृति है और चूंकि उन्होंने ही सबसे पहले रसास्वाद के प्रसंग में नैतिक प्रश्न उठाया है, अतः यह भी कल्पनासंगत ही है कि उनका दृष्टिकोण आध्यात्मिक या शुद्ध आनन्दवादी न होकर नैतिक आधार लिये हुए है। ये दोनों तत्त्व ऐसे हैं जो शुक्लजी के दृष्टिकोण में भी विद्यमान हैं, अतः उनका मत भट्टनायक के अनुकूल है, यह निष्कर्ष भी अशुद्ध नहीं है। किन्तु भट्टनायक और शुक्लजी के मन्तव्यों में कुछ स्पष्ट भेद भी है—(१) उदाहरण के लिए भट्टनायक ने सभी का साधारणीकरण माना है, आलम्बन पर बल नहीं दिया। (२) निजकान्तास्मृति की सत्ता को उन्होंने रसास्वाद की प्रक्रिया में सर्वथा अस्वीकृत कर दिया है, पर शुक्लजी विकल्प रूप में यह भी मान लेते हैं कि 'यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है तो शृंगार रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह-रहकर आलम्बन रूप में उसकी प्रेयसी की मूर्ति ही उसकी कल्पना में आएगी।' (३) भट्टनायक करुणादि समस्त रसों की अनुभूति को आनन्दमयी मानते हैं, परन्तु शुक्लजी की रसकल्पना हृदय की मुक्तावस्था का ही पर्याय है, अर्थात् वह भट्टनायक के भावकत्व-व्यापार-जन्य 'निजमोहसंकटतानिवारण' पर ही समाप्त हो जाती है 'भोग' तक नहीं पहुँच पाती।

पं० केशवदास मिश्र के उपरान्त भी यह विवेचन-क्रम चला और डॉ० गुलाबराय तथा पं० रामदहिन मिश्र आदि ने प्रस्तुत प्रसंग पर विस्तार से अपने विचार व्यक्त किए, किन्तु इनके विवेचन में विषय की व्याख्या का ही प्राधान्य है—कोई नवीन विचार हमारे सामने उपस्थित नहीं होता।

सारांश

इस सम्पूर्ण विवेचन का सारांश यह है :

१. रस के समस्त अवयवों—विभाव, अनुभाव और संचारी का साधारणीकरण होता है। साधारणीकरण की प्रक्रिया में थोड़ा-सा (असंलक्ष्य) क्रम रहता है—

विभावादि का साधारणीकरण पहले होता है और स्थायी का उसके परिणामस्वरूप बाद में। यह भट्टनायक का मत है और इसमें विषय तथा विषयी दोनों पक्षों का संतुलन हैं।

२. मूलतः रस के विभावादि समस्त अवयवों का ही साधारणीकरण होता है और विभावादि के साधारणीकरण के फलस्वरूप ही स्थायी का साधारणीकरण होता है जिसमें सहृदय की चेतना व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त हो जाती है। परन्तु स्थायी का यह साधारणीकरण—अर्थात् सहृदय-चेतना की निर्मुक्ति ही अन्ततः मुख्य हो जाती है और शेष ज्ञान (सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकार का) उसमें लीन हो जाता है। यह अभिनवगुप्त का मत है और इसमें अन्ततः भाव एवं विषयी पक्ष की ही स्वीकृति है।

३. तीसरे मत के अनुसार भी साधारणीकरण तो सभी का माना गया है, किन्तु यहाँ साधारणीकरण की प्रक्रिया में आश्रय के साथ तादात्म्य को रेखांकित कर दिया गया है—प्रमाता की चेतना विकसित होकर हनुमान की चेतना के साथ तादात्म्य कर समुद्रलंघन जैसे अलौकिक कार्यों के प्रति भी उत्साह का अनुभव करती है। यहाँ हनुमान (विभाव) का उत्साही पुरुष मात्र के रूप में साधारणीकरण नहीं माना गया, वरन् सम्पूर्ण प्रमातृवर्ग का अलौकिक शक्ति-सम्पन्न हनुमान के साथ तादात्म्य स्वीकार किया गया है। इस रूप में यह भट्टनायक और अभिनव के मत से किंचित् भिन्न है। —यह मत विश्वनाथ का है, जगन्नाथ ने भी दर्शन की शब्दावली में इसे प्रस्तुत किया है, उनके विचार से भी (भ्रमवश ही सही) आश्रम के साथ तादात्म्य ही मुख्य क्रिया है।

४. शुक्लजी के मत से साधारणीकरण मूलतः आलम्बन या आलम्बनत्व धर्म का होता है अर्थात कवि आलम्बन का इस प्रकार वर्णन करता है कि वह अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए भी साधारण धर्मों के कारण सभी पाठकों के मन में वैसा ही भाव उद्बुद्ध करता है जैसा कि काव्य-प्रसंग के अन्तर्गत आश्रय के मन में आता है। इस प्रकार भाव के साधारणीकरण को शुक्लजी भी यथावत् स्वीकार करते हैं, किंतु बल उनका विभाव अर्थात आलम्बन या आलम्बन-धर्म के साधारणीकरण पर ही है।

५. साधारणीकरण की प्रक्रिया में तीन बिन्दु हैं: कवि, नायक (आश्रय) और श्रोता। इन तीनों के भाव-तादात्म्य से साधारणीकरण पूर्ण हो जाता है। यह भट्टतोत का मत है। आचार्य शुक्ल ने भी इसे यथावत् मान्यता प्रदान की है।

विवेचन

इन विकल्पों में से कौन-सा सत्य है—साधारणीकरण वस्तुतः किसका होता है? मूल प्रश्न यही है कि जिसका समाधान किए बिना साधारणीकरण का वास्तविक आशय और महत्त्व स्पष्ट नहीं हो सकता।

'मानस' के जनक-वाटिका में-प्रसंग का अध्ययन करते समय दो सत्ताएँ विद्यमान रहती हैं—एक वस्तु या विषय की और दूसरी प्रमाता या विषयी की। विषय के अन्तर्गत विभाव अर्थात् आश्रय और आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव और संचारी आते हैं, विषयी स्वयं सहृदय या प्रमाता है। भट्टनायक के मत से विषय के समस्त अंगों

का साधादरणीकरण होता है और परिणामतः प्रमाता के स्थायी भाव का भी। यही मौलिक सिद्धांत है, परन्तु मूल सिद्धांत की समीक्षा करने से पूर्व इसके विषय में प्रस्तुत संशोधनों पर विचार करना अधिक उपयोगी होगा।

आश्रय के साथ तादात्म्य—साधारणीकरण की प्रक्रिया में, जहाँ रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण होता है, आश्रय का साधारणीकरण भी अन्त-र्भूत है—अर्थात् जैसा कि हमने ऊपर स्पष्ट किया है, आश्रय का साधारणीकरण भी समस्त प्रक्रिया का अनिवार्य अंग है। किंतु आश्रय के साधारणीकरण और प्रमाता द्वारा आश्रय के साथ तादात्म्य की अनुभूति में अन्तर है। पहले का अर्थ यह है कि राम या हनुमान् अलौकिक शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति न रहकर सामान्य पुरुष बन जाते हैं और दूसरे का अर्थ यह है कि प्रमाता उन क्षणों में अपने को राम या हनुमान् समझने लगता है और धर्मयुग अथवा समुद्रलंघन जैसे अलौकिक कृत्यों के प्रति उसके मन में उत्साह जागृत हो जाता है। एक में राम या हनुमान् का सामान्य मानव-धरातल पर उतरना विवक्षित है और दूसरे में प्रमाता का उठकर विशेष अलौकिक धरातल पर पहुंचना। किन्तु आश्रय के साधारणीकरण का आशय यह नहीं कि ये अपने गौरव से वंचित होकर जनसाधारण के स्तर पर उतर जाते हैं। ऐसा मान लेने पर तो काव्य द्वारा उदात्तीकरण का सिद्धांत ही खण्डित हो जाएगा। साथ ही उसका यह अर्थ भी नहीं है कि काव्य में 'व्यक्ति' का नहीं जाति या वर्ग का चित्रण होता है और आश्रय अपना व्यक्तित्व खोकर वर्गगत या जातिगत गुणों का प्रतीक मात्र रह जाता है क्योंकि इस प्रकार तो काव्य भावना का विषय न रहकर विचार का ही विषय रह जाएगा और उसकी प्रभावी शक्ति नष्ट हो जाएगी। इसका अर्थ यह है कि आश्रय के गौरव का वैशिष्ट्य—देशकालबद्ध रूप—तिरोहित हो जाता है और सामान्य मानवीय औदात्त्य उभरकर सामने आ जाता है जो सहृदय-समाज के संस्कारों में भी निसर्गतः विद्यमान है। फिर भी 'प्रमाता का आश्रय के साथ तादात्म्य' यह नहीं है कि क्योंकि तादात्म्य की प्रक्रिया में आश्रय तो बदलता ही नहीं : विश्वनाथ के अनुसार प्रमाता अपने में हनुमान् का अभिमान करने लगता है—यहाँ तक कि समुद्रलंघन जैसे अलौकिक कृत्यों के प्रति भी उसमें उत्साह जग जाता है। जैसे यह स्थिति प्राचीन मत के अनुसार ग्राह्य नहीं है, वास्तव में इसी प्रकार के अलौकिक पात्रों और उनके कार्यों का सामान्य पाठक के लिए ग्राह्य बनाने के उद्देश्य से ही तो साधारणीकरण की आवश्यकता और भी होती है। इसके अतिरिक्त "आश्रय" शब्द का अर्थ तो बहुत व्यापक है। यहाँ आश्रय का व्यक्तित्व प्रेय और भाव मधुर होने के कारण हम थोड़ी देर,के लिए संदेह में पड़ सकते हैं, राम और दुष्यन्त या हनुमान् और अंगद ही नहीं रावण और शूर्पणखा भी तो आश्रय हो सकते हैं, अर्थात आश्रय तो घृणित, क्रूर, भिन्न-लिंगी, नीच—हमारे व्यक्तित्व के ठीक विपरीत हो सकता है, हम उसके साथ कहाँ तक तादात्म्य करते फिरेंगे? यदि प्रेय चरित्रों को ही लें, तब भी तादात्म्य सर्वत्र ग्राह्य नहीं हो सकता, मृतवत्सा शैव्या के साथ तादात्म्य तो शोक का कारण ही हो सकता है रस का नहीं। पण्डितराज के अनुसार, भावना-दोष के कारण कल्पित दुष्यन्तत्व द्वारा सहृदय-चेतना के आच्छादन

की प्रकल्पना को भी यदि यथावत् स्वीकार कर लें तब भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता। कल्पना के बीच में आ जाने से वास्तविक शोक का आघात कम तो हो सकता है पर इस कल्पित शोक की रस में परिणति नहीं हो सकती। पण्डितराज भी काव्य के चमत्कार के अतिरिक्त इसका कोई तर्कसम्मत उत्तर नहीं दे सके। अतः 'आश्रय के साथ तादात्म्य' की स्वतंत्र या प्रमुख स्थिति अग्राह्य है, साधारणीकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया के अंगरूप में ही तादात्म्य मान्य हो सकता है।

आश्रय के प्रसंग में ही नायक का प्रश्न भी उठाया जा सकता है। नायक के साथ प्रमाता का तादात्म्य होता है : **नायकस्य कवेः श्रोतुः समानाऽनुभवस्ततः** (तोत)। इसमें क्या आपत्ति है? आपत्ति स्पष्ट है। संस्कृत-काव्य का नायक ऐसे गुणों से विभूषित होता था कि उसके साथ तादात्म्य करना प्रत्येक सहृदय के लिए सहज और स्पृहणीय था। काव्य के मूल अर्थ की अभिव्यक्ति कवि प्रायः नायक के माध्यम से ही करता था। अर्थात् कवि स्वयं नायक से तादात्म्य स्थापित कर लेता था, अतः सहृदय-समाज का भी उसके साथ सहज तादात्म्य हो जाता था। इस प्रविधि का उपयोग आज भी होता है और नायक की परम्परागत गरिमा आज भी नष्ट नहीं हुई। किन्तु स्थिति में थोड़ा परिवर्तन तो हो ही गया है। आज अनेक प्रथम श्रेणी के उपन्यासों में नायक का रूप उक्त आदर्श के बिल्कुल विपरीत मिलता है जिसके साथ तादात्म्य सहृदय के लिए सहज होगा न स्पृहणीय। उदाहरण के लिए एक साम्यवादी उपन्यासकार किसी हृदयहीन पूँजीपति को नायक के रूप में हमारे सामने लाकर अपनी संपूर्ण घृणा को उसके व्यक्तित्व में पुंजीभूत कर देता है। उपन्यास व्यक्ति-प्रधान है क्योंकि उसका उद्देश्य पूँजीवाद की मूल चेतना—व्यक्तिवाद—के प्रति घृणा जगाना है। नायक असंदिग्ध रूप से वही घृणित व्यक्ति है। परन्तु क्या आप उसके साथ तादात्म्य कर सकेंगे? यदि ऐसा कर सकेंगे तो उपन्यासकार की घोर विफलता होगी। इस तरह 'नायक के साथ तादात्म्य' भी सर्वथा सिद्ध नहीं होता और रस-परिपाक के लिए नायक का साधारणीकरण भी आश्रय के साधारणीकरण के समान ही (यद्यपि उतना नहीं) अपर्याप्त ही रहता है।

आलम्बन या आलम्बन-धर्म का साधारणीकरण—आलम्बन-धर्म के साधारणीकरण का अर्थ यह है कि काव्य में वर्णित भाव का विषय—व्यक्ति या वस्तु—यद्यपि विशेष रूप में प्रत्येक सहृदय के मानस-पटल पर अंकित होता है, फिर भी वह अपने कुछ सामान्य अर्थात् सभी को प्रायः समान रूप से प्रभावित करने वाले गुणों के कारण समस्त सहृदय समाज के चित्त में प्रायः एक-सा भाव जगाता है। इस प्रकार साधारणीकरण मूलतः आलम्बन के उन गुणों का होता है जो सम्बद्ध भाव की जागृति के कारण है। सीता का सीतात्व तो नष्ट नहीं होता। पर उनके ऐसे सामान्य गुण उभरकर सामने आ जाते हैं जिनके कारण वे केवल राम के ही नहीं सम्पूर्ण सहृदय-समुदाय के अनुराग की भाजन बन जाती हैं। मैं समझता हूँ कि आचार्य शुक्ल के मत का और अधिक स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है। परन्तु क्या यह मान्य है?

इस विषय में कुछ बातें बिल्कुल साफ़ हैं। एक तो यह कि प्रस्तुत मत भट्टनायक

तथा अभिनवगुप्त दोनों के मतों से भिन्न है, केवल विश्वनाथ के मन्तव्य से ही इसमें परिणामी समानता है। भट्टनायक और अभिनव दोनों ही आलम्बन आदि के व्यक्तित्व का विगलन मानते हैं—उसके बिना न विभाव का और न भाव का ही साधारणीकरण पूर्ण हो सकता है। इस स्वतः स्पष्ट तथ्य को स्वीकार करने में परेशान होने की जरूरत नहीं है—शुक्लजी के युग की अपनी मर्यादाएँ थीं क्योंकि अभिनवगुप्त आदि के ग्रन्थ उस समय सुलभ नहीं थे और साथ ही उनकी चिन्तन-पद्धति भी एकान्त रूप में शास्त्र-बद्ध नहीं थी। दूसरी बात यह है कि विशेष रूप को सुरक्षित रखते हुए आलम्बन के साधारणीकरण की सिद्धि वास्तव में नहीं हो सकती। स्वयं शुक्लजी को इसकी प्रतीति हुई है, इसीलिए वे आलम्बन से हटकर आलम्बनत्व या आलम्बन-धर्म तक पहुँच गए हैं—और फिर उन्हें उसको नैतिक आधार प्रदान करना पड़ा है। ऐसा आलम्बन शुक्ल जी को ग्राह्य नहीं है जिसका आधार नैतिक न हो क्योंकि उसका तो साधारणीकरण ही नहीं हो सकता। यहाँ आप देखें कि कठिनाई किस प्रकार बढ़ती जा रही है—आलम्बन, फिर आलम्बन-धर्म, और फिर उसका औचित्य या नैतिक आधार। यह सब इसलिए हो रहा है कि भाव के विषय को भाव से अधिक महत्त्व दिया जा रहा है और साधारणीकरण की प्रक्रिया में एक अंग स्वतन्त्र हो गया है। तीसरा आक्षेप यह किया जा सकता है कि इस प्रकार आलम्बन का क्षेत्र सीमित हो जाता है। और परम्परा द्वारा निर्धारित आलम्बन ही काव्य में ग्राह्य हो सकते हैं—अर्थात् रामादि प्रीतिकर भावों के और रावणादि प्रतीतिकर भावों के ही आलम्बन बन सकते हैं। अतः यह रस-दृष्टि परम्परागत नैतिक मूल्यों से परिबद्ध है। सामान्यतः परम्परा एवं नैतिक मूल्यों का अनुशासन श्रेयस्कर ही होता है और काव्य-मूल्य उससे सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हो सकते। फिर भी नैतिक मूल्य और साहित्यिक मूल्य पर्याय नहीं बन सकते। इस तरह तो भाव क्षेत्र का विकास ही रुक जाएगा और 'मेघनाद-वध' जैसे महान् काव्यों की रसवत्ता ही खण्डित हो जाएगी। वास्तव में परम्परा और नीति-संहिता का बड़ा महत्त्व है, परन्तु मानवता उससे भी बड़ी है। अतएव परम्परा और नीति-विधान के प्रति निष्ठावान् रहते हुए भी काव्य-मूल्यों को तो मानवीय और सार्वभौम ही बनना पड़ेगा। प्रस्तुत सिद्धान्त को यथावत् स्वीकार कर लेने पर रस का क्षेत्र सीमित हो जाता है—मानवात्मा की वह दिव्य कान्ति, जो प्रथा और नीति के आवरण को चीर जीवन के असाधारण क्षणों में कौंध जाती है, इस रस-दृष्टि के घेरे में नहीं आती और केवल माइकेल के साथ ही नहीं सूर और टॉल्सतॉय जैसे कलाकारों के साथ भी अन्याय हो जाता है।

सहृदय की चेतना का साधारणीकरण—सहृदय की चेतना का साधारणीकरण निर्मुक्त रसास्वादन की अन्तिम एवं आधारभूत क्रिया है। किन्तु यह परिणाम है : विभावादि के साधारणीकृत रूप में उपस्थित होने से अन्ततः प्रमाता की चेतना भी स्वपर की भावना से मुक्त—एकतान—हो जाती है, स्वर्गीय पं० केशवप्रसाद मिश्र ने अभिनवगुप्त के प्रमाण से इसी को प्रधानता दी है। चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे (प्रमाता को) सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है। किन्तु यह धारणा यथावत् मान्य नहीं है—चित्त की एकतानता ही तो संविद्विश्रान्ति है और वही रस है, अतः

वह साधारणीकरण का कारण नहीं हो सकती, वह तो कार्य या परिणति है। चित्त के एकतान होने पर तो प्रमाता, अभिनव के अनुसार आत्मास्वाद-रूप रस का अनुभव करता है, उस समय उसे अन्य पदार्थों की साधारण प्रतीति के लिए अवकाश ही नहीं रहता। साधारणीकरण रसास्वाद का समरूप, सहचारी या संचारी नहीं है, वह तो कारण है। अतः यह स्थापना भी सर्वथा मान्य नहीं है कि प्रमातृ-चेतना की एकतानता ही वस्तुतः साधारणीकरण है।

सर्वांग का साधारणीकरण—अन्त में हम घूम-फिरकर भट्टनायक के इस मन्तव्य पर लौट आते हैं कि साधारणीकरण वास्तव में सर्वांग का ही होता है। उदाहरण के लिए ऊपर उद्धृत जनक-वाटिका प्रसंग में आश्रय राम, आलम्बन सीता, आश्रय की चेष्टाएँ—अनुभाव, जनकवाटिका का रमणीक वातावरण—उद्दीपन, राम के मन में संचारण करने वाले हर्ष, मति आदि भाव सभी साधारणीकृत हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में संपूर्ण प्रसंग ही विशिष्ट देशकाल-बद्ध घटना न रहकर साधारणीकृत हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप प्रमाता की चेतना भी व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त—साधारणीकृत हो जाती है। किन्तु यह काव्य-प्रसंग तो अपने आपमें जड़ वस्तु है—इसका चैतन्य अंश तो इसका अर्थ है। और यह अर्थ क्या है? कवि का संवेद्य—कवि की अनुभूति—सामान्य भावानुभूति नहीं, सर्जनात्मक अनुभूति, भाव की कल्पनात्मक पुनः सर्जना की अनुभूति—भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दावली में 'भावना'। इसी का शास्त्रीय नाम 'ध्वन्यर्थ' है जो एक ओर कवि के अर्थ को व्यक्त करता है और दूसरी ओर प्रमाता के चित्त में समान अर्थ को उद्बुद्ध करता है। काव्य-प्रसंग इसी का मूर्त्त रूप या बिम्ब है। अर्थ के अनुरूप ही यह बिम्ब सरल अथवा संश्लिष्ट होता है—प्रायः संश्लिष्ट ही होता है। उपर्युक्त बिम्ब निश्चय ही संश्लिष्ट है, उसमें अनेक लघु बिम्बों का समन्वय है। राम के विषय में कवि की भावात्मक कल्पना "आश्रय राम" के रूप में बिम्बित हुई है। सीता-विषयक भावना 'आलम्बन सीता' के रूप में, उनके प्रथम मिलन के पावन रमणीय वातावरण की भावना 'उद्दीपक जनकवाटिका' के रूप में और राम के मन में उद्भूत भावनाओं की कल्पना हर्ष, मति आदि संचारियों के रूप में बिम्बित हुई है। ये छोटे-छोटे बिम्ब मिलकर एक संश्लिष्ट बिम्ब का निर्माण करते हैं जो रामसीता-प्रथममिलन विषयक कवि की संश्लिष्ट भावना को शब्द मूर्त्त करता है। अतः काव्य-प्रसंग और कुछ नहीं कवि की 'भावना' का बिम्ब मात्र है—यह काव्य-प्रसंग या बिम्ब शरीर है और कवि-भावना उसको प्रकाशित करने वाली चैतन्य आत्मा है, और चूँकि साधारणीकरण जड़ यान्त्रिक क्रिया न होकर चैतन्य क्रिया है, अतः काव्य-प्रसंग या रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण मानने के अपेक्षा कवि भावना का साधारणीकरण मानना मनोविज्ञान के अधिक अनुकूल है। भट्टनायक की विषयप्रधान धारणा और अभिनव की विषयप्रधान धारणा—दोनों के साथ इसकी संगति बैठ जाती है, वस्तुतः यह दोनों के बीच अनुस्यूत सम्बन्ध-सूत्र है और वर्तमान युग में रस-सिद्धान्त के सबसे समर्थ प्रतिष्ठापक आचार्य शुक्ल को भी इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

पिछले दशक में मेरी इस स्थापना को लेकर काफ़ी विवाद हुआ है और उसके

विरुद्ध अनेक प्रकार के तर्क एवं शंकाएँ व्यक्त की गयी हैं। इनमें से अनेक आक्षेप तो पूर्व-ग्रह अथवा व्यक्तिगत निष्ठा पर आश्रित हैं, अतः उनके पीछे तर्क अथवा सत्यान्वेषण का आग्रह इतना नहीं है जितना कि शुक्लजी के प्रति अतर्क्य विश्वास तथा गुरुद्रोही के प्रति आक्रोश है। ये अबोध तार्किक और उनके मन्त्रदाता दया के ही पात्र हैं क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कहना चाहते हैं और क्या कह रहे हैं। किन्तु दो आक्षेप ऐसे हैं जिनका समाधान विषय के स्पष्टीकरण के लिए आवश्यक है। एक आक्षेप स्वर्गीय डॉक्टर गुलाबराय का है—वे यह स्वीकार नहीं करते कि सम्पूर्ण काव्य प्रसंग (आश्रय-आलम्बन तथा उनसे सम्बद्ध घटना आदि) कवि की अनुभूति का प्रतीक मात्र है, उसकी स्वतन्त्र वस्तु-स्थिति नहीं है।

'यद्यपि यह बात किसी अंश में ठीक है कि राम-सीतादि का रूप विभिन्न कवियों की भावनाओं की अभिव्यक्ति पर ही आश्रित रहता है तथापि जनता के मन में भी परम्परागत संस्कारों से एक सामान्य भावना बनी रहती है, वही आलम्बन का विषयगत अस्तित्व है। जो बात सबके मन में वर्तमान हो वह मानसिक रहती हुई विषयगतता (Objectivity) धारण कर ही लेती है।'

(सिद्धान्त और अध्ययन, द्वि० सं०,पृ० २१३)

वास्तव में बाबूजी के इस मंतव्य का मेरी स्थापना से कोई विशेष विरोध नहीं रह जाता, क्योंकि अन्ततः वे भी आलम्बन आदि का अस्तित्व मानसिक या संस्कारगत ही मान लेते हैं। एक जनकवाटिका-प्रसंग 'प्रसन्नराघव' में है और दूसरा 'रामचरित-मानस' में—'वाल्मीकि रामायण' में वह है ही नहीं। ऐसी दशा में उसकी वस्तुस्थिति क्या रही ? बाबूजी कहेंगे कि जनमानस में इस प्रसंग का जो 'साधारण' संस्कार विद्य-मान है, वही उसका वस्तुगत आधार है। किन्तु यह साधारण संस्कार भी तो कवि की अनुभूति से ही बना है। अथवा यों कहिए कि यह अनेक कवियों की अनुभूतियों का संघात ही तो है। और फिर 'मानस' का जनकवाटिका-प्रसंग जनमानस के साधारण संस्कार का बिम्ब मात्र नहीं है—तुलसी के तद्विषयक मनोबिम्ब का शब्द-रूप है। इसलिए बाबूजी द्वारा प्रतिपादित विषय-सत्ता भी अन्ततः विषयिगत ही सिद्ध हो जाती है और उनका मतभेद मूल सिद्धान्त से न रहकर बलाबल मात्र तक सीमित रह जाता है—अर्थात् उन्हें ऐसा लगा है जैसे मैंने पूरा बल कवि की विशिष्ट अनुभूति पर ही केन्द्रित कर 'साधारण' संस्कार की उपेक्षा कर दी हो। परन्तु ऐसा तो है नहीं—मैंने तो कहीं भी कवि की अनु-भूति को 'विशिष्ट' या 'वैयक्तिक' अनुभूति नहीं माना।

दूसरा आक्षेप यह है कि जिस प्रकार प्रत्येक स्थिति में आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित करना हमारे लिए संभव नहीं है, इसी प्रकार प्रत्येक स्थिति में कवि के साथ तादात्म्य करने में कठिनाई हो सकती है। जिस प्रकार आश्रय की भावनाएँ हमारी भावनाओं के सर्वथा विपरीत हो सकती हैं, इसी प्रकार कवि की भी। उदाहरण के लिए, यदि कोई प्रगतिवादी कवि विद्रोह की उग्र भावना से अभिभूत होकर भारतीय परम्पराओं का उपहास करता है या चिरन्तन प्रयोगशीलता का आग्रही कवि जीवन के शाश्वत मूल्यों पर व्यंग्य करता है तो उसके साथ हमारा तादात्म्य कैसे हो सकता है,

अर्थात् उक्त प्रगतिवादी या नये कवि की अनुभूति का साधारणीकरण कैसे माना जा सकता है ? साम्प्रदायिक भक्त-कवियों के संबंध में भी यही समस्या सामने आती है। उनके 'सहचरी भाव' का साधारणीकरण किस प्रकार हो सकता है ? इस समस्या का समाधान भी कठिन नहीं है। ये सभी परिस्थितियाँ वास्तव में ऐसी ही हैं जहाँ स्वयं कवि अपनी भावना का साधारणीकरण करने में असमर्थ रहता है—साम्प्रदायिक चेतना अथवा राजनीतिक या साहित्यिक पूर्वग्रह के कारण उसकी अनुभूति विशिष्ट ही रहती है। और, जब कवि स्वयं ही अपनी अनुभूति के साधारणीकरण में असमर्थ रहता है तब पाठक या पाठक-समाज के चित्त में समान अनुभूति का उद्‌बोध वह कैसे कर सकता है ? इस प्रकार मूलतः अ-साधारणीकृत या साधारणीकरण के अयोग्य कवि-अनुभूति का उदाहरण देकर हमारी स्थापना को असिद्ध नहीं किया जा सकता। वास्तव में उपर्युक्त उदाहरणों में तो अनुभूति व्यक्तिगत ही रह जाती है, काव्यानुभूति बन ही नहीं पाती, क्योंकि कवि अथवा यों कहें कि कवि धर्म में रत व्यक्ति स्वयं अपने चित्र को एकतान नहीं कर पाया —वह तो अपने व्यक्तिगत (वर्गगत या सम्प्रदायगत)[1] भाव को ही वाणी दे रहा है और व्यक्तिगत भाव की अभिव्यक्ति कविता नहीं होती। इसके विपरीत जहाँ उसका कवि कर्म सफल हो जाता है, जैसे कि मेघनाथ वध में, वहाँ साधारणीकरण हो जाता है, और हिन्दू पाठक भी अपने व्यक्तिगत या जातिगत संस्कारों से मुक्त होकर शुद्ध सहृदयता की भूमि पर कवि के साथ कुछ समय के लिए तादात्म्य कर लेता है।

अतएव निष्कर्ष यही निकला कि साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदयों में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कह सकते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है। अनुभूति सभी में होती है, सभी व्यक्ति उसे यत्किंचित् व्यक्त भी कर लेते हैं। परन्तु साधारणीकरण करने की शक्ति सबमें नहीं होती इसीलिए तो अनुभूति और अभिव्यक्ति के होते हुए भी सब कवि नहीं होते। कवि वह होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके, दूसरे शब्दों में 'जिसे लोक हृदय की पहचान हो'। यहाँ आकर ये सभी बाधाएँ आप दूर हो जाती हैं। किसी आश्रय का व्यक्तित्व हमारे विपरीत है, या कोई नायक हमारी घृणा और क्रोध का विषय है, अथवा किसी आलम्बन के प्रति हमारा भाव-विशेष अनुचित है। आश्रय-रूप रावण यदि कहीं राम की भर्त्सना करता है तो क्या हुआ ? हमारी रसानुभूति में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि हमारे अन्तर में तो वही अनुभूति जागेगी जो कवि ने इस प्रतीक द्वारा व्यक्त की है। माइकेल को रावण से सहानुभूति है इसलिए 'मेघनाथ वध' का यह प्रसंग हमारे हृदय में रावण के लिए सहानुभूति और राम के प्रति तुच्छ भाव जागृत करेगा। तुलसी को यदि राम के प्रति भक्ति और रावण के प्रति घृणा है तो यह प्रसंग उसी के अनुकूल हमारे लिए रावण को उपहास्य या तुच्छभाव या घृणा का विषय

---

१. **वर्ग-चेतना और साम्प्रदायिक चेतना भी व्यक्ति चेतना का ही प्रक्षेपण मात्र है।**

बनाकर राम के प्रति हमारी भक्ति जागृत करेगा। हमको रस दोनों ही अवस्थाओं में आएगा। आश्रय यदि भिन्नलिंगी है—पुरुष पाठक के सामने 'खण्डिता' का विरह-निवेदन या नारी पाठक के समक्ष खलनायक ही मनुहारों का वर्णन है, तब भी कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि हम न खण्डिता से तादात्म्य करते हैं और न खलनायक से। हमारा तादात्म्य तो इन बिम्बों द्वारा व्यक्त कवि-भाव के साथ होता है। इसी प्रकार यदि साम्यवादी लेखक के उपन्यास का पूँजीपति नायक अपनी कुत्साओं में जघन्य है, तो हुआ करे, हम उससे तादात्म्य थोड़ा ही स्थापित करते हैं। हम (हमारी अनुभूति) लेखक (की अनुभूति) से तादात्म्य स्थापित करते हैं। अतएव हम लेखक की तरह ही उसकी जघन्यता के प्रति अपनी घृणा और क्रोध जागृत कर उपन्यास का रस लेंगे। ठीक इसी तरह यदि सीता में हमारी परम्परागत पूज्य-बुद्धि है तो हो। यह सीता नहीं है, यह तो कवि की अनुभूति का प्रतीक है। तुलसी को यदि उसके प्रति अमिश्रित रति की अनुभूति न होकर श्रद्धामिश्रित रति की अनुभूति होती है तो हमको वैसी ही होगी। हम राम से तादात्म्य न करके तुलसी से ही तादात्म्य कर पाएंगे। ऐसी दशा में हमको रसानुभूति तो होगी पर अमिश्रित शृंगार की नहीं। इसके विपरीत 'कुमारसंभव' या रीतिकालीन राधा-कृष्ण-प्रम-प्रसंगों को पढ़कर यदि हमें अमिश्रित शृंगार की अनुभूति होती है तो उसका कारण यही है कि तुलसी के विपरीत कालिदास या रीति-युग के कवि की तद्विषयक अनुभूति अमिश्रित रति की ही अनुभूति थी। उसमें कोई मानसिक ग्रन्थि नहीं थी। यह सीधा सत्य है जिसे एक ओर साधारणीकरण के आविष्कारक भट्टनायक और अभिनव-गुप्त भारत की अव्यक्तिगत काव्य-परम्परा के कारण, दूसरी ओर आधुनिक आलोचना में उसके सबसे प्रबल पृष्ठपोषक शुक्लजी अपनी वस्तुपरक या नैतिक रस-दृष्टि के कारण, अभिज्ञ होते हुए भी सर्वथा स्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं कर पाए।

अगर आप ऊब न गए हों तो आइए एक और आवश्यक प्रश्न का समाधान कर लिया जाए। साधारणीकरण कवि के लिए किस प्रकार संभव होता है? वह किस प्रकार अपनी अनुभूति का साधारणीकरण करता है? स्वदेश-विदेश के पण्डितों ने इसके दो उत्तर दिये हैं: १. साधारणीकरण भाषा या काव्य भाषा का धर्म है, २. साधारणी-करण का मूलाधार मानव-सुलभ सहानुभूति है, जो सभी मनुष्यों के हृदय में एकतार अनुस्यूत है।

पहले उत्तर में भट्टनायक और अभिनवगुप्त की ध्वनि है। भट्टनायक काव्य (काव्यमय शब्द) में ही एक ऐसी 'भावकत्व' शक्ति मानते हैं जिससे कि भाव का आप-से-आप साधारणीकरण हो जाता है। अभिनवगुप्त शब्द में भावकत्व की कल्पना को निराधार मानते हुए शब्द की सर्वप्रधान शक्ति व्यंजना में साधारणीकरण की सामर्थ्य मानते हैं। विदेश के पण्डित भी भाषा को ऐसे ज्ञान और भाव-प्रतीकों का समूह मानते हैं जो उन विशेष ज्ञानखण्डों और भावों को समान रूप में जगा सकें। ज्ञान और भाव वास्तव में एक दूसरे के विपरीत न होकर चेतना के दो संस्थान हैं: ज्ञान पहला संस्थान है, भाव दूसरा। कभी तो ऐसा होता है कि कोई प्रतीक-विशेष हमारी चेतना में किसी वस्तु का ज्ञान-मात्र ही जगाकर रह जाता है और कभी ज्ञान के आगे उसका 'भावन' भी करा देता है।

भाषा के ये ही दो प्रयोग हैं। एक वह जिसमें प्रतीक केवल ज्ञान जगाते हैं, व दूसरा वह जिसमें भाव भी जागते हैं। पहला प्रयोग हम सभी साधारणतः व्यवहार में लाते हैं, दूसरा केवल भाव-दीप्त क्षणों में—जब हमारे अपने भाव प्रतीकों पर आरूढ़ होकर उन्हें इतना भावमय बना देते हैं कि उनमें सुनने वालों के हृदयों में समान भाव उद्बुद्ध करने की शक्ति आ जाती है। तात्पर्य यह है कि शब्दों को भावोद्दीपन करने की शक्ति मूलतः हमारे भावों से ही प्राप्त होती है। अब यदि आप पूछें कि एक व्यक्ति का भाव दूसरों के हृदयों में समान भाव कैसे उत्पन्न कर देता है तो इसका उत्तर यही है कि मूलतः संपूर्ण मानवता एक चेतना से चैतन्य है। मानव-मानव के हृदय में (भारतीय दर्शन तो चराचर को भी अपनी परिधि में समेट लेता है) चेतना का ऐसा एक तार अनुस्यूत है जो एक स्थान पर भी स्पर्श पाकर समग्रतः झंकृत हो जाता है। आपको चाहे इस कथन में रहस्यवाद की गन्ध आए, परन्तु मनोविज्ञान, शरीर-शास्त्र और अध्यातम अभी इससे आगे नहीं बढ़ पाए हैं।

अतएव साधारणीकरण का आधार है भाषा का भावमय प्रयोग। भाषा का भावमय प्रयोग प्रयोक्ता की अपनी भाव-शक्ति पर निर्भर रहता है, और प्रयोक्ता के भावों की संवेदनशक्ति का आधार है—मानव-सुलभ सहानुभूति।

भाव-शक्ति थोड़ी-बहुत सभी में होती है। इसलिए साधारणीकरण की भी शक्ति थोड़ी-बहुत सभी में होती है, अन्यथा जीवन की स्थिति ही संभव नहीं। परन्तु साधारणीकरण की विशेष शक्ति उसी व्यक्ति में होगी जिसकी भाव-शक्ति विशेष रूप में समृद्ध हो, जिसकी अनुभूतियाँ विशेष रूप से सजग हों। ऐसा ही व्यक्ति भाषा का भावमय प्रयोग कर सकता है अर्थात् अपने समृद्ध भावों के बल पर वह उनके प्रतीकों को सहज ही ऐसी शक्ति प्रदान कर सकता है कि वे दूसरों के हृदयों में भी समान भाव जगा सकें। ऐसा ही व्यक्ति कवि है।

(घ) रस-संख्या*

संस्कृत साहित्य-शास्त्र में रस-संख्या के विस्तार और संकोच की प्रवृत्ति प्रायः आरंभ से ही मिलती है। भरतमुनि ने केवल आठ रसों का निरूपण किया था। इनमें भी शृंगार, वीर, वीभत्स और रौद्र रस को प्रमुख और हास्य, अद्भुत, भयानक तथा करुण को उपरस अथवा प्रमुख रसों से ही क्रमशः उत्पन्न स्वीकार किया है।[1] भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के टीकाकार उद्भट ने शान्तरस की पृथक् स्वतंत्र सत्ता की स्वीकृति दी है। डॉ० राघवन तथा डॉ० वाटवे की सम्मति में उद्भट ने ही नाट्यशास्त्र में शांत रस का प्रक्षिप्त रूप में समावेश किया होगा।[2] किसी अन्य के मत में संभवतः प्रथम

---

* **डॉ० मनोहर काले।**

१. **नाट्यशास्त्र** : ६ । ३९, ४०, ४१, तेषामुत्पत्ति हेतवश्चत्वारो रसाः । तद्यथाशृंगारो रौद्रो वीरोवीभत्स इति ॥

२. **नम्बर ऑव् रसाज़**, पृ० ६१, **रस विमर्श**, पृ० २२०।

अभिनवगुप्त ने ही शांत रस का नाट्यशास्त्र में प्रक्षिप्त समावेश कर दिया है।[१] इस प्रकार रस संख्या के विस्तार का प्रयत्न पर्याप्त समय पूर्व से ही आरंभ था। ज्योंही शांत रस की उद्भावना हुई, त्यों ही अन्य अनेक रसों के लिए भी द्वार खुल गया। रुद्रट ने स्नेह स्थायि भावात्मक 'प्रेयान्' रस का समावेश कर रस-संख्या का विस्तार दस तक कर दिया।[२] अभिनवगुप्त के समय तथा उनसे पूर्व भक्ति की रसात्मकता की चर्चा रही होगी, क्योंकि उन्होंने स्पष्ट शब्दों में भक्ति के रसत्व का प्रत्याख्यान करके इसे शांत में ही अन्तर्भूत कर दिया है।[३]

अभिनवभारती से स्पष्ट होता है कि भक्ति ही नहीं अन्य अनेक भाव रस-तालिका में स्थान ग्रहण करने के लिए उद्यत थे। रुद्रट ने तो आस्वाद्यता की कसौटी पर सभी भावों को रस-रूप में मान्यता देने में कोई आपत्ति नहीं समझी है।[४] श्री लोल्लट ने रस-संख्या की बढ़ती हुई अराजकता को ध्यान में रखकर विद्वत्परिषद् बुलाने का आग्रह प्रकट किया था। ऐसी स्थिति में विद्वत्परिषद् बुलाने की पद्धति धार्मिक जगत् में तो प्रचलित थी ही। भगवान् बुद्ध के वास्तविक उपदेशों के संग्रहार्थ तीन प्रसिद्ध परिषदों की आयोजना तो इतिहास-प्रसिद्ध है ही। अभिनवगुप्त ने अन्य रसों के स्वतंत्र अस्तित्व के प्रत्याख्यान में जहाँ अपनी युक्तियों का सहारा लिया है, वहाँ मुनिवचन और विद्वत्परिषद् की मान्यता को भी प्रमाण स्वरूप उद्धृत किया है :

तेन रसान्तर संभवेऽपि पार्षद प्रसिद्ध्या संख्यानियमः अथवा
तेन आनन्त्येऽपि पार्षद प्रसिद्धया एतवतां प्रयोज्यत्वम्।[५]

सांस्कृतिक विकास के साथ भावनाओं का विकास-क्रम संलग्न रहता है। साहित्य या काव्य का मूल आधार मानवी मनोभावनाएँ हैं। संस्कृत आचार्यों ने इस आधार को भुलाया नहीं था। भोज ने परम्परागत नौ रसों में 'प्रेयान्', 'उदात्त' और 'उद्धत' को मिलाकर बारह रसों का, विश्वनाथ ने केवल 'वात्सल्य' को मिलाकर दस रसों का प्रतिपादन किया है। भानुदत्त ने 'माया' नामक नवीन रस का सुझाव दिया है।[६] और 'कार्पण्य' की रसात्मकता का विवेचन किया है। बलदेव विद्याभूषण की साहित्य कौमुदी की टीका में एक अन्य नये 'सख्य' नामक रस का भी उल्लेख है।[७] हरिपाल देव ने 'संगीत सुधाकर' में तेरह रसों को मान्यता दी है। इनमें तीन नये रसों 'ब्राह्म', 'संभोग'

---

१. **शास्त्रशिरोमणि**, **भावप्रकाश**, **प्रस्तावना**, पृ० २७, **रसविमर्श**, पृ० २२०।
२. **रुद्रट : काव्यालंकार**, १६ । १८।
३. **अभिनवभारती**, द्वि० सं०, पृ० ३४०।
४. **काव्यालंकार**, पृ० २, ३।१३४।
५. **अभिनवभारती**, पृ० २९९, **रसविमर्श**, पृ० २२६, **नंबर ऑव रसाज**, पृ० १०६ (प्र० सं०)।
६. **रसतरंगिणी**, तरंग ७।
७. **रसविमर्श**, पृ० १२४।

श्रौर 'विप्रलंभ' के नाम मिलते हैं।[1] वैष्णव टीकाकारों का 'दास्य' नामक रस को मान्यता देना प्रसिद्ध ही है। इन नये रसों के आविर्भाव के मूल में भारत के दक्षिण से उत्तर तक प्रवाहित होने वाली भक्ति की वेगवती धारा ही मूल कारण है। भक्ति, सख्य, दास्य, वात्सल्य, ब्राह्म आदि के रसत्व का प्रतिपादन इसी तथ्य की पुष्टि करता है। नाट्य-दर्पणकार ने 'लौल्य', 'स्नेह', 'दुःख', 'सुख' की भी रस-रूपता की संभावना व्यक्त की है।[2]

अभिनवगुप्त के पृष्ठपोषक आचार्य मम्मट तथा आचार्य जगन्नाथ ने परम्परागत नौ रसों को ही एकांत मान्यता दी है। इन्होंने अन्य रसों के स्वतंत्र अस्तित्व का सबल प्रत्याख्यान किया है। युक्तिवाद का आश्रय लेने वाले आचार्य जगन्नाथ पर भी आप्त प्रमाण या मुनिवचनों के पालन का इतना अधिक प्रभाव था कि उन्होंने रस और भावों की परम्परागत व्यवस्था में परिवर्तन करना अनुपयुक्त ही समझा।[3]

यदि भक्तियुगीन संस्कृत आचार्य आप्त-प्रमाण पर अतिरिक्त आग्रह न करके तत्कालीन साहित्य को दृष्टि में रखते तो 'भक्ति रस' के प्रत्याख्यान का कोई विशेष कारण ही नहीं रहता। जगन्नाथ आदि आचार्य भक्तिरसपूर्ण साहित्य से नितांत अपरिचित थे, यह भी नहीं कहा जा सकता। उस समय देश-भाषाओं में ही नहीं संस्कृत में भी भक्तिरसपूर्ण साहित्य की रचनाएँ हो रही थीं।

जिन आचार्यों ने 'भक्ति' के पृथक् रसत्व का प्रतिपादन करने के लिए स्वतंत्र ग्रन्थ-रचनाएँ की हैं, उनका ध्येय अभिनवगुप्त, मम्मट, विशवनाथ अथवा जगन्नानाथ आदि आचार्यों के समान परम्परागत काव्यशास्त्र का विशद सैद्धान्तिक विवेचन करना नहीं था। भक्ति-भावना से प्रभावित होकर भक्ति-वैशिष्ट्य का निरूपण करने के लिए ही उन्होंने ग्रन्थ-रचनाएँ की हैं। इनके ग्रन्थों के नाम 'भक्तिरसामृत सिन्धु, अथवा 'भगवद्-भक्तिरसायन' इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं। इन्होंने भक्ति को प्रमुख और अन्य रसों को गौण मानकर इसी में उनका अन्तर्भाव करने का प्रयत्न किया है। रस-संख्या के स्वतंत्र विकास और विस्तार में एक अन्य बाधक प्रवृत्ति रही है अन्तर्भाव की। जिस आचार्य को जो रस अधिक स्पृहणीय और आस्वाद्य प्रतीत हुआ उसे ही उन्होंने रसराज की पदवी से विभूषित किया है।[4] इतने मात्र से विशेष हानि नहीं थी, परन्तु चिन्तन-प्रणाली में संकीर्णता तब प्रतीत होने लगी जब अपने स्पृहणीय रस से भिन्न रसों को नितांत गौण

---

१. देखिए **नम्बर ऑव रसाज**, डॉ० राघवन, पृ० ५६।

२. **सम्भवन्तित्वपरेऽपि-यथा गर्ध स्थायी लौल्यः आर्द्रता स्थायी स्नेहःआसक्ति स्थायि व्यसनम्, अरति स्थायि दुःखम्, संतोष स्थायि सुखमित्यादि, —नाट्यदर्पण** (गायकवाड़, संस्कृत सी०) पृ० १६०।

३. **'भरतादि मुनिवचनानाभेवात्र रसभावादि व्यवस्थापकत्वेन स्वातंत्र्या-योगात्।' —रसगंगाधर**, पृ० ५६।

४. **आचार्य अभिनव गुप्त ने शान्त रस को, भोज ने श्रृंगार रस को. मधुसूदन सरस्वती ने भक्तिरस को, नारायण ने अद्भुत रस को सर्वश्रेष्ठ माना है।**

मानने के अतिरिक्त मूल उनके अस्तित्व पर ही इन्होंने शंका उठाई।

फलत· संस्कृत-साहित्य शास्त्र के दो हजार वर्षों के इतिहास में रस-संख्या की वृद्धि बीस-बाईस से अधिक न हो सकी। यदि रुद्रट की मान्यता को अन्य आचार्य स्वीकार करते तो जितने भाव उतने ही रस बनकर अलंकारों के समान ही रस-संख्या की वृद्धि भी प्रचुर मात्रा में हो जाती। परन्तु रस-संख्या की अमर्याद वृद्धि पर अंकुश लगाने वाले सशक्त आचार्य अभिनवगुप्त थे।

भरतमुनि-निरूपित आठ रस और अभिनवगुप्त-प्रतिपादित शांत को मिलाकर नौ रसों को संस्कृत के अधिकांश ध्वनि-रसवादी आचार्यों ने पूर्णत: मान्यता दी है। इनके अतिरिक्त भी कतिपय नवीन रसों का आविष्कार विभिन्न आचार्यों ने किया है। संक्षेपत: रसों के नाम, उनके स्थायीभाव तथा आविष्कर्ता आचार्यों के नाम दिए जाते हैं :

मूलरस	स्थायीभाव	प्रतिपादक आचार्य
१. प्रेयान्	स्नेह (मित्र-स्नेह)	रुद्रट
२. वत्सल	(क) करुणा या कारुण्य	मंदारमरंद चंपूकार
	(ख) ममकार	कविकर्णपूर गोस्वामी
	(ग) रति	हेमचन्द्र
	(घ) वात्सल्य	विश्वनाथ
३. भक्ति	(क) श्रद्धा	हेमचन्द्र
	(चित्त की भगवदाकारता)	मधुसूदन सरस्वती
४. स्नेह	आर्द्रता	हेमचन्द्र
५. लौल्य	(क) अभिलाषा	हेमचन्द्र
	(ख) गर्ध	अभिनवगुप्त
६. व्यसन	आसक्ति	रामचन्द्र गुणचन्द्र
७. दु:ख	अरति	,, ,,
८. सुख	सन्तोष	,, ,,
९. प्रेयस्	वात्सल्य	भोज
१०. उदात्त	मति	,,
११. उद्धत	गर्व	भोज
१२. आनन्द	हास्य	,,
१३. प्रेमरस या मधुर रस	चित्त द्रव	कविकर्णपूर गोस्वामी
१४. मायारस	मिथ्याज्ञान	भानुदत्त
१५. कार्पण्यरस	स्पृहा	,,

इनके अतिरिक्त व्रीडनक, विलास, स्वातन्त्र्य, साध्वस, प्रशम, पारवश्य, मृगया, अक्ष आदि रसों का भी उल्लेख संस्कृत साहित्य में उपलब्ध होता है।

अध्याय ५

अलंकार-सिद्धान्त

(क) अलंकार का लक्षण और काव्य में उसका स्थान*

काव्यशास्त्र में अलंकार की परिभाषा करते हुए प्रायः उसके स्वरूप का कथन किया गया है, परन्तु इसके साथ ही अधिकांश परिभाषाओं में काव्य में अलंकार का क्या स्थान है, इस पर भी प्रकाश डाला गया है। ये दोनों ही प्रश्न इन परिभाषाओं में सम्बद्ध दिखाई देते हैं। इसके अतिरिक्त अलंकार के क्षेत्र का भी अनेक आचार्यों ने इसी प्रसंग में विचार किया है। अतः इससे सम्बन्धित विवेचन में इन सभी दृष्टियों का एक क्रमिक विकास दिखाई देता है।

आचार्य भरत ने अपने ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में चार अलंकारों का निरूपण किया है, परन्तु उन्होंने अलग से अलंकार की कोई परिभाषा नहीं दी। परिभाषा देना उन्हें अभीष्ट भी न था, क्योंकि वे तो नाटक की दृष्टि से विवेचना कर रहे थे। भरत के अनन्तर भामह ने अलंकारों को काव्य में आवश्यक माना और स्पष्टतः अलंकार का पक्ष लेकर वक्रोक्ति को सर्वालंकार—बीजा या मूलवर्तिनी सिद्ध किया। भामह के मतानुसार शब्द और अर्थ की वक्रता या वैचित्र्य का नाम अलंकार है।[1] यहाँ वक्रोक्ति का तात्पर्य शब्द और अर्थ की विचित्रता है। इस तरह भामह ने काव्य-क्षेत्र में वक्रता का पक्ष लेकर अलंकार को काव्य-प्राण प्रमाणित किया है।

भामह ने वक्रोक्ति पर बल दिया और दण्डी ने अतिशयोक्ति और श्लेष पर, परन्तु अलंकार को काव्य का अनिवार्य धर्म सिद्ध कर भामह की अलंकार-सम्बन्धी विचारधारा को ही दण्डी ने भी आगे बढ़ाया। उन्होंने अलंकारों को काव्य का शोभाकारक धर्म माना।[2] धर्म की स्थिति स्थिरता की है, सहज गुण की-सी है और शोभा या सौन्दर्य का भार भी अलंकारों पर है। बिना अलंकार के काव्य नहीं। दण्डी ने एक दूसरी परिभाषा दी है, जिसमें सन्धि तथा उसके अंग, वृत्ति तथा उसके अंग और लक्षणादि को भी

---

* **डॉ० ओमप्रकाश शास्त्री।**

१. **वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।१-३६।**

—काव्यालंकार : भामह, पृष्ठ ५

२. (क) **काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।२-१।**

(ख) **यच्च संध्यंगवृत्यंगलक्षणाद्यागमान्तरे।**
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः।२-३६७।

—काव्यादर्श : दण्डी, पृष्ठ ४४, १५३

अलंकार के ही अन्तर्गत माना है। भामह की वक्रोक्ति और दण्डी की अतिशयोक्ति प्रायः एक ही मानी गई है, परन्तु अलंकार की व्यापकता एवं प्रकार की दृष्टि से दण्डी का दृष्टिकोण अधिक उदार है। दण्डी की परिभाषा ने अलंकारों का पक्ष दृढ़ बना दिया।

वामन ने अलंकार का दोहरा विवेचन किया। परम्परागत लक्षण को वे सहसा पदच्युत नहीं कर सकते थे, इसलिए ग्रन्थारम्भ मेंतो काव्य की ग्राह्यता अलंकार से प्रमाणित की जो कि दण्डी की उस परिभाषा का परिष्कृत संस्करण है कि सन्धि, वृत्ति तथा उनके अंगादि सब अलंकारान्तर्गत आ सकते हैं। वामन की परिभाषा ने काव्य के स्वरूप को प्रधान सिद्ध कर दिया और सौंदर्यमात्र को अलंकार माना।[1] परन्तु दूसरा मत भी वामन ने प्रस्तुत कर दिया कि काव्य के शोभाकारक धर्म गुण हैं और उस शोभा की अतिशयता करने वाले अलंकार हैं। यह परिभाषा स्पष्ट तो है परन्तु दण्डी के लक्षण पर कठोर आघात सिद्ध हुई जो कालान्तर में जाकर अलंकार-लक्षण-परिवर्तन करने में सशक्त बन गई। यहीं से अलंकार को काव्य का अस्थिर धर्म मानने की नींव पड़ गई और अलंकार का काव्य में सुदृढ़ आसन कम्पित हो गया। वास्तव में वामन ने शोभाकर्तृत्व तथा शोभावर्द्धकत्व को लेकर गुणालंकार का जो विभेद किया, उसी से अलंकार काव्य में प्रथम दर्जे से दूसरे पर आ गया। उद्भट के गुणालंकार में भेद न मानने की उक्ति भी किसी काम की न रही।

आचार्य रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में स्पष्टतः रस और अलंकार को पृथक् कर दिया तथा रसवत् ऊर्जस्वित, समाहित और प्रेयस् को अलंकार क्षेत्र से बाहर निकाला, परन्तु अप्पय दीक्षित के काल तक रसवत् प्रयसादि अलंकार के क्षेत्र से बाहर नहीं निकले, रुद्रट का प्रयास भी विवादास्पद रहा। स्वयं ध्वनिकार ने भी 'रसवदादि' की स्थिति अलंकार रूप से निषिद्ध नहीं की। अप्पयदीक्षित तक भावोदय, भाव-सन्धि, भावशबलतादि तथा दर्शन-गत प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमानादि प्रमाण भी अलंकार के अन्तर्गत आ गये। आचार्य रुद्रट के प्रयास ने अलंकार्य और अलंकार का क्षेत्र खोल दिया और रस की ओर दृष्टि जाने से अलंकारों का स्थान वामन के अनन्तर रुद्रट ने भी पृथक्तः दूसरा बना दिया।[2]

'सौंदर्यमलंकारः' वाली वामन की परिभाषा का क्रम टूट नहीं गया, वह चलता रहा। व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने 'चारुत्व' शब्द का प्रयोग अलंकार के लिए किया और शब्दार्थ की विच्छित्ति को भी अलंकार कहा।

आचार्य कुन्तक ने काव्य की सालंकारता का पक्ष उद्घोषित एवं सम्पुष्ट किया और कहा कि अलंकार-सहित, सम्पूर्ण अर्थात् अवयवसहित समस्त शब्दार्थ समुदाय

---

१. **काव्यं ग्राह्यमलंकारात ।१।**
सौन्दर्यमलंकारः ।२।
—काव्यालंकारसूत्राणि : वामन, पृष्ठ १।

२. **चारुत्वमलंकारः, तथा च शब्दार्थयोर्विच्छित्तिरलंकारः ।**
—व्यक्तिविवेक : महिमभट्ट, पृ० ७४४।

को काव्यता अर्थात् कविकर्मत्व प्राप्त है, इसका तात्पर्य यह है कि अलंकार काव्य का स्वरूपाधायक धर्म है।[1]

इसी क्रम में आचार्य भोज भी रस को अलंकार मानने पर विमोहित हो गये, यद्यपि वह रसवादी थे, परन्तु भोज के विचार से तो रीति-गुण भी अलंकारान्तर्गत आ गये हैं। अलंकार की इस व्यापक परिभाषा ने वाग्भट (वाग्भटालंकारलेखक) को भी यह कहने पर विवश किया कि दोषों से मुक्त और गुणों से युक्त होने पर भी अलंकार के बिना वचन चमत्कृत नहीं होता है।[2] अर्थ यही हुआ कि अलंकार काव्य का अनिवार्य अंग है और काव्य में इसकी स्वीकृति अनिवार्यतः होनी चाहिए। इसी परम्परा में 'अलंकारशेखर' के कर्त्ता केशवमित्र ने 'शोभा के लिए अलंकार है'—यह कहा। जयदेव की तो स्थिति स्पष्ट है। उसने अग्नि में 'उष्णता' और काव्य में अलंकार की स्थिति मानने का दुर्भेद्य आग्रह किया। आचार्य मम्मट ने काव्य-लक्षण में अलंकारों की अवस्थिति की अनिवार्यता को खुलकर चुनौती नहीं दी, अपितु 'क्वापि' से धीमी आवाज में कहा कि अलंकार रहे या कभी नहीं रहे, तो भी काव्य का शरीर नीरस, शोभारहित नहीं होगा। इसी बात को लेकर जयदेव ने अलंकारों को हारादिवद् मानते हुए भी वृत्ति, रस तथा अलंकारयुक्त वाणी को काव्य माना।[3] यहाँ इतनी लम्बी परम्परा का दिग्दर्शन करने का तात्पर्य यही है कि 'काव्यंग्राह्यऽलंकारात्' वाला वामन का कथन निर्बल नहीं पड़ा, अपितु संस्कृत काव्यशास्त्र में उस पक्ष का समर्थन होता ही रहा। इसलिए भामह से प्रचलित तथा दण्डी-वामन से समर्थित काव्य का अलंकार-स्वरूप संस्कृत साहित्य में अपने पोषकोंका एक वर्ग अप्पय-दीक्षित तक लिए रहा और वह अलंकार तथा रीतिवादियों के सहारे टिका रहा।

अलंकार के कलामूलक लक्षण

वाङ्मय के दो भेद शास्त्र और काव्य नाम से माने गए हैं।[4] 'काव्य' कला का प्रकट रूप है और ललित कलाओं में यह 'सूक्ष्मता' की दृष्टि से अन्तिम और सर्वाति-

---

१. **सालंकारस्य काव्यत्वमः**

—वक्रोक्तिजीवितम् : कुन्तक, पृ० ५१।

२. **दोषैर्मुक्तंगुणैर्युक्तमपि येनोज्झितं वचः।
स्त्रीरूपमिवर्योभाति तं ब्रुवेऽलंक्रियोच्चयम् ॥१।**

—वाग्भटालंकार : वागभट, पृ० १७।

३. (क) **शब्दार्थयोः प्रसिद्धया वा कवेः प्रौढिवशेन वा।
हारादिवदलंकारः सन्निवेशो मनोहरः ॥५-१॥**

(ख) **सालंकाररसाऽनेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक् ॥१-७॥**

—चन्द्रालोक : जयदेव, पृष्ठ ४३,४।

४. **इहहि वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च।**

—काव्यमीमांसा : राजशेखर, पृ० २,३

शायिनी मानी गई है। यही साहित्य विद्या है, जो कि शब्द और अर्थ के यथावत् सहभाव से अपना कलेवर बनाती है। कला इस साहित्यविद्या की उपकर्त्री है। वही अलंकारों के रूप में काव्य विषय का महत्त्वपूर्ण साधन बनती है। अलंकार के 'शोभा-करत्वे' आदि विशेषण उसके इसी कला-रूप को स्पष्ट करते हैं। इस कारण अलंकारों के लक्षण कला की दृष्टि से ही बहुधा लिखे गए हैं। भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, उद्भट, आनन्दवर्धन, कुन्तक, मम्मट, रुय्यक तथा विश्वनाथ आदि आचार्यों ने अलंकार का कला-प्रधान लक्षण ही लिखा है जिससे अलंकार के, साधन रूप में, कला होने की पुष्टि होती है।

अलंकार का शास्त्र रूप

कलामूलक लक्षणों के साथ ही साहित्य के अलंकारों का विशिष्ट स्थान बना दिया गया और विवेचन के आधार पर उन्हीं कलात्मक साधनों को सिद्धान्तों, नियमों, उपनियमों, वर्गों तथा भेदोपभेदों में बाँधा जाने लगा। इस प्रकार क्रमशः अलंकार-शास्त्र अपने-आपमें पृथक् एवं विशाल स्वरूप धारण कर गया।

अलंकारशास्त्र सदा ही अलंकार के कला-रूपों पर आधारित रहा है और उसी के विवेचन का कार्य करता रहा है। अलंकारों के नामकरण तथा विकास के क्रम में भी यह बात स्पष्ट है कि अलंकार के काव्य में प्रयुक्त रूपों को देखकर ही इनका स्वरूप-निर्धारण हुआ। लक्ष्य के पश्चात् लक्षण आता है, यह सिद्धान्त इस क्षेत्र में भी सिद्ध है। भरत और उनके सभी परवर्ती काव्यशास्त्रियों की अलंकारों के उदाहरण के सम्बन्ध में प्रायः यही नीति रही कि उन्होंने अपने तथा अन्य कवियों के काव्यों से ही इनका चयन किया। अलंकार-शास्त्र में अनेक अलंकारों के लक्षण-विवेचन से पूर्व ही काव्य-ग्रन्थों में उनसे गर्भित उक्तियों से भी सिद्ध किया जा सकता है कि मूल में अलंकार कलात्मक थे। ऐसी उक्तियों को 'आलंकारिकों' ने ग्रहण किया और उनमें से नवीन अलंकार ढूंढ निकाले, जैसे बाण कवि की 'हर्षचरित' में उक्ति है :

बमयन्तु शिरांसि धनूँषि वा।[1]

अर्थात् सिर झुकाओ या धनुष। इस उक्ति का प्रयोग पहले हुआ और इस उक्ति के लिए विकल्प अलंकार के रूप में नामकरण परवर्ती आचार्य रुय्यक ने किया। ऐसे ही कथनों के सूक्ष्म अन्तर से एक अलंकार के अनेक भेद हो गए। अनेक अलंकारों के नये नामों, विकास और भेदों का होना भी कलात्मक सूक्ष्म स्थिति का द्योतक है। तब सिद्ध है कि कलात्मक मूल भित्ति पर आधारित अलंकारों का जब अन्वेषण, विवेचन, विश्लेषण, वर्गीकरण तथा व्यवस्थापन हुआ, तब उन्हें शास्त्र की संज्ञा प्राप्त हुई और वे कालान्तर में अलंकारशास्त्र के अन्तर्गत आए और शास्त्रीय नियमों में बँधने पर चमत्कारात्मकता सम्बन्धी विभिन्न मत प्रस्तुत हो गए। शास्त्रीय रूप धारण कर लेने

---

१. **हर्षचरित—बाण, पृ० ४६३।**

पर अलंकारों की हेयता और 'ग्राह्यता' पर विवाद उठने लगा । काव्य में उनकी स्थिति को लेकर पक्ष-विपक्ष बने । यह बात यहाँ तक खिंची कि बाह्य सौन्दर्य के लिए कला-कौशल एवं चमत्कार-वैचित्र्य का क्रीड़ागार ही अलंकार बन गया, परन्तु इस स्वाभाविक विकास-परीक्षण तथा प्रयोग में अलंकारों का कलात्मक रूप भी निखरा है, विकृत नहीं हुआ ।

अलंकार वाणी के विभूषण हैं, अभिव्यक्ति में स्पष्टता, भावों में प्रभावोत्पादन की शक्ति, भाषा में सौन्दर्य तथा श्रोताओं का मनोविनोद आदि इनके फल हैं ।[1] इस विवेचना से भी अलंकार मूल रूप में कला ही सिद्ध होता है ।

कभी-कभी अलंकार शब्दों में अधिक प्रयोग या भावाभिव्यक्ति के लिए प्राप्त न होने वाले पर्याप्त शब्दों के अभाव की पूर्ति भी करते हैं । काव्य के प्रकृत रूप में या विद्यमान सौन्दर्य की वृद्धि के लिए अलंकारों की उपयोगिता सिद्ध होती है । इसलिए प्रभाव की क्षमता तीव्र करने के लिए अलंकारों का प्रयोग भी होता है । भावप्रेषणीयता में अलंकार योग देता है । इस दृष्टि से ऐसा मानना ही ठीक होगा कि अलंकार ने अपना मौलिक रूप कला में निहित पाया है । ऐसी दशा में प्रभावोत्पादकता का स्पष्ट सम्बन्ध कला से ही है ।

पाश्चात्य आलोचक लोंगिनुस ने भी अलंकार की भाषा को ओजस्विनी बनाने का प्रबल माध्यम मानकर उसकी कलात्मक सत्ता को स्वीकार किया है ।[2]

अलंकार : कलामूलक शास्त्र

अलंकार का विषय कला और शास्त्र दोनों रूपों में ही महत्त्वपूर्ण बन गया है । अलंकार व्याकरण, न्याय तथा लोक-जीवनादि अनेक क्षेत्रों तक अपना व्यापक प्रभाव रखता है । शास्त्र-सम्बन्धी लक्षणों में यह भी स्वीकार किया जाता है कि वह प्रकृति की गवेषणा करता है, विश्लेषण और विवेचन करता है । वह भाषा पर अपना अधिकार रखता है । वर्णों, शब्दों, पदों, वाक्यों को अपने अधीन रखकर नियमित प्रयोगों के लिए उपयोगी बनाता है । शब्दों के प्रयोग से विभिन्न अलंकारों का आकार बनता है । अन्वीक्षण और अनुमान के आधार पर शास्त्र के मान्य दो रूप— नियामक और सैद्धान्तिक में भी अलंकारों की स्थिति रहती है । वस्तुत: मानना उचित होगा कि अलंकार कलामूलक शास्त्र है, जिसमें सिद्धान्तों और कलात्मक व्यावहारिक पक्ष का सुन्दर योग है । शास्त्र की तर्कपूर्ण पद्धति और कला के सौन्दर्यमूलक व्यवहार से अलंकार का महत्त्व प्रतिपादित होता है ।

निष्कर्षत: कवि के हाथों में अलंकार कला है और इसी रूप में इसकी प्रमुखता है, साथ ही काव्यालोचकों के हाथ में अलंकारशास्त्र है और यह शास्त्र असंदिग्ध रूप से

---

१. **डिक्शनरी ऑफ़ वर्ल्ड लिटरेचर—फ़िगर्स ऑफ़ स्पीच, जोसफ़ : टी० शिपले** पृ० १५९ ।

२. **पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा—**
—डॉ० नगेन्द्र तथा डॉ० (श्रीमती) सावित्री सिन्हा, पृ० ५५-५६ ।

कलामूलक शास्त्र ही माना जाएगा ।

(ख) अलंकारों का वर्गीकरण*

आचार्य भरत ने अलंकार-वर्गीकरण के सम्बन्ध में कोई मत नहीं दिया है। 'शब्दाभ्यासस्तु यमकम्'[1] से यमक के शब्दालंकार होने की धारणा का केवल अनुमान मात्र ही किया जा सकता है। वस्तुतः भामह ही प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने अलंकारों के वर्गीकरण की दिशा में प्रथम प्रयत्न किया।

आचार्य भामह ने अपना आरम्भिक वर्गीकरण शब्दालंकार और अर्थालंकार के रूप में दिया है। अलंकारों की संसृष्टि की बात भी उन्होंने कही, परन्तु उभयालंकार-वर्ग का निर्देश उन्होंने स्पष्टतया नहीं किया। वस्तुतः शब्दालंकार और अर्थालंकार ही अलंकार-वर्गीकरण का प्राथमिक आधारभूत रूप है। यह एक महत्त्वपूर्ण वर्गीकरण है, परन्तु सीधा और सरल होने पर भी विद्वानों की परम्परा में यह बहुत ही विवादग्रस्त रहा है । अनेक अलंकार ऐसे हैं जिनके शब्दालंकार या अर्थालंकार होने के सम्बन्ध में विवाद बना रहा है। उभयालंकार या शब्दार्थालंकार की मान्यता भी विद्वानों की अपने-अपने प्रकार की रही है। आवश्यक है कि सर्वप्रथम इसी आधारभूत वर्गीकरण के नाम, स्वरूप और परम्परा का विवेचन किया जाए।

शब्दालंकार एवं अर्थालंकार का व्युत्पत्त्यर्थ

शब्दालंकार और अर्थालंकार के व्युत्पत्त्यर्थ के सम्बन्ध में आचार्य भोज ने लिखा है कि जो अलंकार शब्द का अलंकरण करता है, वह शब्दालंकार है, जैसे जाति आदि। जो अर्थ का अलंकरण करता है वह विद्वानों द्वारा अर्थालंकार कहा जाता है, जैसे जाति (स्वभावोक्ति) आदि ।[2] आचार्य मम्मट ने अन्वय-व्यतिरेक का सिद्धान्त ही इनका नियामक माना है। शब्दालंकार में शब्द-विशेष से अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध रहता है और अर्थालंकार में शब्द परिवर्तित हो जाने पर भी अर्थ-विशेष से अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध बना रहता है। जो अलंकार शब्दार्थ में जिसके आश्रित रहता है, वह उसी का अलंकार होता है।[3]

उभयालंकार

शब्दालंकार एवं अर्थालंकार अपने व्युत्पत्त्यर्थ और अन्वय-व्यतिरेक की प्रणाली से प्रायः स्पष्ट ही है, परन्तु उभयालंकार के इस नाम और स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद अधिक है। अतः उभयालंकार का स्वरूप-विवेचन अपेक्षित है।

---

* **डॉ० ओमप्रकाश शास्त्री**।

१. **नाट्यशास्त्रम्** : भरत, पृष्ठ, २६२।

२. **सरस्वतीकण्ठाभरणम्** : भोज, पृष्ठ, १४०, ४३८।

३. **काव्यप्रकाशः** : मम्मट, पृष्ठ, ५६५।

उभयालंकार का व्युत्पत्त्यर्थ आचार्य भोज ने ही स्पष्ट रूप से लिखा है। वे कहते हैं—शब्दों एवं अर्थों से प्रतीति होने वाले उपमादि अलंकार ही कवियों के विशिष्टार्थवाची उभयालंकार हैं ।[1] इसमें शब्द और अर्थ दोनों के अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध का अनुकरण भी पूर्णतया होता है।

'उभय' शब्द द्विसंख्यावाची है । इससे यह सिद्धान्त माना जा सकता है कि जहाँ दो अलंकार मिलें वहाँ उभयालंकार होता है। चाहे वे दोनों शब्दालंकार हों या दोनों अर्थालंकार या एक अर्थालंकार और दूसरा शब्दालंकार। दो से अधिक भी किसी पद में आ सकते हैं। दो तो न्यूनतम सीमा का स्पर्शक है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी इसी व्युत्पत्ति को उचित माना है।[2]

संकर तथा संसृष्टि भी उभयालंकार ही हैं। उनमें यह शर्त नहीं लगाई जा सकती कि उभयालंकार केवल वहाँ ही होता है जहाँ शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों रहें। संकर से अलंकार नीर-क्षीरवत् और संसृष्टि में तिलतण्डुल की भाँति मिश्रित रहते हैं। इसीलिए इनका दूसरा नाम मिश्रालंकार है । इन्हें शब्दार्थालंकार भी कहा गया है, जो एक यौगिक शब्द है।[3] उभयालंकारों का विस्तृत विवेचन आचार्य भोज ने किया है। अग्निपुराण में भी इनकी चर्चा है। भोज के वर्गीकरण-प्रसंग में उनका मत द्रष्टव्य है। आचार्य अप्पयदीक्षित ने संसृष्टि तथा संकर को 'नरसिंह न्याय' का रूप दिया है।[4]

रीतिकाल के आचार्यों की सामान्य धारणा शब्द और अर्थालंकारों के मिश्रित रूप को ही उभयालंकार मानने की रही है। वैरीसाल और पद्माकर जैसे आचार्यों ने उभयालंकार का लक्षण संक्षिप्त और सरल रूप से दिया है, जिससे उक्त मत की ही पुष्टि होती है।[5]

वर्तमान युग के समालोचकों ने उभयालंकार के सम्बन्ध में भी यत्र-तत्र विवेचन किया है।

अलंकारों का पूर्वापर क्रम-विवेचन

अर्थालंकारों की अपेक्षा शब्दालंकार ही प्रथमतः क्यों विवेचित हों, इस विषय

---

१. **शब्देभ्यो यः पदार्थेभ्य उपमादि प्रतीयते।**
विशिष्टोऽर्थः कवीनां सा उभयालंक्रिया मता ।।४-१।।
—सरस्वतीकण्ठाभरणम्, भोज, पृष्ठ, ३६७।

२. **वाङ्मय विमर्श**—आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृष्ठ ६०० ।

३. **साहित्य-दर्पण**—विश्वनाथ, पृष्ठ, ३६८-३७०।

४. **अथैतेषामलंकाराणाम् यथासम्भवं क्वचिन्मेलने लौकिकालंकाराणां मेलन इव चारुत्वातिशयोपलम्भान्नरसिंहन्यायेन पृथगलंकारावस्थितौ तन्निर्णयः क्रियते।** —कुवलयानन्द : अप्पयदीक्षित, पृ० २८५।

५. (क) **भाषाभरण**—वैरीसाल, पृष्ठ १।
(ख) **पद्माभरण**—पद्माकर, पृ० १।

पर भी संस्कृत काव्य-शास्त्र में आचार्य विद्यानाथ तथा विश्वनाथ ने विचार किया है और कहा है कि शब्द और अर्थ—इन दोनों में से प्रथमतः शब्द ही बुद्धि में उपस्थित होता है, अतः शब्दालंकारों का पहले विवेचन होना चाहिए।[1]

संस्कृत काव्य-शास्त्र तथा रीतिकाल में भी शब्दालंकारों के अतिरिक्त उनके और सूक्ष्म वर्गीकरण की आवश्यकता नहीं समझी गई। एक तो शब्दालंकार संख्या में कम थे, दूसरे अर्थालंकारों की अपेक्षा वे प्रायः गौण स्थिति के माने गए, तीसरे उनका प्रधान धर्म शब्द-शरीर को ही अलंकृत करना था, जिसमें अधिक वैभिन्नय की गुंजाइश नहीं थी। हाँ, अर्थालंकारों की अधिक संख्या और चित्तवृत्तियों की विभिन्न भाव-भूमिकाओं के कारण अनेक विधियों से वर्गीकृत करने का यत्न चलता रहा।

शब्द, अर्थ तथा उभयालंकार वर्गीकरण के समर्थक आचार्य

वर्गीकरण के शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार शीर्षक देकर उनके अन्तर्गत अलंकारों का विवेचन करने की परिपाटी सर्वसामान्य रही है। इन आचार्यों ने अर्थालंकारों के भेदोपभेदों की चर्चा की ओर ध्यान नहीं दिया। आचार्य भरत, भामह, दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन, राजशेखर, कुन्तक, भोज, मम्मट, रुय्यक, शोभाकर, हेमचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि, भावदेव सूरि, वाग्भट (प्रथम, द्वितीय), जयदेव, श्रीवत्सलांछन, विश्वनाथ, अग्निपुराणकार, केशवमिश्र, कर्णपूर, कविचन्द, नरसिंह कवि तथा पं० विश्वेश्वर पर्वतीय आदि ने शब्दार्थ नामकरण से दिये गए अलंकार-वर्गीकरण को अपनाया है। इनमें से भोज तथा अग्निपुराण का वर्गीकरण विचारणीय है।

'सरस्वती कण्ठाभरणम्' के कर्त्ता भोजराज ने शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार के नाम से अलंकारों को विभक्त किया। इन्हें ही उसने बाह्यालंकार, आभ्यान्तरालंकार बाह्याभ्यन्तरालंकार नाम से तीन वर्गों में विभक्त किया है।[2]

प्रथम वर्ग (शब्दालंकार, बाह्यालंकार)

जाति, गति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, भणिति, गुम्फना, शय्या,

---

१. (क) **अर्थालंकारस्वरूपविभागानन्तरं शब्दार्थयोर्मध्ये शब्दस्यार्थप्रतीत्यन्तरंगत्वात् प्रथम शब्दालंकाराः निरूप्यन्ते।**

—प्रतापरुद्रीय-यशोभूषणम्—विद्यानाथ, पृ० २४७।

(ख) **शब्दार्थयोः प्रथमं शब्दस्य बुद्धिविषयत्वाच्छब्दालंकारेषु वक्तव्येषु शब्दार्थालंकारस्यापि पुनरुक्तवदाभासस्य चिरन्तनैः शब्दालंकारमध्ये लक्षितत्वात् प्रथमं तमेवाह।**

—साहित्यदर्पण—विश्वनाथ, पृ० २७४।

२. **शब्दार्थोभयसंज्ञाभिरलंकाराः कवीश्वराः।**
बाह्यानाभ्यन्तरान् बाह्यनाभ्यन्तरांश्चानुशासति ॥२-१॥

—सरस्वती कण्ठाभरणम्—भोज, पृ०, १४०, ४३७, ३९७।

पठिति, यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, वाकोवाक्य, प्रहेलिका, गूढ़, प्रश्नोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य तथा अभिनीति (अभिनय)।

द्वितीय वर्ग (अर्थालंकार, आभ्यान्तरालंकार)

जाति, विभावना, हेतु, अहेतु, सूक्ष्म, उत्तर, विरोध, सम्भव, अन्योन्य, परिवृत्ति, निदर्शना, भेद (व्यतिरेक), समाहित, भ्रान्ति, वितर्क, मीलित, स्मृति भाव तथा प्रत्यक्षादि प्रमाण।

तृतीय वर्ग (उभयालंकार, वाह्याभ्यन्तरालंकार)

उपमा, रूपक, साम्य, संशयोक्ति, अपह्नुति, समाधि, उक्ति, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतस्तुति, तुल्ययोगिता, उल्लेख, सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तर-न्यास, विशेष, परिष्कृति (परिकर), दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशय, श्लेष, भाविक तथा संसष्टि।

भोज ने उभयालंकारों में उपमा, रूपक, साम्य, संशयोक्ति आदि २४ अलंकारों को रखा है। अन्य आचार्यों के मत से स्पष्ट है कि उक्त २४ अलंकार अर्थालिंकार हैं। उन्होंने भ्रान्ति, वितर्क, स्मृति तथा प्रत्यक्ष अनुमान उपमान, शब्द आदि को अर्थालंकारों में गिना है। भोज का दृष्टिकोण निराला है, इसे अलंकार-वर्गीकरण क्षेत्र में एक नया प्रयोग कहना उचित है। भोज-पूर्ववर्ती काल के आचार्यों ने जिन उपमादि अलंकारों को अर्थालंकार में गिना, उन्हें इन्होंने उभयालंकारों में रख दिया है। अर्थालंकारवत्ता तो उनमें है, परन्तु शब्दालंकार वे किस प्रकार हैं, इसका स्पष्टीकरण भोज ने नहीं किया। शब्दालंकार तो परिवृत्यसह होते हैं, परन्तु उक्त अलंकारों में शब्दपरिवर्तन पर भी अलंकारता रहती है। भोज द्वारा संसृष्टि को उभयालंकार मानना तो उचित प्रतीत होता है, परन्तु शेष के सम्बन्ध में कोई समाधानकारक उत्तर प्राप्त नहीं होता। अग्निपुराण में उभयालंकार (शब्दार्थालंकार) का विवेचन है। हार जैसे नारी के स्तनों एवं ग्रीवा को सुशोभित करता है, इसी प्रकार शब्दार्थालंकार शब्द एवं अर्थ को अलंकृत करते हैं।[1] अग्निपुराण में प्रशस्ति, कान्ति, औचित्य, संक्षेप, यावदर्थता तथा अभिव्यक्ति को उभयालंकार माना गया है। इनमें से अधिकतर तो गुण हैं, अलंकार नहीं। कालान्तर में यही अलंकार के क्षेत्र में आ गए हैं।

संस्कृत साहित्य में पुनरुक्तवदाभास अलंकार को लेकर चर्चा हुई है कि उसे शब्दालंकार माना जाए अथवा अर्थालंकार या उभयालंकार? आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ ने इसे उभयालंकार माना है, क्योंकि यह सभंग रूप से केवल शब्दनिष्ठ होता है तथा पद-परिवर्तन पर भी निर्भर रहता है, इसलिए अर्थनिष्ठ भी है। तब भी परम्परा से इसे लब्दालंकारों में ही रखा गया है। आचार्य मम्मट ने परम्परितरूपक तथा शब्द-हेतुक अर्थान्तरन्यास को भी उभयालंकार कहा है, परन्तु अर्थप्रधानता के कारण उसे अर्था-

---

१. **अग्निपुराण**, अध्याय १४५—पृ० ७०४।

लंकार माने जाने के मत का समर्थन किया है।[1] जयदेव ने इसे शब्दालंकार ही माना है। चन्द्रालोक की 'राकागम' व्याख्या में कहा गया है कि यह एक प्रकार का शब्द श्लेष ही कहा जा सकता है।[2]

इसी भाँति वक्रोक्ति और श्लेष का भी विवाद है, परन्तु उसे आलंकारिकों ने स्पष्टत: शब्दालंकारों अथवा शब्द और अर्थ दोनों में ही रखा है। वक्रोक्ति को कई आचार्यों ने शब्दालंकार या अर्थालंकार माना है। तथा श्लेष को शब्द और अर्थ दोनों में परिगणित किया है।

उभयालंकार को मानने की आवश्यकता ही क्या है ? इस प्रश्न का सहज उत्तर है कि दो प्रकार के अलंकार पहनने पर वनिता भी अतिरिक्त चारुता प्राप्त करती है। मणिकांचन योग का भी तो मूल्य है। इसलिए उभयालंकार का रूप धारण कर अलंकार एक पृथक् ही चारुत्व प्रकट करते हैं। अथवा यों कहा जा सकता है कि 'एक और एक ग्यारह' का सिद्धान्त वहाँ भी लागू हो जाता है और दो अलंकारों के योग से चमत्कार-सामर्थ्य सहज में ही बढ़ जाती है।

अर्थालंकारों का वर्गीकरण

आचार्य उद्भट, रुद्रट तथा रुय्यक आदि संस्कृत विद्वानों ने शब्द और अर्थ भेद से अलंकारों के वर्गीकरण को मानते हुए भी अर्थालंकारों के वर्गीकरण की समस्या पर विशेषत: विचार किया है। इनमें कई आचार्यों ने कुछ अलंकारों को दो-दो वर्गों में रखा है। कई अलंकार वर्गमुक्त भी रखे हैं।

उद्भट-कृत वर्गीकरण

संस्कृत साहित्य में अर्थालंकारों के वर्गीकरण का प्रथम श्रेय आचार्य उद्भट को प्राप्त है। उद्भट भामह का व्याख्याता है। सामान्यतया आचार्यत्व की मौलिकता उसमें भी है, परन्तु अलंकारों के वर्गीकरण के क्षेत्र में उसका महत्त्व निर्विवाद है, उसके द्वारा प्रस्तुत किया गया वर्गीकरण निम्नलिखित है—

प्रथम वर्ग

पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास, रूपक, उपमा, दीपक, प्रतिवस्तूपमा ।

द्वितीय वर्ग

आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति तथा अतिशयोक्ति।

तृतीय वर्ग

यथासंख्य, उत्प्रेक्षा तथा स्वभावोक्ति।

---

१. **शब्दस्य तथा शब्दार्थयोरयम् ।।९-८६।।**

—काव्यप्रकाश—मम्मट, पृ० ४३९।

२. **अयं चालंकारो वाक्यनिष्ठत्वाच्छाब्दः। अयं च शब्दश्लेष एवेति युक्तं।**

—चन्द्रालोक (गागाभट्ट-कृत राकागम टीका, पृ० ४५)।

चतुर्थ वर्ग

प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त तथा श्लेष ।

पंचम वर्ग

अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, विदर्शना (निदर्शना), उपमेयोपमा, सहोक्ति, संकर तथा परिवृत्ति ।

षष्ठ वर्ग

अनन्वय, सन्देह, संसृष्टि, भाविक, काव्यदृष्टांत तथा हेतु ।

प्रतिहारेन्दुराज की लघुवृत्ति से भट्टोद्भट के वर्गीकरण के प्रथम वर्ग के संबंध में उल्लेख प्राप्त होता है। इन्होंने इस वर्ग के प्रथम चार अलंकारों को शब्दालंकार और अंतिम चार को अर्थालंकार बताया है। वृत्तिकार बाद का विद्वान होने के कारण उद्भट के मत का संस्थापक तो नहीं हो सकता, परन्तु वर्गीकरण-संबंधी विचारों का उद्बोधक और उद्घोषक माना जा सकता है। वर्गीकरण के शेष पाँच वर्गों में केवल अर्थालंकारों तथा शब्दालंकारों का ही निरूपण है, तब ऐसा मानना संभव है कि 'अपरे' और 'परे' विशेषण के प्रयोग से पाँच वर्गों को प्रस्तुत करके उद्भट ने अर्थालंकार विवेचकों का परिचय दिया तथा पहले वर्ग में 'कैश्चिद्' शब्द का प्रयोग करके उन विद्वानों द्वारा स्वीकृत अलंकारों को भी पहले ही कहा। 'इत्येत एवं अलंकारावाचाम्' की उक्ति से तो प्रथम वर्ग के अलंकार ही उस काल में मान्य थे। ऐसी ध्वनि उद्भट के कथन से निकलती है। अन्य पाँच वर्ग तो अपरे, परे विशेषण से सम्बद्ध हैं। प्रथम वर्ग में शब्दार्थ भेद से अलंकारों का कथन है जो कि वृत्तिकार ने स्पष्ट कर दिया है तथा परम्परागत रूप से भी ऐसा ही स्वीकार किया जा रहा था। ऐसा भी माना जा सकता है कि उद्भट ने विभिन्न विद्वानों द्वारा मान्य अलंकारों के वर्गों को संभवतः एक साथ रख दिया है।

अलंकारों के इस वर्गीकरण में एक तथ्य और दिखाई देता है कि पहले वर्ग में शब्दालंकारों के अनन्तर उन्हीं अर्थालंकारों को लिया गया है जो उपमामूलक हैं। दूसरे वर्ग में उपमामूलक, आक्षेपमूलक तथा विरोधमूलक अलंकार भी हैं। तीसरे वर्ग में कोई समानाधार नहीं रखा गया। चौथे वर्ग में रस-भाव-सम्बन्धी अलंकारों के साथ पर्यायोक्ति, उदात्त आदि का कथन है। पाँचवें में विरोधमूलक तथा उपमामूलक के साथ ही उभयालंकार भी हैं। और छठे वर्ग में सादृश्यमूलक, वस्तुपरक एवं उदाहरणमूलक अलंकारों का सन्निवेश है। उपर्युक्त वर्गीकरण को समानाधार प्राप्त न होने के कारण वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता; परन्तु यह तो स्पष्ट दिखाई देता है कि उद्भट ऐसे किसी समानाधार को ढूँढने की चेष्टा में अवश्य थे। शब्दालंकारों का एक जगह रहना और उपमामूलक अलंकारों का किसी प्रकार कहीं-कहीं एकत्र आ जाना उनके इस प्रयास की ओर इंगित करता है। उसमें वैज्ञानिक वर्गीकरण की प्रवृत्ति की उन्मुखता तो मानी ही जा सकती है। यहाँ यह कहना अभीष्ट है कि अब तक केवल शब्द और अर्थ की प्रवृत्ति से ही अलंकार-विभाजन होता रहा था परन्तु अब उसमें अर्थालंकारों के लिए वर्गगत प्रवृत्तियों का उदय भी हो गया था।

रुद्रट-कृत वर्गीकरण

रुद्रट ने 'काव्यालंकार' के प्रारंभ में शब्दालंकार और अर्थालंकार सम्बन्धी भेद कहा है, तदनन्तर उसने अर्थालंकारों का वर्गीकरण किया है। उन्होंने अलंकारों के मूल तत्त्वों पर विचार करते हुए स्वनिरूपित अर्थालंकारों को चार वर्गों में विभक्त किया है। ये हैं— वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष।[1]

वस्तु का स्वरूप-कथन वास्तव में माना गया है।[2] वास्तव के अन्तर्गत सहोक्ति समुच्चय जाति, यथासंख्य, भाव पर्याय, विषम अनुमान दीपक परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक अन्योन्य, उत्तर सार, सूक्ष्मलेश अवसर मीलित तथा एकावली अलंकार हैं। सर्वाधिक भेद-प्रधान होने के कारण ही संभवतः इस वर्ग को पहले रखा गया है।

औपम्य में अप्रस्तुत-योजना होती है। किसी वस्तु के स्वरूप का अधिक स्पष्टता से वर्णन करने के लिए अप्रस्तुत-योजना काम आती है। एक प्रस्तुत वस्तु के स्वरूप विशेष से दूसरी अप्रस्तुत वस्तु के साथ समानता की अभिव्यक्ति है।[3] औपम्य के अन्तर्गत इन अलंकारों को लिया गया है—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत उत्तर 'आत्योत्ति' अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त पूर्व, सहोक्ति समुच्चय, साम्य और स्मरण।

अतिशय तीसरा वर्ग है। अतिशय से तात्पर्य अर्थ और धर्म के नियमों के विपर्यय से है, जिसमें लोकातिक्रान्तता विद्यमान रहे।[4]

इस वर्ग के अन्तर्गत १२ अलंकारों का निरूपण है— पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा श्लेष अलंकार हैं। इस वर्ग में १० अलंकार हैं— अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज उक्ति, असंभव, अवयव, तत्त्व और विरोधाभास।

रुद्रट का वर्गीकरण वैज्ञानिकता की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है। यह सत्य

---

१. **अर्थस्यालंकार वास्तवौपम्यमतिशयः श्लेषः।**
एषामेव विशेषा अन्य तु भवन्ति निःशेषा ॥७-९॥
—काव्यलंकार—रुद्रट, पृ० ७६।

२. **वास्तविमिति तज्ज्ञेयं वस्तुस्वरूपकथनं यत्।**
पुष्टार्थमविपरीतं निरूपममनतिशयमश्लेषम् ॥७-१०॥
—काव्यालंकार—रुद्रट, पृ० ७६।

३. **सम्यक् प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तुतत्समानमिति।**
वस्त्वन्तरमभिदध्याद वक्ता यस्मिस्तदौपम्यम् ॥८-१॥
—काव्यालंकार—रुद्रट, पृ० ९८।

४. **यत्रार्थधर्मनियमः प्रसिद्धिबाधाद्विपर्ययं याति।**
कश्चित्क्वचिदतिलोकं स स्यादित्यतिशयस्तस्य ॥९-१॥
—काव्यालंकार—रुद्रट, पृ० १२२।

है कि उसके वास्तव और श्लेषवर्ग आगे अधिक नहीं चल सके । फिर भी विकास-क्रम में देखने पर इससे वर्गीकरण का महत्त्व कम नहीं होता । वास्तव वस्तुरूप का कथन है— अलंकारों में वस्तु वर्णन की सर्वसामान्य भूमिका से उन्होंने इस सिद्धान्त का चयन किया, परन्तु वस्तुकथन तो औपम्यादि अन्य वर्गों में भी रहता है। यही कारण है कि प्रथम वर्ग की व्याख्या करते हुए उसने वास्तव को केवल अपने विशेष अर्थ की पुष्टि करने वाला ही कहा है। साथ ही जिसमें विपरीतता न हो, जिसमें उपमात्व न हो, जिसमें अतिशयत्व न हो और जिसमें श्लेषत्व न हो, यह भी उसे कहना पड़ा। उसका 'वास्तव वर्ग' उसकी विवेचन दृष्टि का परिचायक होते हुए भी निर्भ्रान्त नहीं है। 'श्लेष वर्ग' में भी श्लेष को व्यापक आधार पर ग्रहण करने से उसकी बात युक्तियुक्त हो सकती है, अन्यथा नहीं। उसके औपम्य और अतिशय वर्ग अवश्य ही वैज्ञानिक दृष्टि के परिणाम हैं, क्योंकि इन दोनों में अलंकारों की मूल प्रक्रिया को ग्रहण किया गया है, जहाँ-जहाँ अप्रस्तुत योजना द्वारा उपमान भाव से वस्तु वर्णन किया जाता है, वहाँ औपम्य मानना उचित ही है। और इसी प्रकार अतिशय में भी 'अतिलोकता' सिद्ध है। उन्होंने इसे 'अर्थ-धर्म-नियम की प्रसिद्ध बाधा द्वारा विपर्यय' कहकर भी इसकी 'लोकातिक्रान्तता' का ही समर्थन किया है। यहाँ तक तो वर्गीकरण के नामौचित्य की बात हुई, परन्तु जहाँ तक विभिन्न वर्गों से अलंकारों को रखने का प्रश्न है वहाँ रुद्रट उलझ गया है। उसने उत्तर, समुच्चय, विरोध, अधिक, उत्प्रेक्षा और विषम अलंकारों को दो-दो वर्गों में स्थान दिया है। अवश्य ही रुद्रट की बौद्धिक ईमानदारी का दर्शन तो होता है, परन्तु वह एक असंदिग्ध वर्गीकरण नहीं दे पाया, यह भी स्पष्ट ही है।

रूय्यक कृत वर्गीकरण

आचार्य रुय्यक ने अपने ग्रंथ 'अलंकारसर्वस्वम्' में अर्थालंकारों का वर्गीकरण नवीन आधार पर प्रस्तुत किया है। इस वर्गीकरण में रचना-शैली के आधार का भी ध्यान रखा गया है। उसने पहले पाँच वर्ग बनाये हैं और फिर उनके भी अवान्तर भेद किये हैं। ये भेद निम्नलिखित हैं :—

(१) सादृश्यगर्भ ।
(२) विरोधगर्भ ।
(३) शृंखला बन्धोपचिता ।
(४) न्यायमूलक (तर्कन्यायमूल, काव्यन्यायमूल अथवा वाक्यन्यायमूल और लोकन्यायमूल) ।
(५) गूढार्थप्रतीतिमूल ।

सादृश्यगर्भ

इस वर्ग में ८८ अलंकार हैं। इनका मूलाधार साधर्म्य है। यह साधर्म्य भी तीन प्रकार का है : (अ) भेदाभेदतुल्य प्रधान, (आ) अभेदप्रधान, (इ) गम्यमानौपम्य यह साधर्म्य भी कहीं वाच्य रहता है, कहीं प्रतीयमान। साधर्म्य के अनुकूल ही अवान्तर

वर्गीकरण में इन अलंकारों को रखा गया है। इन अवान्तर भेदों में वर्गीकृत अलंकारों का निरूपण इस प्रकार है—

(अ) भेदाभेदतुल्य प्रधान

इस वर्ग में उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण—चार अलंकार हैं। इन अलंकारों में उपमेय और उपमान के साधर्म्य में भेद नहीं होता, तुल्य साधर्म्य की स्थिति विद्यमान रहती है।

(आ) अभेद प्रधान

इस वर्ग में आठ अलंकार हैं। इनमें छः आरोपमूलक हैं और दो अध्यवसाय मूलक। रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्ति, उल्लेख और अपह्नुति आरोपमूलक हैं। उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अध्यवसायमूलक अलंकार है। इन अलंकारों में उपमेय-उपमान के साधर्म्य में अभेद-कथन रहता है। इसलिए अभेद प्रधान साम्य ही इनका मूलाधार है। रूपकादि छः अलंकारों में उपमेय में उपमान का आक्षेप किया जाता है। अतः आरोप की प्रधानता रहती है। उत्प्रेक्षा में अनिश्चित रूप में तथा अतिशयोक्ति में निश्चित रूप से उपमेय में उपमान का अध्यवसाय रहता है। इसलिए ये दोनों अलंकार अध्यवसायमूलक हैं।

(इ) गम्यमानौपम्य

इस वर्ग के अन्तर्गत तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्ति, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति और आक्षेप १६ अलंकार हैं। इन अलंकारों में औपम्य प्रतीयमान अथवा व्यंग्य रूप से रहता है। वाच्य कदापि नहीं रहता। इसलिए इनका आधार गम्यमान औपम्य है, परन्तु इन अलंकारों में गम्यमान औपम्य की स्थिति भिन्न-भिन्न रूपों में रहती है, दीपक और तुल्ययोगिता में उपमेय या उपमानों का अथवा दोनों के एक धर्म का कथन एक ही पद में रहता है। इसलिए इन दोनों का गम्यमान औपस्य पदार्थगत ही है। दृष्टान्त प्रतिवस्तूपमा तथा निदर्शना वाक्यार्थगत गम्यमान औपम्य रहता है। व्यतिरेक और सहोक्ति में उपमेय और उपमान के पारस्परिक भेद विद्यमानत्व में भी गम्यमान औपम्य रहता है। समासोक्ति और परिकर में विशेषण वैचित्र्यगत गम्यमान औपम्य रहता है। श्लेष में विशेषण-विशेष्य वैचित्र्यगत गम्यमान औपम्य की विद्यमानता है। विनोक्ति सहोक्ति का तथा अप्रस्तुत-प्रशंसा समासोक्ति का विरोधी अलंकार है। अर्थान्तरन्यास अप्रस्तुतशंसा का सजातीय अलंकार है। पर्यायोक्ति व्याज-स्तुति और आक्षेप में भी गम्यमानता है। परन्तु इन अलंकारों को संभवतः विरोधी और सजातीय भाव की सरल बोधगम्यता के कारण इस वर्ग में रखा गया है। पर्यायोक्ति व्याजस्तुति और आक्षेप को गम्यमान के प्रस्तावप्रसंग के हेतु इस वर्ग के अन्तर्गत मान लिया गया है।

विरोधगर्भ अलंकार

इस वर्ग में १२ अलंकार रखे गये है—ये हैं—विरोध, विभावना, विशेषोक्ति,

सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात अतिशयोक्ति (कार्यकारणपौर्वापर्य), असंगति और विषम। विरोधगर्भ अलंकारों का मूलाधार पारस्परिक विरोधात्मकता है। परन्तु विरोधमूलक होते हुए भी सम अलंकार को इस वर्ग में स्थान दिया गया है। रुय्यक का इस बारे में स्पष्ट कथन है कि विषमालंकार का वैधर्म्य सम में रहता है, इसलिए उसे इसी वर्गीकरण में रखना उचित है।[1]

इसके अतिरिक्त रुय्यक ने अतिशयोक्ति को सादृश्यगर्भ तथा विरोधगर्भ अलंकारों के वर्ग में दो स्थानों पर रखा है। पहले वर्ग में परिगणित अतिशयोक्ति को अध्यवसान-मूलक माना है।[2] आगे चलकर दूसरा लक्षण विरोधगर्भवर्ती वर्ग में दिया है।

पहले लक्षण की व्याख्या में कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंस नामक पाँचवें भेद की बात भी रुय्यक ने कही है और दूसरे लक्षण की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि काल-साम्य-निबंधन तथा काल-विपर्यास-निबंधन से कार्यकरण का रूपापगम अतिशोयक्ति में होता है।

इससे स्पष्ट है कि रुय्यक से भी अतिशयोक्ति के वर्गीकरण समस्या का समाधान न हो पाया और उन्होंने इसे दो वर्गों में रखा। उचित यही होता कि सादृश्यगर्भ वर्ग में ही इस अलंकार को रखा जाता, क्योंकि अध्यवसान की मूल स्थिति इसमें रहती है। विरोध की स्थिति वहाँ रहते हुए भी परिहृत हो जाती है।

शृंखला बंधोपचिता अलंकार

इस वर्ग में कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार नामक चार अलंकार रखे गए हैं। इन अलंकारों में एक पद या वाक्य दूसरे पद या वाक्य से शृंखला की भाँति संबंधित रहता है। कारण और विशेषण भाव भी शृंखला में रहते हैं। पूर्वापर की शृंखला बनने से ही इन अलंकारों में चमत्कार आता है।

न्यायमूलक अलंकार

इस वर्ग में १७ अलंकारों को रखा गया है। सभी अलंकार लोक तथा शास्त्र में प्रचलित न्याय के विभिन्न रूपों पर आधृत हैं।

क—तर्कन्यायमूलक—काव्यलिंग और अनुमान दो अलंकार इस अवान्तर भेद में रखे गये हैं।

ख—वाक्यन्यायमूलक या काव्यन्यायमूलक—यथासांख्य, पर्याय, परिवृत्ति अर्थापत्ति, विकल्प, परिसंख्या, समुच्चय और समाधि—ये आठ अलंकार इस भेद में रखे गए हैं।

ग—लोकन्यायमूलक—प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्‌गुण, अतद्‌गुण और उत्तर—ये सात अलंकार इस वर्ग में लोकानुभव से प्रचलित न्यायों के आधार पर

---

१. **अलंकार-सर्वस्वम्**—रुय्यक, पृ० १६७।

२. **अलंकार-सर्वस्वम्**—रुय्यक, पृ० ८३, १६३।

रखे गए हैं।

गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक अलंकार

तीन अलंकार—सूक्ष्म, व्याजोक्ति और वक्रोक्ति गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक माने गए हैं। इनका संबंध गूढ़ार्थ से है। बिना गूढ़ार्थ के इन अलंकारों में चमत्कार नहीं आता।

रुय्यक ने अलंकार-वर्गीकरण को और अधिक वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न किया। परन्तु उसमें पूर्णता न आने के कारण उन्होंने भी कुछ अलंकारों को छोड़ दिया। स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, संसृष्टि, संकर, रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वि तथा समाहित जैसे रससंबंधी अलंकार और भावों से संबद्ध भावोदय, भावसंधि तथा भावशबलता को भी रुय्यक किसी वर्ग में न ला पाए। क्यों? इसका उत्तर स्पष्ट है कि उस काल में इन अलंकारों की स्थिति इस वर्गीकरण के अन्तर्गत इसलिए न आ पाई कि रस की विशद चर्चा काव्य में हो चुकी थी और रसवत्, प्रेयस् आदि अलंकार उसी से संबद्ध थे। संसृष्टि और संकर तो भिन्न अलंकारों का परस्पर मिश्रित तथा भिन्न प्रतीति पर मिश्रित रूप है। इसलिए वे नए अलंकार नहीं। कोई भी दो अलंकार संसृष्टि या संकर का रूप धारण कर सकते हैं।

आचार्य रुय्यक को कुछ नवीन और संगत मूलाधारों को ढूँढने का श्रेय अवश्य ही देना पड़ेगा। एक ओर उन्होंने रुद्रट के वास्तव को छोड़ा है, दूसरी ओर उन्होंने सादृश्यगर्भ को भी अधिक सूक्ष्म दृष्टि से देखकर उसके भी तीन भेद कर दिए हैं। प्रथम तो औपम्य की मूलवृत्ति 'सादृश्य' को उन्होंने नाम में ग्रहण किया। पुनः सादृश्य को भेदाभेद तुल्यप्रधान, अभेद-प्रधान और केवल गम्यमान औपम्य के अवान्तर भेदों में विभक्त किया है। विरोधगर्भ, शृंखलामूलक, न्यायमूलक तथा गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक नए वर्ग दिए हैं। निःसंदेह विरोधगर्भ अलंकारों का आधार भी औपम्य के समान ही महत्त्व-पूर्ण है। शृंखलामूलकता में उन्होंने पद-रचना के अनुक्रम को पकड़ा है। न्यायमूलक अलंकारों के माध्यम से उनकी दृष्टि तर्कन्याय, वाक्य-न्याय और लोक-न्याय के औचित्य का स्पर्श करती है और गूढ़ार्थ में उन्होंने व्यंग्य या गोपन के तत्त्वों को ग्रहण करने की ओर पग बढ़ाया है। वर्गीकरण को स्पष्ट और पूर्ण बनाने की समस्या आचार्य रुय्यक के सामने रही थी, फिर भी उनका प्रयास निश्चित रूप से इस दिशा में संगत विकास है।

वर्गीकरण-निरपेक्ष आचार्य

संस्कृत-काव्यशास्त्र में ऐसे आलंकारिक भी हैं, जिन्होंने वर्गीकरण के संबंध में किसी प्रकार की चर्चा नहीं की, अपितु एकपक्षीय अलंकार लिखे। इनमें अप्पयदीक्षित, पंडितराज जगन्नाथ तथा भट्ट देवशंकर पुरोहित का नाम उल्लेखनीय है। अर्थालंकारों का विवेचन करने के कारण चाहे इन्हें अर्थालंकारों के लेखकों में वर्गीकृत कर लिया जाए, परन्तु इन्हें वर्गीकरणनिरपेक्ष आचार्य मानना अधिक उपयुक्त है। उभयालंकार का नाम संभवतः उन्होंने केवल इसलिए लिया कि उनके मस्तिष्क में उभयालंकार की धारणा विद्यमान थी।

(ग) अलंकार और अलंकार्य*

वक्रोक्ति का अलंकार के साथ घनिष्ठ संबंध है—आलोचकों ने वक्रोक्ति को प्रायः अलंकार का अंग मानकर वक्रोक्ति-सम्प्रदाय को अलंकार-सम्प्रदाय का ही पुनरुत्थान मात्र सिद्ध किया है। इस कथन में निश्चय ही सत्यता है, परन्तु फिर इन दोनों में स्पष्ट भेद है, और यह भेद स्थूल अवयवगत न होकर तत्त्वगत है। वक्रोक्ति के स्वरूप को पूर्णतया हृदयंगम करने के लिए अलंकार, और केवल अलंकार ही नहीं, अन्य काव्य-तत्त्वों के साथ भी उसका तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है।

अलंकार और अलंकार्य के भेदाभेद का प्रश्न यूरोप में अभिव्यंजनावाद के प्रवर्तन के पश्चात् आधुनिक काव्यशास्त्र में विशेष चर्चा का विषय बन गया है। परन्तु भारतीय काव्यशास्त्र के लिए यह कोई नवीन विषय नहीं है। प्राचीन आलंकारिकों ने—भामह, दण्डी, वामन आदि ने अलंकार और अलंकार्य का अभेद माना है और समस्त काव्य-सौन्दर्य को अलंकार के अन्तर्गत ही रखा है।

१. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान्प्रचक्षते।

—दण्डी

२. सौन्दर्यमलंकारः।

—वामन

इस प्रकार इन आचार्यों के अनुसार अलंकार काव्य-शोभा के कारण अथवा पर्याय हैं। इन्होंने इसी दृष्टि से समस्त रस-प्रपंच को रसवदादि अलंकार-चक्र में अन्तर्भूत कर लिया है। इनके मत से काव्य का प्रस्तुत पक्ष अरमणीय या चमत्कार-रहित होने पर काव्य न होकर वार्ता मात्र रह जाता है।

गतोऽस्तमको भातीन्दुः यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं ?··· वार्तामेनां प्रचक्षते॥

—भामह : काव्यालंकार २,८६।

अर्थात् सूर्य अस्त हो गया, चन्द्रमा का उदय हो गया है, पक्षिगण अपने-अपने नीड़ों को लौट रहे हैं···इत्यादि—यह क्या कोई काव्य है ? इनको वार्ता कहते हैं। रमणीय अथवा चमत्कारपूर्ण होने पर काव्य का यह प्रस्तुत पक्ष अलंकार से अभिन्न हो जाता है। अभिप्राय यह है कि अलंकारवादी प्रस्तुत अर्थ का निषेध नहीं करते, परन्तु उसमें यथावत् काव्यत्व की संभावना नहीं मानते—किसी भी प्रकार के सौन्दर्य से विशिष्ट होने पर फिर वह अपने समग्र रूप में अलंकार बन जाता है। अर्थात् शब्द-अर्थ के दो रूप हैं : (१) प्रकृत (अनलंकृत) रूप (२) अलंकृत रूप।—इनमें से प्रथम अकाव्य है, द्वितीय अपने समग्र रूप में ही काव्य है—वही अलंकार भी है, उसमें अलंकार और अलंकार्य का भेद नहीं है। रस-ध्वनिवादियों ने रस को अथवा शब्द-अर्थ को—और स्पष्ट शब्दों के

---

* डॉ० नगेन्द्र।

शब्द-अर्थ को प्रत्यक्षत: और रस को मूलत:—अलंकार्य माना है और उपमा अनुप्रासादि को अलंकार नाम से अभिहित किया है। उन्होंने अलंकार और अलंकार्य की पृथक् सत्ता का स्पष्ट निर्देश किया है। अलंकार की उपादेयता के विषय में आनन्दवर्धन का मत है :

विवक्षा तत्परत्वेन नांगित्वेन कदाचन। २-१८

अर्थात् अलंकार की विवक्षा रस को प्रधान मानकर ही होनी चाहिए अंगी रूप में नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि अंगी होने के नाते रस अलंकार्य है, अलंकार की सार्थकता उसका उत्कर्षवर्धन करने में ही है। इस प्रकार अलंकार और अलंकार्य की पृथकता सिद्ध है। मम्मट और विश्वनाथ ने इसी मन्तव्य की अपने-अपने ढंग पर पुष्टि की है :

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्,
हारादिवदलंकारास्ते ....।

—काव्यप्रकाश ८।६७

अर्थात् रस रूप अंगी को अलंकार शब्द अर्थ रूप अंग के द्वारा उपकृत करते हैं: हारादि आभूषण जिस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से शरीर को सुशोभित करते हुए मूलत: आत्मा का उत्कर्ष करते हैं, इसी प्रकार अलंकार प्रत्यक्षत: शब्द अर्थ को भूषित करते हुए मूल रूप में रस का उपकार करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार उपमादि अलंकार है और शब्द अर्थ प्रत्यक्ष रूप में तथा रस मूल रूप में अलंकार्य है इसी तथ्य का प्रतिपादन विश्वनाथ भिन्न प्रकार से करते हैं :

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा: शोभातिशायिन:
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्ते........ । (सा० द०)

अर्थात् अलंकार शब्द-अर्थ के अस्थिर धर्म हैं जो उनकी शोभा की अभिवृद्धि करते हुए मूलत: रस का उपकार करते हैं। यहाँ अलंकरण का अर्थ किया गया है शोभा-वर्धन—प्रकृत शोभा की अभिवृद्धि, और प्रत्यक्ष रूप से शब्द-अर्थ को तथा तत्त्व रूप से रस को अलंकार्य माना गया है। रस ध्वनिवादियों की उपमा—हारादिवत् वा अंगदादिवत्—ही अलंकार की भिन्नता को पुष्ट करती है। परन्तु आगे चलकर इन आचार्यों ने भी, ऐसे अनेक अलंकारों की अलंकारता स्वीकार कर ली है जो वास्तव में वर्णन-शैली के प्रकार न होकर वर्ण्य विषय के ही रूप हैं। अत: यह शंका हो सकती है कि उनके मन में भी कदाचित् अलंकार और अलंकार्य का पार्थक्य एकान्त स्पष्ट नहीं था।

कुन्तक की दृष्टि इस विषय में सर्वथा निर्भ्रान्त है, उन्होंने अनेक प्रसंगों में अनेक प्रकार से इस प्रश्न को उठाया है और अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में अपना मन्तव्य व्यक्त किया है।

१. अलंकार और अलंकार्य को अलग-अलग करके उनकी विवेचना उस (काव्य की व्युत्पत्ति) का उपाय होने से ही की जाती है। (वास्तव में तो) अलंकार सहित (शब्द अर्थ और अलंकार की समष्टि) ही काव्य है।

अलंकृति का अर्थ अलंकार है। जिसके द्वारा अलंकृत किया जाय (उसको अलंकार कहते हैं) इस प्रकार विग्रह करने से। उसका विवेचन अर्थात् विचार किया जाता है और जो अलंकरणीय वाचक (शब्द) रूप तथा वाच्य (अर्थ) रूप है उसका भी विवेचन किया जाता है। सामान्य तथा विशेष लक्षण द्वारा उसका निरूपण किया जाता

है। किस प्रकार ? अलग करके, निकालकर, पृथक्-पृथक् करके। जिस समुदाय (रूप वाक्य) में उन दोनों का अन्तर्भाव है उससे विभक्त करके। किस कारण ? उसका उपाय होने से।...इस प्रकार का विवेचन काव्य-व्युत्पत्ति का उपाय हो जाता है।... समुदाय के अतःपाती असत्य पदार्थों का भी व्युत्पत्ति के लिए (शास्त्रों में) विवेचन पाया जाता है। जैसे वैयाकरणों के मत में वाक्य के अन्तर्गत पदों का और पदों के अन्तर्गत वर्णों का अलग-अलग कोई अस्तित्व नहीं है, फिर भी पदों के अन्तर्गत प्रकृति-प्रत्यय का और वाक्य के अन्तर्गत पदों का अलग-अलग विवेचन व्याकरण ग्रन्थों में किया जाता है।......

यदि इस प्रकार काव्य-व्युत्पत्ति का उपाय होने से असत्यभूत (अलंकार तथा अलंकार्य) उन दोनों का पार्थक्य किया जाता है, तो फिर सत्य क्या है, इसको कहते हैं। तत्वं सालंकारस्य काव्यता......अर्थात् सालंकार (शब्दार्थ) की काव्यता है, यह यथार्थ (तत्त्व) है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि अलंकार सहित अर्थात् अलंकरण सहित सम्पूर्ण अवयवरहित समस्त समुदाय की काव्यता है—कवि कर्मत्व है। इसलिए अलंकृत (शब्द-अर्थ) का ही काव्यत्व है...न कि अलंकार का काव्य में योग होता है। (हिन्दी वक्रोक्ति-जीवित—कारिका ६ की वृत्ति।)

आगे चलकर प्रथम उन्मेष की ही दसवीं कारिका में कुन्तक ने एक स्थान पर अलंकार और अलंकार्य का पृथक् उल्लेख किया है :

ये दोनों (शब्द और अर्थ) अलंकार्य होते हैं, और चतुरतापूर्ण शैली से कथन (वैदग्ध्यभंगीभणिति) रूप वक्रोक्ति ही उन दोनों का अलंकार होती है (व० जी० १।१०)। परन्तु तुरन्त ही वे एक शंका उठाकर उसका निराकरण कर देते हैं :

पूर्व पक्ष—आपने पहले स्थापित किया है कि अलंकार और अलंकार्य के विभाग से रहित सालंकार काव्य का ही काव्यत्व है तो यह क्यों कहते हैं ?

उत्तर पक्ष—ठीक है। किन्तु वहाँ भेद विवक्षा से वर्णपद—न्याय से अथवा वाक्यपद न्याय से (तत्त्व रूप में) असत्य होते हुए भी विभाग किया जा सकता है, यह कहा जा चुका है। (ग्यारहवीं कारिका की वृत्ति)।

इस प्रकार कुन्तक का दृष्टिकोण इस विषय में सर्वथा निर्भ्रान्त है। उनके मन्तव्य का सार यह है :

(१) तत्त्व रूप में अलंकार और अलंकार्य की पृथक् सत्ता नहीं है।

(२) काव्य में शब्द-अर्थ रूप अलंकार्य का और वक्रोक्ति रूप (जिसके अन्तर्गत काव्य के उपमादि सभी प्रकार के शोभादायक तत्त्वों का समावेश है) अलंकार का पूर्ण तादात्म्य रहता है। अलंकार कोई बाह्य वस्तु नहीं है जिसका शब्द अर्थ के साथ योग होता है।

(३) फिर भी काव्य-सौन्दर्य को हृदयंगम करने के लिए व्यवहार रूप में इन दोनों का पृथक् विवेचन किया जा सकता है और वह उपादेय भी होता है। केवल काव्यशास्त्र में ही नहीं वरन् व्याकरणादि अन्य शास्त्रों में भी तत्त्व और व्यवहार में इसी प्रकार की भेद-कल्पना की जाती है। उदाहरण के लिए व्याकरण का सिद्धान्त यह

है कि वाक्य के अन्तर्गत पदों का और पद के अन्तर्गत वर्णों का पृथक् अस्तित्व नहीं है। तो भी, व्यवहार रूप में, व्याकरण के तत्त्व को समझने के लिए, पदों के अन्तर्गत प्रकृति-प्रत्यय का और वाक्य के अन्तर्गत पदों का पृथक् विचार सफलतापूर्वक किया जाता है।

क्रोचे का मत

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी अलंकार और अलंकार्य का व्यवहारगत भेद प्रायः आरंभ से ही मान्य रहा है, वहाँ इस भेद की स्पष्टता की मात्रा में तो अन्तर होता रहा है परन्तु उसका निषेध क्रोचे से पूर्व किसी ने नहीं किया। क्रोचे का सिद्धान्त संक्षेप में इस प्रकार है : कला मूलतः सहजानुभूति अथवा स्वयंप्रकाश्य ज्ञान है, और सहजानुभूति अभिव्यंजना से अभिन्न है, जो अभिव्यंजना से मूर्त नहीं होती वह सहजानुभूति न होकर संवेदन या प्रकृत विकार मात्र है। अपने पूर्व रूप में वस्तु यन्त्रवत् है, निष्क्रिय है, मानवात्मा उसका अनुभव तो करती है, परन्तु सृजन नहीं करती। सहजानुभूति से अभिन्न होने के कारण अभिव्यंजना अखंड है—रीति, अलंकार आदि में उसका विभाजन नहीं हो सकता।

"अभिव्यंजना का विभिन्न श्रेणियों में अवैध विभाजन साहित्य में अलंकार सिद्धांत अथवा रीतिवर्ग के नाम से प्रसिद्ध है।········ उपचार के चौदह भेद, शब्द और काव्य के अलंकार··· ये अथवा अभिव्यंजना के ऐसे ही प्रकार वा कोटिक्रम, परि-भाषा का प्रयत्न करने पर यह प्रकट कर देते हैं कि तत्त्व रूप में उनका कोई अस्तित्व नहीं है क्योंकि या तो वे शून्य में खो जाते हैं या निरर्थक वाग्जाल मात्र रह जाते हैं। इसका एक उदाहरण उपचार[1] की यह परिभाषा है कि उचित शब्द के स्थान पर किसी अन्य शब्द का प्रयोग उपचार है। अब प्रश्न है कि यह कष्ट क्यों उठाया जाय ? उपयुक्त शब्द के लिए अनुपयुक्त शब्द का प्रयोग ही क्यों किया जाय ? अब आप छोटा और सुगम मार्ग जानते हैं तो लम्बे और दुर्गम मार्ग से जाने का क्या लाभ ? इसका उत्तर कदाचित् यह दिया जाता है कि कुछ परिस्थितियों में उपयुक्त शब्द उतना ही अभि-व्यंजक नहीं होता जितना कि तथाकथित अनुपयुक्त द्योतक (लाक्षणिक) शब्द। किन्तु ऐसी स्थिति में यह द्योतक शब्द ही वास्तव में उचित शब्द है और तथाकथित उपयुक्त शब्द अव्यंजक अतएव अत्यन्त अनुपयुक्त है। इसी प्रकार की युक्तियाँ अन्य वर्ग भेदों के विषय में भी दी जा सकती हैं। उदाहरण के लिए अलंकार को लीजिए। "यहाँ यह पूछा जा सकता है कि उक्ति में अलंकार का नियोजन किस प्रकार किया जा सकता है ? बाहर से ? तब तो वह उक्ति से सदैव पृथक् रहेगा। भीतर से ? ऐसी दशा में या तो वह उक्ति का साधक न होकर बाधक हो जाएगा, या फिर उसका अंग बनकर अलंकार ही न रह जाएगा। तब तो वह उक्ति का ही एक अभिन्न अंग बन जाएगा।" (एस्थेटिक, पृष्ठ ६९)।

---

१. मेटाफ़र।

आचार्य शुक्ल का मत

क्रोचे का उत्तर शुक्लजी ने उतने ही प्रबल शब्दों में दिया है :

''अलंकार-अलंकार्य का भेद मिट नहीं सकता। शब्द-शक्ति के प्रसंग में हम दिखा आए हैं कि उक्ति चाहे कितनी ही कल्पनामयी हो उसकी तह में कोई 'प्रस्तुत अर्थ' अवश्य ही होना चाहिए। इस अर्थ से या तो किसी तथ्य की या भाव की व्यंजना होगी। इस 'अर्थ' का पता लगाकर इस बात का निर्णय होगा कि व्यंजना ठीक हुई है या नहीं। अलंकारों (अर्थालंकारों) के भीतर भी कोई-न-कोई अर्थ व्यंग्य रहता है, चाहे उसे गौण ही कहिए। उदाहरण के लिए पन्तजी की ये पंक्तियाँ लीजिए :

बाल्य-सरिता के कूलों से
खेलती थी तरंग-सी नित
—इसी में था असीम अवसित।

इसका प्रस्तुत अर्थ इस प्रकार कहा जा सकता है—''वह बालिका अपने बाल्य-जीवन के प्रवाह की सीमा के भीतर उछलती-कूदती थी। उसके उस बाल्य जीवन में अत्यन्त अधिक और अनिवर्चनीय आनन्द प्रकट होता था।''

बिना इस प्रस्तुत अर्थ को सामने रखे, न तो कवि की उक्ति की समीचीनता की परीक्षा हो सकती है, न उसकी रमणीयता के स्थल ही सूचित किये जा सकते हैं। अब यह देखिए कि उक्त प्रस्तुत अर्थ को कवि की उक्ति सुन्दरता के साथ अच्छी तरह व्यंजित कर सकी है या नहीं। पहले 'बाल्य-सरिता' का रूपक लीजिए। कोई अवस्था स्थिर नहीं होती, प्रवाह-रूप में बहती चली जाती है, इससे साम्य ठीक है। अब नदी की मूर्त्त भावना का प्रभाव लीजिए। नदी की धारा देखने से स्वच्छता, द्रुत गति, चपलता, उल्लास आदि की स्वभावतः भावना होती है, अतः प्रभाव भी वैसा ही रम्य है जैसा भोली-भाली स्वच्छ-हृदय प्रफुल्ल और चंचल बालिका को देखने से पड़ता है। अतः कह सकते हैं कि यह रूपक समीचीन और रम्य है। बाल्यावस्था या कोई अवस्था हो उसकी दो सीमाएं होती हैं-- एक सीमा के पार व्यतीत अवस्था होती है, दूसरी के पार आने वाली अवस्था। अतः 'दो कूलों' भी बहुत ठीक है। तरंग नदी की सीमा के भीतर ही उछलती है, बालिका भी बाल्यावस्था के बीच स्वच्छन्द क्रीड़ा करती है। अतः 'तरंग सी' उपमा भी अच्छी है। असीम अर्थात् ब्रह्म अनन्त-आनन्द-स्वरूप है और उस बालिका में भी अपरिमित आनन्द का आभास मिलता है। अतः यह कहना ठीक ही है कि मानो उस असीम बाल्य जीवन के भीतर असीम आनन्द-स्वरूप ब्रह्म ही आ बैठा है। इसलिए यह प्रतीयमान उत्प्रेक्षा भी अनूठी है क्योंकि इसके भीतर 'अधिक' अलंकार के वैचित्र्य की भी झलक है।''

शुक्लजी के वक्तव्य का सारांश इस प्रकार है—

(१) प्रत्येक काव्य-उक्ति में एक प्रस्तुत अर्थ वर्तमान रहता है— यह प्रस्तुत अर्थ ही अलंकार्य है। यह अलंकार्य प्रस्तुत अर्थ भाव-रूप होता है या (रमणीय) तथ्य-रूप।

(२) प्रत्येक अलंकार (अर्थालंकार) के पीछे भी एक प्रस्तुत अर्थ रहता है—

उसी के द्वारा अलंकार में सन्निहित अप्रस्तुत-विधान के औचित्यानौचित्य का वर्णन हो सकता है।

(३) अतएव अलंकार्य और अलंकार में अनिवार्य भेद है जो मिट नहीं सकता।

विवेचन

अलंकार्य-अलंकार-भेद आधुनिक समालोचनाशास्त्र का अत्यन्त रोचक प्रसंग है। एक उदाहरण लेकर उसके पक्ष-विपक्ष की आलोचना करना अधिक समीचीन होगा।

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।

—श्रद्धा, कामायनी

संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार, प्रस्तुत उद्धरण में, 'कोमल नील परिधान में श्रद्धा का सुकुमार अधखुला अंग अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होता था,' यह तो है प्रस्तुत अर्थ अथवा वस्तु; मनु के हृदयमें उद्बुद्ध उसके प्रति आकर्षण अथवा अनुराग है भाव (रस); और 'मानो मेघों के वन में बिजली का गुलाबी फूल खिला हो' यह अप्रस्तुत-विधान है उत्प्रेक्षा अलंकार। यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार वस्तु के चित्रण (प्रस्तुत अर्थ) को रमणीय बनाता हुआ, भाव का भी उत्कर्ष करता है। प्रस्तुत अर्थ 'नील परिधान में श्रद्धा का अंग सुन्दर अत्यन्त सुन्दर लगता है' तथ्य-कथन मात्र है, उससे सहृदय के मन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। इसीलिए अप्रस्तुत विधान की आवश्यकता पड़ी। श्रद्धा का रक्तिम-गौर अंग प्रस्तुत है और बिजली का फूल अप्रस्तुत, उधर रोएँदार नीली ऊन, का परिधान प्रस्तुत है और मेघ-वन अप्रस्तुत — इसके आगे फिर नील परिधान से झलकता हुआ रक्तिम गौर अंग संयुक्त रूप में प्रस्तुत है और मेघवन में हँसता हुआ विद्युत्पुष्प अप्रस्तुत। यह अप्रस्तुत-विधान श्रद्धा के रूप को निश्चय ही प्रभावक बना देता है क्योंकि सहृदय की कल्पना को उत्तेजित करता हुआ यह उसके चित्त को उद्दीप्त कर देता है जिससे उसके उद्बुद्ध रति भाव के 'भाव' अथवा 'रस' रूप में आस्वाद्य होने में सहायता मिलती है। इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र में वस्तु, रस (भाव) और अलंकार की सत्ता पृथक् मानी गई है— इन तीनों में घनिष्ठ संबंध अवश्य है, परन्तु उनकी अपनी-अपनी सत्ता भी है। यूरोप का प्राचीन काव्यशास्त्र भी इस पार्थक्य को स्वीकार करता है— अरस्तू से लेकर ऑर्नल्ड तक यह मान्यता प्रायः अक्षुण्ण रही है।

क्रोचे को यह विश्लेषण सर्वथा अमान्य है। उनके अनुसार उपर्युक्त उक्ति अपने छन्दोबद्ध रूप में ही अखण्ड है; वस्तु, भाव और अलंकार की पृथक् खण्ड कल्पना अनर्गल है। इसी प्रकार प्रस्तुत और अप्रस्तुत का भेद भी सर्वथा मिथ्या है— जिसे प्रस्तुत अर्थ कहा गया है वह भिन्न अर्थ है, उक्ति का समग्र अर्थ ही प्रस्तुत अर्थ है। 'नील परिधान में श्रद्धा का अंग अत्यन्त सुन्दर लगता है, यहएक बात हुई और 'नील परिधान में श्रद्धा का अंग ऐसा लगता है जैसे मेघ-वन में बिजली का फूल' यह दूसरी बात। इन

दोनों उक्तियों में केवल उत्प्रेक्षा अलंकार का ही अन्तर नहीं है— दोनों की मूल व्यंजना ही भिन्न है। इस प्रकार क्रोचे को वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का भेद भी अमान्य है, उनके अनुसार वे एक ही उक्ति के दो अर्थ न होकर दो पृथक् उक्तियाँ हैं। प्रत्येक उक्ति का वाच्यार्थ ही उसका एक मात्र अर्थ है— एक उक्ति का एक ही अर्थ, एक ही व्यंजना हो सकती है। उस विशेष परिस्थिति में गान्धार-कन्या श्रद्धा के प्रति अपने कवि-निबद्ध पात्र मनु की प्रतिक्रिया की सहजानुभूति प्रसाद को एक ही रूप में हो सकती थी, अतएव उसकी अभिव्यक्ति भी एक ही रूप में सम्भव थी। वह सहजानुभूति अखण्ड थी, अतः उसकी अभिव्यक्ति भी अखण्ड ही होनी चाहिए।

इन दोनों में कौन-सा मत मान्य होना चाहिए? वास्तव में अलंकार-अलंकार्य के भेदाभेद का प्रश्न प्रत्यक्ष रूप से वाणी और अर्थ के भेदाभेद के साथ सम्बद्ध है। भारतीय चिन्ताधारा के लिए यह कोई नया प्रश्न भी नहीं है। संस्कृत के व्याकरण-शास्त्र में निश्चय ही वाणी और अर्थ के अभेद उक्ति की अखण्डता, प्रत्येक शब्द की एकार्थता आदि का स्पष्ट विवेचन मिलता है:

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥

—वैयाकरणभूषणसार, का० ६८

एकः शब्दः सकृदेकमेवार्थं गमयते।

—परिभाषेन्दुशेखर

यह प्रश्न यहीं नहीं समाप्त हो जाता। इसका मूल दर्शन में है। रूप और तत्त्व अथवा इसके भी आगे प्रकृति और ब्रह्म का भेदाभेद भारतीय दर्शन का प्रमुख विवेच्य विषय रहा है और अन्ततोगत्वा भेद और अभेद दोनों ही स्वीकार कर लिये गये हैं। तत्त्व रूप में तो ब्रह्म की अखण्ड सत्ता है और प्रकृति उसी की अभिन्न अभिव्यक्ति है। इसी प्रकार अर्थ की भी सत्ता अखंड है—शब्द उसका अविभाज्य माध्यम है। परन्तु व्यवहार में दोनों की पार्थक्य-कल्पना अनिवार्य है, अन्यथा चिन्तन-प्रक्रिया ही व्यर्थ हो जाती है। वास्तव में पार्थक्य का बोध अथवा आभास ही अन्त में अपार्थक्य की सिद्धि कराता है, इसलिए तत्त्व उपलब्धि के लिए प्रकल्पना के रूप में प्रकृति की पृथक् सत्ता माननी ही पड़ती है। यही अर्थ और वाक् के लिए भी मान्य है—और यही फिर आगे चलकर अलंकार्य-अलंकार के लिए भी मानना पड़ेगा। क्रोचे का यह तर्क सर्वथा संगत है कि प्रत्येक प्रतिक्रिया का अपना अस्तित्व होता है जो अन्य किसी भी प्रतिक्रिया से भिन्न होता है, और यह भी ठीक ही है कि यह प्रतिक्रिया अभिव्यंजना में ही रूप ग्रहण करती है: उसके बिना वह अरूप संवेदन मात्र होती है। परिणामतः प्रत्येक उक्ति भी किसी भी अन्य उक्ति से भिन्न होती है। इस दृष्टि से 'नीले परिधान में श्रद्धा का अंग अत्यन्त सुन्दर लगता है' और 'नीले परिधान में श्रद्धा का अंग ऐसा लगता है मानो मेघवन में बिजली का फूल हो' दोनों उक्तियाँ निश्चय ही भिन्न हैं—इसे कौन अस्वीकार करता है?

तुम चन्द्रमा-सी सुन्दर हो।
तुम उषा-सी कान्तिमयी हो।

तुम गुलाब-सी प्रसन्न हो।
तुम लता-सी सुकुमार हो।

ये सभी उक्तियाँ निश्चय ही भिन्न हैं—इन सभी में आलम्बन के सौन्दर्य के विभिन्न पक्षों की व्यंजना है। परन्तु इस अनेकता के मूल में क्या यह एक भावना विद्यमान नहीं है : 'तुम मुझे प्रिय लगती हो'। यदि ऐसा नहीं है तो उपर्युक्त सभी उक्तियाँ अर्थहीन प्रलाप हैं क्योंकि पहले तो चन्द्रमा, उषा, गुलाब और लता में सौन्दर्य, कान्ति, प्रसन्नता, सौकुमार्य आदि गुणों का आरोप मिथ्या हो सकता है, और दूसरे कोई स्त्री न चन्द्रमा के समान सुन्दर हो सकती है, न उषा के समान कान्तिमयी, न गुलाब के समान प्रसन्न और न लता के सदृश सुकुमार। उपर्युक्त उक्तियों की सार्थकता का एकमात्र आधार यही भाव है कि 'तुम मुझे प्रिय लगती हो'। यही उनका व्यंग्यार्थ है। यही शुक्लजी के शब्दों में प्रस्तुत अर्थ है, इसी को व्यक्त करने के लिए अनेक प्रकार का अप्रस्तुत-विधान किया गया है जिसका काव्यशास्त्र ने विवेचन की सुविधा के लिए नामकरण कर दिया है।—ये नाम निरपेक्ष नहीं हैं परन्तु स्वरूप-बोध के लिए उनकी अपनी उपयोगिता है, उसी सीमा तक मूल रूप में असत्यभूत होने पर भी, व्यवहार में वे मान्य हैं। अनेकता की धारणा के बिना एकता या भेद के बिना अभेद की कल्पना कैसे संभव है? अभेद को हृदयगत करने के लिए भेद का ज्ञान अनिवार्य है। भारतीय दर्शन और उस पर आधृत भारतीय अलंकारशास्त्र इस सत्य से अवगत रहा है, इसीलिए मूलतः अभेद का विश्वासी होने पर भी उसने व्यवहारतः भेदाभेद की सापेक्षता को निस्संकोच रूप से स्वीकार किया है। काव्य को इसीलिए अर्धनारीश्वर का रूप माना गया है जिसमें वाक् और अर्थ शंभु और शिवा के समान सृपंक्त है :

१. वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।

—कालिदास

२. अर्थः शम्भुः शिवा वाणी।

—लिंगपुराण

३. रुद्रोऽर्थोऽक्षरस्सोमा।

दोनों तत्त्वतः एक हैं, किन्तु प्रत्यक्षतः दो हैं ही। व्यवहार रूप में इस भेद को अनर्गल कहकर उड़ा देने से समस्त शास्त्र-विवेचन ही व्यर्थ हो जाता है, अलंकारशास्त्र ही नहीं, दर्शनशास्त्र का भी अस्तित्व नहीं रह जाता। फिर क्रोचे का सौन्दर्यशास्त्र और उसमें स्वीकृत मानव-चेतना के धारणा तथा सहजानुभूतिमूलक भेद-प्रभेद सभी निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं : एक अखंड सत्य की सत्ता शेष रह जाती है जिसकी सहजानुभूति मात्र संभव है विवेचन-विश्लेषण नहीं। इसी कारण अन्त में क्रोचे को यह स्वीकार करना पड़ा : 'स्वयं हमने ही इस निबंध में कई बार इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग किया है, और आगे भी प्रयोग करने का विचार है जिससे हम अपने द्वारा प्रयुक्त, अथवा (विवेच्य प्रसंग में) अन्य प्रयुक्त शब्दों का अर्थ स्पष्ट कर सकें। किन्तु यह विज्ञान और दर्शनशास्त्र-संबंधी विवेचन के लिए तो उपयुक्त है, कला के विवेचन में इसका कोई मूल्य नहीं है......... (क्योंकि) कला में तो उपयुक्त शब्दों के अतिरिक्त अन्य शब्दों का प्रश्न ही नहीं है : वह

सहजानुभूति[1] है, धारणा[2] नहीं।" (क्रोचे—ऐस्थेटिक)

बस यहीं समस्या हल हो जाती है। जहाँ तक कला की अनुभूति या सहजानुभूति का प्रश्न है, कोई भी उसकी अखण्डता में संदेह नहीं करता : वह अखण्ड है, वस्तु-तत्त्व और रूप-आकार अथवा अलंकार तथा अलंकार्य की पृथक् सत्ता उसमें नहीं है। परन्तु वह तो कला की सहजानुभूति है जिसे हमारे शास्त्र में (सहृदयता की दृष्टि से) आस्वाद कहा गया है। और, आस्वाद की अखण्डता की इतनी प्रबल घोषणा भारतीय काव्य-शास्त्र के अतिरिक्त अन्यत्र कहाँ मिलेगी? उसने तो आस्वाद को अखण्ड, स्वप्रकाश, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य और अन्त में अनिर्वचनीयता के कारण ब्रह्मास्वादसहोदर कह दिया है। फिर भी यह कला की आलोचना तो नहीं है : कला की आलोचना सहजानुभूति अथवा आस्वाद रूप न होकर धारणा रूप ही होती है। स्पष्ट शब्दों में (सहृदय द्वारा) कला की सहजानुभूति तो कला का आस्वाद है, कला की आलोचना इस सहजानुभूति की धारणा (विवेचना) का ही नाम है। अपने अखण्ड रूप में सहजानुभूति अविवेच्य है–अनिर्वचनीय है, धारणाओं में खण्डित होकर ही वह विवेच्य हो सकती है; यही उसकी आलोचना है। शुक्लजी की विवेक-परिपुष्ट आलोचना दृष्टि ने क्रोचे को यहीं पकड़ लिया है : "रस-अलंकार आदि के नाना भेद-निरूपण क्रोचे के अनुसार कला के निरूपण में योग न देकर तर्क या शास्त्र पक्ष में सहायक होते हैं। उन सबका मूल्य केवल वैज्ञानिक समीक्षा में है, कला-निरूपिणी समीक्षा में नहीं। इस संबंध में मेरा वक्तव्य यह है कि वैज्ञानिक या विचारात्मक समीक्षा ही कला-निरूपिणी समीक्षा है। उसी का नाम समीक्षा है।" (चिन्तामणि, भाग-२, पृ० १९१)

---

१. इन्ट्यूशन।
२. कन्सैप्ट।

अध्याय ६

रीति-सिद्धान्त*

(क) रीति की परिभाषा और स्वरूप

लेखक अपनी रुचि तथा स्वभाव के अनुसार अपने हृदय के भावों को एक विचित्र प्रकार से प्रकट किया करता है। कोई लेखक साधारण अर्थ के प्रतिपादन के लिए असाधारण शब्दों का प्रयोग किया करता है, तो अन्य लेखक विशिष्ट अर्थों को प्रकट करने के लिए सामान्य शब्दों का व्यवहार करता है। अपने मनोगत भावों की अभिव्यक्ति करने के लिए विभिन्न लेखक नवीन तथा विशिष्ट मार्गों का अवलम्बन किया करते हैं। कई बार अर्थ तो एक ही होता है, परन्तु उसके द्योतक शब्द तथा वाक्य का विन्यास भिन्न-भिन्न कवियों तथा लेखकों के हाथ में भिन्न-भिन्न हो जाता है। इसी विशिष्ट लिखने के ढंग को 'शैली' या 'रीति' के नाम से पुकारते हैं। प्रत्येक लेखक की अपनी खास शैली होती है, जिसमें वह लिखा करता है, चाहे वह थोड़ा लिखे या बहुत लिखे। इसीलिए जितने कवि हैं, उतनी रीतियां हैं। जितने लेखक हैं, उतनी शैलियां हैं। संस्कृत के आचार्य दण्डी का यह कथन नितांत सत्य है कि रीतियां अनन्त हैं, और उनका परम्परा भेद भी बहुत ही सूक्ष्म होता है। ऊख, दूध, गुड़, चीनी तथा मिश्री का मिठास सामान्य रीति से एक ही प्रकार का मालूम पड़ता है, परन्तु विवेकी पुरुष बतला सकता है कि यह मिठास वस्तुतः अलग-अलग है। दूध में मिश्री के मिठास का प्रेमी उसमें चीनी डालकर उसे विकृत बनाना नहीं चाहता। इनके मिठास के पार्थक्य को ठीक-ठीक बतलाना टेढ़ी खीर है। रीतियों की भी यही विशिष्टता है। लेखकों की रीतियों का अन्तर इतना सूक्ष्म तथा बारीक होता है कि उसे ठीक-ठीक निरूपण करना बहुत दुर्लभ व्यापार होता है। तथापि इन सूक्ष्म भेदों पर ध्यान देकर रीति के रूप तथा प्रकार का एक सामान्य विवेचन यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

पदों की विशिष्ट रचना या संघटन का नाम रीति है। रीति की उपमा मानव-शरीर में अंगों के संगठन के साथ दी जाती है। मनुष्य के शरीर में अंगों का परस्पर अनुकूल संघटन है अर्थात् सब अंग अपने-अपने स्थानों पर रहने से ही शरीर को एक बनाए रहते हैं। यदि वे अपने स्थान से च्युत हो जायँ, तो यह शरीर नितान्त कुरूप मालूम पड़ेगा। आँखें मुखमण्डल में ही रहकर शोभा पाती हैं अगर उन्हें वहां से हटाकर कहीं अन्यत्र रखा जायेगा, तो शरीर को बहुत ही बेढंगा बना देंगी। पदों के संघटन की भी यही दशा होती है। पदों को अपने-अपने स्थानों पर रखने से ही कविता या निबन्ध में चमत्कार

---

* पं० बलदेव उपाध्याय।

आता है तथा एक विशिष्ट आनन्द उत्पन्न होता है। एक विशेष बात इस लक्षण में ध्यान देने की है। रीति पदों की विशिष्ट रचना होती है, केवल रचना नहीं। वह पदों की 'संघटना' होती है, केवल घटना नहीं। विचारणीय विषय है कि यह विशिष्टता क्या है? इस संघटना का सम्यक् रूप क्या है? जिसके उपस्थित होने से रीति का उदय होता है। विशिष्टता से तात्पर्य है—गुणों की सत्ता अर्थात् पदों की रचना में गुणों का निवास। इस प्रकार 'रीति' का लक्षण है पदों की वह रचना जिसमें काव्य-गुणों की स्थिति अवश्यमेव विद्यमान हो।

(ख) रीति के भेद

रीतियां मुख्यतया तीन प्रकार की होती हैं—(१) 'वैदर्भी' (२) 'गौड़ी' (३) 'पांचाली। चित्त की मुख्यतया तीन दशाएँ होती हैं। पहली दशा का निदर्शन वह चित्त है जो किसी कोमल या करुणापूर्ण वाक्य को सुनकर एकदम पिघल उठता है। वह पहले कितना भी कठोर क्यों न हो, करुण वाक्य सुनते ही वह नितान्त कोमल हो जाता है; ठीक मोम के समान। ऐसी दशा में माधुर्य गुण का उदय होता है और इसके ऊपर आश्रित होने वाली रीति 'वैदर्भी' कहलाती है। चित्त की एक दूसरी दशा का नाम है दीप्ति—जिसमें चित्त संकोचभाव को छोड़कर एकदम विस्तृत हो जाता है अर्थात् फैल जाता है। ठीक फूल की पंखुड़ियों के समान। ऐसी दशा में ओज का प्रादुर्भाव होता है और इस गुण पर आश्रित होने वाली रीति 'गौड़ी' के नाम से विख्यात होती है। चित्त की एक तीसरी दशा भी होती है, जिसे हम प्रसाद या प्रसन्नता के नाम से अभिहित कर सकते हैं। इस अवस्था में चित्त पूर्वोल्लिखित दोनों अवस्थाओं के बीच में विद्यमान रहता है। न तो वह पिघलकर गलितप्राय हो जाता है और न वह दीप्ति बनकर एकदम विस्तृत बन जाता है। वह नितान्त सरल तथा प्रसन्न रहता है क्योंकि उसमें किसी प्रकार का कालुष्य या मल नहीं रहता, ठीक निर्मल जल के समान। इसी दशा में प्रसादगुण का उदय होता है, जो आधार रूप से ऊपर की दोनों अवस्थाओं में भी विद्यमान रहता है। 'पांचाली' रीति वैदर्भी तथा गौड़ी की मध्यवर्तिनी शैली है जिसमें सुकुमार वर्णों का प्राचुर्य रहता है।

'प्रसाद' गुण सब संघटनाओं का एक सामान्य गुण माना जाता है अर्थात् सब संघटनाओं में प्रसाद गुण का रहना अनिवार्य माना जाता है। लिखने का यही अभिप्राय होता है कि लेखक अपने भावों को श्रोताओं के हृदय तक ठीक-ठीक पहुंचा दे और इसके लिए उसे ऐसे विशद शब्दों का प्रयोग करना चाहिए कि सुनने वाला व्यक्ति बिना किसी संदेह के उसकी बातों को ठीक ढंग से समझ ले। इसी में किसी रचना की सफलता होती है। यदि वाक्य सुनने के बाद श्रोता वक्ता के भाव को उसी क्षण नहीं समझ लेता, प्रत्युत इधर-उधर दोलायित चित्त रहता है, तो समझना चाहिए कि उसके कथन का ढंग बिलकुल अव्यवस्थित है। इसी लिए संस्कृत के आचार्यों ने 'प्रसाद' गुण को रीति का एक सामान्य गुण माना है जिसका पूर्ण निर्वाह करना प्रत्येक लेखक का

कर्त्तव्य होता है।

रीति के कतिपय 'नियामक तत्वों' का भी गूढ़ विवेचन संस्कृत के अलंकार-ग्रन्थों में मिलता है। वक्ता, वाच्य, विषय तथा रस का औचित्य रीति के चुनाव में नियामक माना जाता है। कवि के स्वभाव के ऊपर रीति आश्रित है। इसलिए सौम्य वक्ता वैदर्भी का, परन्तु उद्धत वक्ता गौड़ी रीति का आश्रय लेकर ही अपने विचारों को प्रकट करता है। वाच्य अर्थात् वर्णनीय वस्तु के अनुसार भी रीति का निर्णय किया जाता है। आनन्दकंद श्रीकृष्ण चन्द्र का वर्णन वैदर्भी में फबता है, परन्तु भयंकर प्राणियों के अंग तथा क्रीड़ा का वर्णन गौड़ी रीति में ठीक उतरता है। इसी प्रकार काव्य के रूप तथा रस भी रीति के चुनाव के लिए आवश्यक साधन माने जाते हैं।

संस्कृत के कवियों में महाकवि कालिदास तथा श्रीहर्ष वैदर्भी रीति के मान्य कवि हैं तथा भवभूति और वेणीसंहार के रचयिता भट्टनारायण गौड़ी रीति के लोकप्रिय कवि हैं। हिन्दी में बिहारी तथा मतिराम वैदर्भी रीति के और भूषण तथा चन्द्र बरदाई गौड़ी रीति के प्रख्यात कवि हैं। रीतियों के एक-दो दृष्टान्त इनके स्वरूप को जानने के लिए पर्याप्त होंगे। बिहारी का यह दोहा वैदर्भी रीति का उदाहरण माना जा सकता है—

रुनित भृंग घंटावली झरत दान मधुनीर।
मंद मंद आवत चल्यौ कुंजर कुंज समीर॥

इस दोहे में माधुर्य गुण का प्रयोग बड़ी रुचिरता के साथ किया गया है, फलतः यह वैदर्भी का सुन्दर उदाहरण है।

गौड़ी रीति के दृष्टांत के लिए महाकवि भूषण का यह कवित्त परिचय दे सकता है—

बद्दल न होंहि दल दच्छिन घमंड माँहि,
घटा हूँ न होंहि दल शिवाजी हँकारी के।
दामिनी दमंक नांहि खुले खग बीरन के,
बीर सिर छाप लखु तीजा असवारी के।
देखि देखि मुगलों की हरमैं भवन त्यागैं,
उझकि उझकि उठैं बहत बयारी के।
दिल्ली मति भूलो कहें बात घनघोर घोर,
बाजत नगारे ये सितारे गढ़धारी के॥

महाकवि मतिराम का यह दोहा प्रसाद गुण का सुचारू परिचायक है। इसके सुनते ही दोहे का अर्थ स्पष्ट ही समझ में आ जाता है। इसलिए यहाँ रीति 'पांचाली' है।

करौ कोटि अपराध तुम, वाके हिये न रोष।
नाह सनेह समुद्र में, बूड़ि जात सब दोष॥

—सतसई

(ग) काव्य गुण

लोक में किसी व्यक्ति को हम अत्यंत तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं। उसका नाम सुनते ही हमारी भौंहें तन जाती हैं और घृणा की भावना जाग पड़ती है। परन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिन्हें हम अत्यन्त सत्कार की दृष्टि से देखते हैं और जिनका नाम सुनते ही हमारा हृदय उनके प्रति आदर तथा सम्मान की भावना से भर जाता है। इस तिरस्कार और सत्कार की भावना के उदय का कारण क्या है? पहले में दोषों की सत्ता तथा दूसरे में गुणों का सद्भाव। शारीरिक दोषों के कारण कोई व्यक्ति उतना ही हेय हो जाता है जितना मानसिक दोषों के कारण। उसी प्रकार शूरता, वीरता, सत्यवादिता आदि गुणों के कारण कोई भी व्यक्ति समाजमें आदर पाता है।

काव्य-जगत् की दशा भी ठीक ऐसी ही है। दोषों के कारण यदि काव्य हेय तथा निन्दनीय माना जाता है, तो वही माधुर्य या श्रवण-पेशलता के कारण प्रशंसनीय होता है तथा श्रोताओं के हृदय को आकृष्ट करता है। महाकवि मतिराम का यह शारदा की स्तुति में लिखा गया दोहा

अंग ललित सित रंग पट, अंगराग अवतंस।
हंसवाहिनी कीजियै, वाहन मेरौ हंस॥

श्रोताओं के हृदय को बलात् अपनी ओर क्यों खींचता है। क्या कारण है कि इस छोटे-से पद्य में श्रवण के साथ-ही-साथ चित्त को चमत्कृत करने की अद्भुत कला विद्यमान है? इन प्रश्नों का एक ही उत्तर है—गुणों के सद्भाव के कारण, माधुर्य की सत्ता के कारण।

गुण का लक्षण

शौर्य आदि गुणों का सम्बन्ध मनुष्य के शरीर के साथ नहीं रहता, प्रत्युत आत्मा के ही साथ होता है। शरीर से दुबले-पतले आदमी को भी हम अत्यन्त वीरता वाले काम करते इसीलिए पाते हैं कि उसके भीतर शूरता भरी रहती है अर्थात् उस मनुष्य की आत्मा शूर होती है। काव्य में भी ठीक यही दशा होती है। कहा गया हैं कि शब्द तथा अर्थ तो काव्य के शरीर होते हैं तथा रस ही आत्मा के स्थान पर होता है अर्थात् रस ही काव्य में मुख्य होता है और गुण मुख्य रस के ही धर्म होते हैं। उसी से उसका साक्षात् सम्बन्ध होता है।

गुण इस प्रकार काव्य की शोभा बढ़ाने वाले अन्तरंग धर्म होते हैं। अलंकार का स्वभाव इससे भिन्न होता है। वह शब्द तथा अर्थ के साथ सम्बन्ध रखता है और इसलिए वह काव्य की शोभा बढ़ाने वाला बाहरी धर्म होता है। इतना ही नहीं, दोनों में एक विशेष अन्तर यह भी होता है कि गुणों की स्थिति काव्य में सदा सर्वदा रहती है। ऐसा कोई काव्य नहीं होता जिसमें गुण कहीं-न-कहीं विद्यमान न हों। निर्गुण काव्य की कल्पना असम्भव है। परन्तु अलंकार के लिए यह अचल स्थिति नहीं होती।

वह काव्य में साधारणतया रहता है, परन्तु उसके अभाव में भी काव्य का स्वरूप बना रहता है। यदि उसकी शोभा के आधायक अन्य तत्त्व, जैसे रस आदि, वर्तमान हों। गुण रस का सदा पोषक होता है, परन्तु अलंकार ऐसा नहीं होता। यदि रस वर्तमान रहता है, तो अलंकार शब्द या अर्थ के द्वारा उसका उपकार करता है। परन्तु यह दशा सदा नहीं रहती। अलंकार वर्तमान होकर भी कभी-कभी रस का तनिक भी उपकार नहीं करता, प्रत्युत कभी-कभी तो ठीक रस की विरोधी बातों को पुष्ट करता है। इस प्रकार गुण तथा अलंकार में गहरा अन्तर है—मौलिक भेद है। थोड़े में हम कह सकते हैं कि काव्य में सदा विद्यमान रहने वाले (अचल स्थिति वाले) तथा शोभा के उत्कर्ष को बढ़ाने वाले, रस के धर्म को गुण कहते हैं।

गुण के भेद

गुणों की संख्या के विषय में संस्कृत के आचार्यों में गहरा मतभेद है। आद्य आचार्य भरत मुनि ने गुणों की संख्या 'दस' मानी है और उनके नाम हैं—(१) श्लेष, (२) प्रसाद, (३) समता, (४) समाधि, (५) माधुर्य, (६) ओज, (७) सुकुमारता, (८) अर्थव्यक्ति, (९) उदारता, (१०) कान्ति। दण्डी ने भी गुणों की संख्या तथा अभिधान तो यही माना, परन्तु उनके स्वरूप के विषय में काफ़ी भिन्नता है। वामन ने इन गुणों को द्विगुणित कर दिया। शब्द तथा अर्थ से सम्बद्ध होने के कारण इनके स्वरूप में वे विशेष अन्तर मानते हैं। भोजराज के हाथों इनकी संख्या में और भी वृद्धि हो जाती है, परन्तु इन सब गुणों का समावेश तीन ही गुणों के भीतर किया जाता है और इन गुणों के नाम हैं—(१) 'माधुर्य', (२) 'ओज' तथा (३) 'प्रसाद'।

लोक-व्यवहार को ध्यान में रखने से इन गुणों का स्वरूप भली भाँति ध्यान में आ सकता है। मान लीजिए हम किसी से प्रेमपूर्ण बातें कर रहे हैं, उस समय हम कठोर शब्दों का व्यवहार नहीं करते, बल्कि 'मीठी-मीठी' बातें करते हैं। यदि हम किसी पर क्रुद्ध होकर बातें करते हैं, तो उस समय हम मीठी बातोंका व्यवहार न कर, 'कड़े शब्दों' का व्यवहार करेंगे। इसी प्रकार बिना प्रयत्न किये हम किसी से बातचीत करते हैं तो उस समय हम 'सीधे-सादे' शब्दों का व्यवहार करते हैं। लेख लिखते समय या व्याख्यान देते समय हम विशिष्ट उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रयत्नपूर्वक शब्दों का प्रयोग करते हैं, परन्तु बातचीत करते समय किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करते। हमारा ध्यान इसी बात की ओर रहता है कि हमारी बातों को दूसरा व्यक्ति आसानी के साथ समझता जाता है या नहीं। यह हमारा प्रतिदिन का अनुभव है। इसी अनुभव का उपयोग हम काव्य-गुणों के रूप को समझने के लिए भी भली भाँति कर सकते हैं।

गुणों का प्रयोग रसों को ध्यान में रखकर किया जाता है। जितने कोमल भाव वाले रस हैं जैसे शृंगार, शान्त, विप्रलम्भ आदि, इनकी कोमलता की रक्षा हम 'मधुर' शब्दों के प्रयोग द्वारा कर सकते हैं। इसी प्रकार उग्र भाव वाले रस जैसे वीर, रौद्र, वीभत्स आदि, रसों की उग्रता का ठीक-ठीक प्रदर्शन तभी हम कर सकते हैं जब हम 'कठोर' शब्दों का प्रयोग करते हैं। तीसरी बात ध्यान देने की यह है कि कविता के द्वारा

कवि अपने हृदय के भावों को दूसरों पर प्रकट करता है। यही उसका वास्तविक उद्देश्य है और इसलिए आवश्यक है कि कविता में न तो अप्रचलित शब्दों का प्रयोग हो और न क्लिष्ट शब्दों का, क्योंकि ऐसा करने से कवि अपने हृदय की बात दूसरों तक भली भाँति जल्दी-से-जल्दी नहीं पहुँचा सकता। उस कविता से संसार को लाभ ही क्या है जिसे 'खुद समझें या खुदा समझे'। इसलिए कविता में सीधे-सादे, शीघ्र समझ में आने वाले, बहुप्रचलित शब्दों के प्रयोग की आवश्यकता होती है। कविता केवल रोचक ही नहीं बनती, प्रत्युत श्रोताओं के हृदय को उसी प्रकार व्याप्त कर लेती है जिस प्रकार सूखे काठ में लगी हुई आग पूरे काठ को क्षण भर में पकड़ लेती है। भाव के प्रसार के लिए तथा उसे ठीक-ठीक समझने के लिए 'प्रसादमयी' वाणी का प्रयोग नितांत आवश्यक होता है। बोलचाल के इस प्रसिद्ध प्रकार पर ध्यान देने से स्पष्ट होगा कि गुण मुख्यतया तीन प्रकार के हो सकते हैं और उनका विधान भी तत्तत् स्थलों पर किया जाना चाहिए।

माधुर्य गुण

गुणों का नियमन अक्षरों, समास तथा घटना के द्वारा होता है। माधुर्य गुण में ट, ठ, ड और ढ से रहित ककार से लेकर मकार तक वर्ण अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण के साथ इस प्रकार संयुक्त रहते हैं कि पंचम वर्ण पहले आता है और स्पर्श वर्ण पीछे। रेफ तथा लकार ह्रस्व स्वर से युक्त होते हैं। समास का सर्वथा अभाव होता है या छोटा समास होता है। रचना मधुर होती है। इस गुण में चित्त एकदम पिघला-सा बन जाता है। करुण, विप्रलम्भ तथा शान्तरस में माधुर्य क्रम से अधिक-से-अधिक प्रभावशाली होता है। देव कवि की यह सुन्दर घनाक्षरी माधुर्य गुण का रोचक दृष्टांत प्रस्तुत करती है—

मंद मंद चढि चल्यौ चैत निसि चंद चारु।
मंद मंद चाँदनी पसारत लतन तें॥
मंद मंद जमुना-तरंगिनि हिलोरैं लेति।
मंद मंद मोद मंजु मल्लिका सुमन तें।
देव कवि मंद मंद सीतल सुगन्ध पौन।
देखि छबि छीजत मनोज छन-छन तें॥
मंद मंद मुरली बजावत अधर धरे।
मंद मंद निकस्यौ मुकुंद मधुवन तें॥

ओज गुण

वर्ग के प्रथम वर्ण का तृतीय से और द्वितीय का चतुर्थ से योग (जैसे प्रच्छ, बद्ध आदि); रेफ के साथ किसी वर्ण का योग, किसी वर्ण का उसी वर्ण के साथ योग (जैसे वित्त, चित्त आदि) तथा ट, ठ, ड, ढ, श तथा ष का प्रयोग दीर्घ समास तथा विकट रचना ओज गुण के अभिव्यंजक होते हैं। भूषण कवि के कवित्त तथा भवभूति के पद्य इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। ओज गुण चित्त के विस्तार का जनक होता है। वह वीर, बीभत्स तथा रौद्र रसों में क्रमशः अधिकता से विद्यमान रहता है।

महाकवि भूषण का यह युद्ध का वर्णन करने वाला छप्पय ओजगुण से पूर्णतया मण्डित है—

मुंड कटत कहुँ रुंड नटत कहुँ सुंड पटत घन।
गिद्ध लसत कहुँ सिद्ध हँसत सुख वृद्धि रसत मन।।
भूत फिरत करि बृत्त भिरत सुरदूत घिरत तहँ।
चंडि नचत गन मंडि रचत धुनि डंड़ि मचत जहँ।।
इमि ठानि घोर घमसान अति भूषन तेज कियो अटल।
सिवराज साहि-सुव खग्ग बल दलि अडोल बहलोल दल।।

प्रसाद गुण

जब काव्य में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाय, जो सुनते ही श्रोता के चित्त पर चढ़ जाय तथा समझ में आ जाय, तब वहाँ 'प्रसादगुण' की स्थिति होती है। इसकी स्थिति सब रसों में तथा सब रचनाओं में होती है। माधुर्य तथा ओज के समान यह किसी रस-विशेष के साथ सम्बद्ध नहीं रहता, प्रत्युत सब रसों तथा सब रचनाओं का साधारण धर्म होने वाला गुण है। इनका मुख्य रूप से सम्बन्ध रस के ही साथ होता है जो काव्य की आत्मा होती है। गौण रीति से इनका सम्बन्ध शब्द तथा अर्थ के साथ भी माना जाता है।

मतिराम का यह सवैया, जो मानवती नायिका के स्वरूप का वर्णन करता है, प्रसादगुण का सुन्दर दृष्टान्त है—

सो मनमोहन होत लट्ट मुख, जाके भट्ट विधु की छवि छाजै,
खोल कै नैनन देखै जो नेक तो, स्याम-सरोज पराजय साजै।
जो बिहसैं मुख सुन्दर तो 'मतिराम' बिहान कों बारिज लाजै,
बोले अली मृदु मंजुल बोल तो, कोकिल-बोलनि को मद भाजै।।

इस सवैया को पढ़ते ही मानवती का रूप नेत्रों के सामने अनायास खड़ा हो जाता है। इस पद्य के समझने में पाठकों को किसी प्रकार बुद्धि को कष्ट देने की ज़रूरत नहीं होती। अतः यह प्रसादगुण से सर्वथा पूर्ण है।

(घ) रीति और कवि स्वभाव

संस्कृत के आलोचकों ने रीति के विषय में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात कही है। उनका कहना है कि रीति, लेखक तथा कवि के स्वभाव से साक्षात् सम्बन्ध रखती है।

मनुष्य के चरित्र में उसका स्वभाव ही सबसे श्रेष्ठ पदार्थ है जो उसके मस्तक पर रहता है तथा लोगों को सदा आकृष्ट किया करता है। मनुष्य के आदर-सत्कार, मान तथा अपमान पाने में उसका स्वभाव ही विशेषतः कारण हुआ करता है। सौम्य स्वभाव का मनुष्य जहाँ समाज में आदर पाता है, वहीं उग्र स्वभाववाला व्यक्ति तिरस्कार तथा अपमान का भाजन बनता है। ऐसी स्थिति होने पर कविस्वभाव को रीति के निर्वाचन में भी कारण मानना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। इसलिए कुन्तक

नामक आचार्य की सम्मति में काव्य की रचना पर, उसके विशिष्ट प्रकार ग्रहण करने के ऊपर, शैली के निर्धारण पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है— लेखक के स्वभाव का, न तो उसके काल का और न उसके देश का।

स्वभाव अनन्त होने पर भी मोटे तौर से तीन प्रकार का होता है—(१) सुकुमार,(२) विचित्र तथा (३) मध्यम। हिन्दी कवियों का यह स्वभाव होता है कि वे किसी वस्तु का वर्णन स्वाभाविक ढंग से करते हैं, वे स्वाभाविक सौन्दर्य के उपासक होते हैं। बनावटी बातों से कोसों दूर रहते हैं और काव्य में रस तथा भाव के ऊपर ही उनकी दृष्टि गड़ी रहती है। ऐसे कवि सुकुमार स्वभाव के माने जाते हैं, जैसे संस्कृत में वाल्मीकि और कालिदास तथा हिन्दी में सूरदास तथा तुलसीदास। ऐसे कवियों की रीति सुकुमार मार्ग की कहलाती है जिसमें सरस तथा कोमल शब्दों के द्वारा हृदय के गूढ़ भावों का स्वाभाविक ढंग से वर्णन होता है। विचित्र स्वभाव वाले व्यक्ति सजावट के विशेष प्रेमी होते हैं। उनका चित्त वस्तुओं को नाना प्रकार के अलंकारों के द्वारा सजाने, सुन्दर बनाने तथा उन्हें भड़कीला बनाने की ओर विशेष रूप से लगता है। फलतः ऐसे व्यक्तियों के द्वारा निबद्ध रचनाओं को हम विचित्र मार्ग के नाम से पुकार सकते हैं। नाना रंग-बिरंगे रत्नों से जड़ित गहने हृदय के ऊपर जो प्रभाव डालते हैं अथवा कारचोबी के कामवाली जरी की साड़ी जिस प्रकार चमत्कार या चकाचौंध हृदय पर पैदा करती है वैसा ही प्रभाव यह अलंकारों से पूर्ण तथा अलंकरणों से मण्डित कविता हमारे हृदय पर डालती है। विचित्र मार्ग की कविता में कलापक्ष की ही विशेष उपासना दृष्टिगोचर होती है। ये दोनों मार्ग एक दूसरे के विरोधी तथा भिन्न-भिन्न छोरों पर विद्यमान माने जा सकते हैं। इन दोनों के बीच में भी एक मार्ग मध्यम मार्ग है, जिसकी उपासना सौम्य स्वभाववाले लेखक किया करते हैं। इस मार्ग में न तो रस भाव की ही विशेष उपासना होती है और न अलंकारों द्वारा अधिक सजावट पर ही लेखक का रुझान रहता है। बल्कि इन दोनों को संतुलित कर लेखक अपने काव्य में रखता है अर्थात् इसमें दोनों पूर्व मार्गों के गुण तथा काव्य-सम्पत्ति स्पर्धा से एक-दूसरे के साथ आकर उपस्थित होती है। इस प्रकार सुकुमारमार्ग वैदर्भी रीति का, विचित्र मार्ग गौड़ी रीति का तथा मध्यम मार्ग पांचाली रीति के ही नामान्तर है।

इस प्रकार रीति को कविस्वभाव के ऊपर आश्रित मानकर संस्कृत आलोचना ने कविता के मनोवैज्ञानिक अध्ययन का मार्ग प्राचीन युग में ही प्रशस्त बनाया था, जिसकी विशिष्टता पश्चिमी आलोचक अभी मानने के लिए उद्यत हुआ है।

(ङ) वृत्ति और प्रवृत्ति

'वृत्ति' से हमारा तात्पर्य अभिधा आदिक शब्दव्यापारों से नहीं है, प्रत्युत सात्त्वती आदिक नाटक में दृश्यमान वृत्तियों से है। नाटक में 'वृत्ति' का बहुत ही बड़ा महत्त्व होता है। और इसीलिए वृत्तियाँ नाटक की माताएँ कही जाती हैं; (**वृत्तियो नाट्यमातरः**)।

'वृत्ति' का स्वरूप क्या है तथा नाटक में उसका महत्त्व क्या है ? इन प्रश्नों का उत्तर देना नितान्त आवश्यक है। 'वृत्ति' शब्द की व्युत्पत्ति वृत् धातु से ति (क्तिन) प्रत्यय के योग से होती है। वर्तन का अर्थ होता है जीवन और वृत्ति उस जीवन को सहायता पहुंचाने वाली जीविका है। इसलिए 'वृत्ति' का अर्थ हुआ पुरुषार्थ का साधक व्यापार, अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति में सहायता देने वाला व्यापार। वृत्ति का क्षेत्र तो नितान्त विस्तृत है और समस्त जगत् को व्याप्त करता है। काव्य तथा नाटक भी वृत्ति के क्षेत्र के भीतर हैं; यह कथन पुनरुक्तिमात्र है। आचार्य अभिनवगुप्त ने एक छोटे वाक्य में वृत्ति के स्वरूप का विशद परिचय दिया है—

काय वाङ्मनसां चेष्टा एव सह वैचित्र्येण वृत्तय:।

इसका अभिप्राय है कि नाटक के पात्र अथवा काव्य के नायक के शरीर, वचन तथा मन की विचित्रता से युक्त चेष्टाएँ ही 'वृत्तियां' कहलाती हैं। भोजराज के अनुसार चित्त के विकास, विक्षेप, संकोच तथा विस्तार की दशा में पात्रों के जो व्यवहार, व्यापार या वर्तन हुआ करते हैं, उन्हीं का एक सामान्य नाम है—वृत्ति। अवस्थाओं का प्रभाव शरीर तथा मन दोनों पर पड़ता है, सूक्ष्म होने से मन पर प्रभाव पहले पड़ता है और उसकी अभिव्यक्ति आगे चलकर शरीर के ऊपर भी होती है। यदि कोई हट्टा-कट्टा आदमी एक गरीब आदमी के ऊपर अनायास लाठी का प्रहार करता है, तो दर्शक के हृदय में क्रोध का उदय होना स्वाभाविक है। चित्त के क्रोधावेश में आते ही शरीर की विचित्र दशा होती है, भौंहें तन जाती हैं, मुखमण्डल तमतमा उठता है; अधरपुट फड़कने लगते हैं और आँखों में लहू दौड़ जाता है। ऐसे उद्दीप्त वातावरण में ऐसा दर्शक जो कुछ व्यापार करता है जिसमें उसके मन तथा शरीर की अवस्थाओं का पूरा प्रभाव पड़ता है 'वृत्ति' कहलाएगा।

नायक की प्रवृत्ति नाटक में तो एक प्रकार की नहीं होती। वह रस तथा अवस्था के अनुरूप बदलती रहती है। किसी नाटक का नायक—जैसे रत्नावली का उदयन—शृंगारिक चेष्टाओं में संलग्न दीखता है; वह अपनी प्रेयसी सागरिका से मिलने के लिए नाना प्रकार की चेष्टाएँ करता है; तो दूसरे नाटक का नायक—जैसे वेणी-संहार में भीमसेन—युद्ध के कार्यों में लगा रहता है। वह संग्राम में पहुँचकर कभी अस्त्र-शस्त्रों से अपने बैरियों को मौत के घाट पहुँचाता है, तो कभी वह क्रोध के आवेश में अपने शत्रुओं पर भीषण आक्रमण करता है। इससे स्पष्ट है कि नायक के स्वभाव के ऊपर आश्रित होने वाली वृत्तियाँ अवस्था के भेद से तथा रस की भिन्नता के कारण नाना प्रकार की होती हैं। वृत्तियाँ मुख्यतया चार प्रकार की होती हैं—(१) भारती, (२) सात्त्वती, (३) कैशिकी तथा (४) आरभटी। इनमें से भारती 'शब्द-प्रधान' होने से 'शब्दवृत्ति' तथा इतर तीन अर्थप्रधान' होने से 'अर्थवृत्ति' के नाम से प्रख्यात हैं।

वृत्तियों के चार भेद

विचार करने पर हम यही कह सकते हैं कि नाट्य में चार वृत्तियाँ ही हो सकती हैं। नाट्य है क्या ? वचन तथा चेष्टा का सम्मिलन। रंगमंच के ऊपर उपस्थित होकर

नट वचनों के द्वारा अपने मनोगत अभिप्राय का प्रकाशन करता है तथा नाना प्रकार की चेष्टाएँ दिखलाकर अपने भावप्रकाशन को स्पष्ट तथा पुष्ट करता है। वचन से सम्बन्ध रखने वाली वृत्ति को 'भारती' कहते हैं। भारती का एक अर्थ होता है—सरस्वती। अत: वाग्-चेष्टा पर आश्रित वृत्ति का नाम भारती उचित ही है। चेष्टा भी दो प्रकार की होती है—सात्त्विक अभिनय तथा आंगिक अभिनय। एक चेष्टा होगी मन की तथा दूसरी होगी अंगों की। सात्त्विक अभिनय नट के हृदयगत भावों की पर्याप्तिरूपेण अभिव्यक्ति करता है। यह अभिनय सूक्ष्म तथा गूढ़ भावों के प्रकाशन में समर्थ होता है। यह हुई सात्त्वती वृत्ति। इसके अतिरिक्त नट अपने अंगों के संचालन तथा चेष्टा से अपने अभिप्राय-प्रकाशन में सहायता लेता है—यह हुआ आंगिक अभिनय। अवस्था-विशेष में यह अभिनय भी मुख्यतया दो प्रकार का होना है। जब क्रोध, भय आदि उग्र भावों का प्रदर्शन अभीष्ट होता है, तब चेष्टा भी तद्नुरूप ही उग्र होती है। यह उग्र व्यापार या उग्र आंगिक अभिनय 'आरभटी' वृत्ति हुआ। इसके विपरीत सौम्य आंगिक अभिनय के द्वारा नट सौम्य भावों—जैसे प्रेमी, रति, हास्य आदि—को दिखलाता है। मृदु संभाषण, संगीत तथा नृत्य के द्वारा नाटकीय पात्र नाटक में सौकुमार्य का प्रदर्शन करता है। यह मृदुल आंगिक अभिनय होता है—'कैशिकी वृत्ति'। इस प्रकार चार वृत्तियां नाट्य तथा लोक के क्षेत्र को व्याप्त करती हैं। अभिनवगुप्त की शब्दावली में भारती वाक्चेष्टा, वाचिकाभिनय या पाठ्य है, सात्त्वती मनश्चेष्टा या सात्त्विकाभिनय है। 'कायचेष्टा' दो प्रकार की है—उग्र तथा सौम्य—आरभटी तथा कैशिकी। इस प्रकार वृत्ति-चतुष्टय की कल्पना सर्वथा न्याय्य तथा प्रामाणिक है।

वृत्ति और रस

नाटक में वृत्तियों की योजना का प्रधान अभिप्राय दर्शकों के हृदय में रस तथा भाव का संचार करना है। नाट्य का प्रधान लक्ष्य रस का आविर्भाव है। नाटक में अन्य जितने कार्य हैं वे सब आनुषंगिक हैं। प्रधान फल की ओर सफल कवि की दृष्टि सदैव जागरूक रहती है। रसोन्मेष रूपी फल यदि सिद्ध नहीं होता, तो चित्र-विचित्र सामग्रियों से सुसज्जित होने पर भी तथा अभिनय के आकर्षक होने पर भी वह नाटक दर्शकों के मन का न तो अनुरंजन कर सकता है और न अपने उद्देश्य की पूर्ति में ही सफलता लाभ कर सकता है। इसीलिए भरतमुनि ने वृत्तियों का सम्बन्ध विभिन्न रसों के साथ स्थापित कर दिया है।

कैशिकी वृत्ति का उपयोग शृंगार तथा हास्यरस के प्रसंग में किया जाता है। सात्त्वती का वीर, रौद्र तथा अद्भुत रसों में; आरभटी का भयानक, बीभत्स तथा रौद्र रसों में तथा भारती का करुण तथा अद्भुत रसों में प्रयोग किया जाता है। पिछले नाट्यकारों में भी वृत्ति के इस सामंजस्य को कुछ परिवर्तन के साथ ग्रहण किया है—

शृंगारे चैव हास्ये च, वृत्तिः स्याद् कैशिकीति सा।
सात्त्वती नाम सा ज्ञेया, वीररौद्राद्भुताश्रया॥
भयानके च बीभत्से, रौद्रे चारभटी भवेत्।

भारती चापि विज्ञेया, करुणाद्भुत-संश्रया ।।

—नाट्यशास्त्र २२/६५-६६

भारती वृत्ति

संस्कृतमयी तथा वाक्प्रधाना है। भरतमुनि के अनुसार जिस वृत्ति में संस्कृत वाणी की बहुलता हो, जो पुरुषों के द्वारा प्रयोग में लाई गई हो, जो स्त्रियों में सर्वथा वर्जित हो, उसे भरतों (नटों) के द्वारा सदा प्रयोज्य होने से भारती वृत्ति कहते हैं। इस वृत्ति के चार भेद होते हैं—(१) प्ररोचना, (२) आमुख, (३) वीथीऔर(४) प्रहसन।

सात्त्वती वृत्ति

इस वृत्ति का नामकरण सत्त्व-शब्द के योग से हुआ है। सत्त्वशाली पुरुषों के द्वारा प्रयोज्य होने के कारण यह वृत्ति 'सात्त्वती' नाम से अभिहित की जाती है। भरत मुनि के अनुसार इस वृत्ति में सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है। न्यायसम्पन्न वृत्त का विधान रहता है, हर्ष से यह उद्भट रहती है तथा इसमें शोक का सर्वथा अभाव रहता है। तात्पर्य यह है कि सच्चे बलशाली पुरुष की जो वीरभावात्मिका चेष्टाएँ होती हैं उन्हीं का अवलम्बन कर इस सात्त्वती वृत्ति की स्थिति रहती है।

कैशिकी वृत्ति

कैशिकी शब्द की व्युत्पत्ति 'केश' शब्द से स्पष्ट ही जान पड़ती है। इसीलिए भरतमुनि ने इस वृत्ति का सम्बन्ध भगवान् विष्णु के द्वारा केशपाश बाँधने से दिखलाया है। मधुकैटभ-युद्ध में भगवान् विष्णु ने इन दोनों असुरों से युद्ध करने के लिए जो अपना केशपाश बाँधा, उसी से कैशिकी वृत्ति आविर्भूत हुई। भरत ने इसका लक्षण दिखलाते हुए बतलाया है कि जो वृत्ति सुन्दर नेपथ्य के विधान से चित्रित हो, सुन्दर वेशभूषा से सुसज्जित हो, स्त्रियों से युक्त हो, जिसमें नाचने और गाने की बहुलता हो, उसे काम के उपभोग से उत्पन्न उपचारों से सम्पन्न होने से ही 'कैशिकी' नाम से पुकारा जाता है। इसके चार भेद हैं—नर्म, नर्मस्फूर्ज, नर्म-स्फोट तथा नर्म-गर्भ।

आरभटी वृत्ति

आरभटी वृत्ति की उत्पत्ति आरभट शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है साहसी तथा उद्धत पुरुष। इस नामकरण से ही इस वृत्ति के स्वरूप का निर्देश भली भाँति हो जाता है। इसकी परिभाषा के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र में लिखा है कि जिस वृत्ति में मायाजनित इन्द्रजाल का वर्णन हो, गिरने, कूदने उछलने तथा लाँघने आदि की विचित्र योजना हो, उसे आरभटी वृत्ति कहते हैं। इसके चार भेद होते हैं—संक्षिप्तक, अवघातक, वस्तु-स्थापन तथा संफेट।

प्रवृत्ति

आज भी भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में पात्रों की वेशभूषा तथा अभिनय-संगीत का प्रकार एक समान नहीं है। बंगालियों की देशभूषा एक विचित्रता लिये हुए है—वहाँ की स्त्रियों का केशपाश इतना रुचिर होता है कि भारतवर्ष में इतनी सुन्दरता तथा रुचिरता अन्य प्रान्तों की स्त्रियों के कचकलाप में शायद ही मिले। बंगालियों की ढीली धोती तो प्रसिद्ध ही है। मराठों की पगड़ी, रहन-सहन, दम्भ तथा स्वाभिमान भरे वचन स्वतंत्र रूप से अलग ही दीखते हैं। उधर द्रविड़ों का पहनावा तथा श्लोकों को गा-गाकर पढ़ना तथा अभिनय की विचित्रता दर्शक को आकृष्ट किये बिना नहीं रहती। इसलिए इन प्रान्तीय विशिष्टताओं से मंडित वहाँ के अभिनय में भी विचित्रता होती है। नाटक की इन्हीं शैलियों को 'प्रवृत्ति' के नाम से आचार्य लोग पुकारते हैं। इसका सर्वप्रथम उल्लेख भरत के नाट्यशास्त्र में विद्यमान है और इसी का अनुसरण राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में बहुशः किया है।

राजशेखर के अनुसार रीति, वृत्ति तथा प्रवृत्ति के रूप में पार्थक्य है। उनके लक्षण हैं—'**वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः। विलास-विन्यासक्रमो वृत्तिः। वचनविन्यास क्रमो रीतिः**' अर्थात् वेष के विन्यास का प्रकार प्रवृत्ति है; विकास का विन्यास वृत्ति है तथा वचनों का विन्यासक्रम रीति है। निष्कर्ष यह है कि राजशेखर के अनुसार रीति का सम्बन्ध वचनों की रचना से, वृत्ति का व्यापार से तथा प्रवृत्ति का वेषभूषा तथा बाहरी सजावट से है। संक्षेप में इन तीनों का पारस्परिक विभेद यहाँ सरलता से दिखलाया गया है। 'प्रवृत्ति' का अर्थ है नाना देशों की वेष-भूषा, भाषा, आचार, वार्ता आदि का ख्यापन करने वाला साधन। प्रवृत्ति की संख्या चार है—(१) आवन्ती, (२) दाक्षिणात्य, (३) पांचाली और (४) औड्रमागधी। भारतवर्ष को चार विभागों में विभक्त करने से ये चार भेद सम्पन्न होते हैं। भारतव र्ष के पश्चिम भाग में 'आवन्ती', विन्ध्यपर्वत से दक्षिण भारत में 'दाक्षिणात्या', पूर्वी भारत में 'औड्रमागधी' तथा मध्य और उत्तर भारत में 'पांचाली' प्रवृत्ति का क्षेत्र माना गया है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के चतुर्दश अध्याय में इन देशों तथा तत्सम्बद्ध प्रवृत्तियों का विशेष वर्णन किया है। परन्तु वह वर्णन इतना कम है कि इन प्रवृत्तियों का वैशिष्ट्य भली भाँति लक्षित नहीं होता। दाक्षिणात्यों के विषय में भरत का कथन है कि वे नृत्य, वाद्य तथा गीत के विशेष कर्त्ता होते हैं, कैशिकी वृत्ति का प्राधान्य होता है तथा उनका अंगाभिनय चतुर, मधुर तथा ललित होता है। दाक्षिणात्या प्रवृत्ति की यही विशेषता लक्षित होती है।

'आवन्तिका' प्रवृत्ति में सात्त्वती और कैशिकी वृत्तियों का प्राधान्य रहता है। 'औड्रमागधी' का क्षेत्र मगध तथा उड्रदेश (उड़ीसा) से सम्वद्ध भारत के पूर्वी प्रान्त हैं। 'पांचाली' में सात्त्वती तथा आरभटी की प्रधानता रहती है। वहाँ गीत अभिनय बहुत ही कम होता है तथा एक विशिष्ट प्रकार का प्रयोग होता है। काव्यमीमांसा के वर्णन से भी इन प्रवृत्तियों के स्वरूप का यत्किंचित् परिचय हमें प्राप्त होता है।

अध्याय ७

ध्वनि सिद्धान्त

(क) ध्वनि का स्वरूप *

ध्वनि की प्रेरणा : स्फोटवाद

ध्वनि-सिद्धांत के प्रतिष्ठापक को इसके प्रस्थापना की प्रेरणा व्याकरण के स्फोट-वाद [1] से प्राप्त हुई ।[2] प्राचीन वैयाकरणों के अनुसार किसी भी शब्द का सम्पूर्ण उच्चारण एक साथ सम्भव नहीं है। शब्द के विभिन्न वर्ण क्रमशः उच्चरित होते हुए नष्ट होते रहते हैं, किन्तु प्रत्येक वर्ण नष्ट होने से पूर्व बाद में उच्चरित होने वाले वर्ण को अपना संस्कार दे जाता है—शब्द के अन्तिम वर्ण तक यही क्रम चलता है। अन्तिम वर्ण का अनुभव पूर्ववर्ती वर्णों के अनुभव-प्रसूत संस्कार के आधार पर अर्थ की व्यंजना करता है। अन्तिम वर्ण की यह व्यंजना-प्रक्रिया ही स्फोट है।[3] वैयाकरणों के अनुसार स्फोट को प्रकट करने वाला वर्णोच्चारण ही ध्वनि है।[4]

जिस प्रकार शब्द के विभिन्न वर्ण अपनी पृथक् सत्ता में स्वतंत्र रूप से अर्थाभि-व्यक्ति में समर्थ नहीं होते, उसी प्रकार काव्य में वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ पूर्ण सौन्दर्य के उद्घाटन में समर्थ नहीं होता ; यह कार्य तो व्यंजनार्थ द्वारा ही सम्पादित होता है। व्यंग्यार्थ की प्राप्ति 'ध्वनि' द्वारा ही होती है। काव्य का सूक्ष्म व्यंग्यार्थ वस्तुतः घण्टे पर चोट होने से उत्पन्न स्थूल टंकार के अनन्तर सुनाई पड़ने वाली मधुर झंकार के

---

* डॉ० कृष्णबल।

१. स्फोट का व्युत्पत्त्यर्थ है—
स्फुटति अर्थो यस्मात् स स्फोटः।

२. प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यंजकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः।
—हिन्दी ध्वन्यालोक, (प्रथम संस्करण), प्रथम उद्योत, पृ० ७४।

३. पूर्वपूर्ववर्णानुभवाहितसंस्कारसचिवेन अन्त्यवर्णानुभवेन अभिव्यंज्यते स्फोटः।

४. ...स वर्ण व्यंजनद्वारा तमर्थं व्यंज्येत्स्फुटम्।
स ध्वनिः स्फोट इत्यत्र शाब्दिकः परिभाष्यते॥
—भावप्रकाश, पृ० १७८।

समान है ।[1]

ध्वनि का स्वरूप

'ध्वनि' का सामान्य अर्थ समझ लेने के उपरान्त उसके शास्त्रीय स्वरूप का व्याख्यान-विश्लेषण सहज होगा । ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आनन्दवर्द्धनाचार्य के अतिरिक्त आचार्य मम्मट एवं पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति ध्वनिवादियों ने ध्वनि-स्वरूप के सम्बन्ध में मूल्यवान् विचार प्रस्तुत किए हैं, ध्वन्यालोक-लोचनकार अभिनवगुप्त एवं कविराज विश्वनाथ का मत भी इस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण है। उनके मूल अभिमतों के प्रकाश में ध्वनि-स्वरूप का विश्लेषण समीचीन होगा । संक्षेप में ये मत इस प्रकार हैं—

आनन्दवर्द्धनाचार्य

१. बुधेः काव्यतत्त्वविद्भिः, काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः, परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यक् आसमन्ताद्, म्नातः, प्रकटितः, तस्य सहृदयजनमनः प्रकाशमानस्याप्यभावमन्ये जगदुः ।[2]

२. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥[3]

३. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यभिवांगनासु ॥[4]

४. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥[5]

अर्थात्—

(१) काव्य के जिस आत्मभूत तत्त्व को काव्य-मर्मज्ञों ने 'ध्वनि' अभिधान दिया, परम्परा से जिसको बारबार प्रकाशित किया तथा विशद रूप से अनेक बार जिसको प्रकट किया है, सहृदयों के मन में प्रकाशमान उस (चमत्कारप्राण काव्यात्मरूप ध्वनि) तत्त्व का भी कुछ लोग अभाव मानते हैं ।

(२) जहाँ पर अर्थ अथवा शब्द दोनों अपनी आत्मा और अपने अर्थ को उपसर्जन (गौण) बनाकर उस व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति करते हैं, वह काव्य-

---

१. **एवं घण्टानिह्रादिस्थानीयोऽनुरणनात्मोपलक्षितो व्यंग्योऽत्यर्थो ध्वनिरिति व्यवहृतः ।**
—ध्वन्यालोक-लोचन, व्या० डॉ० रामसागर त्रिपाठी, प्रथम उद्योत, पृ० २७० ।

२. **हिन्दी ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, कारिका, १३ ।**

३. **वही, कारिका, १ ।**

४. **वही, कारिका, ४ ।**

५. **वही, कारिका, ६ ।**

विशेष विद्वानों द्वारा 'ध्वनि' नाम से अभिहित किया जाता है।

(३) प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है जो रमणियों के प्रसिद्ध शरीरांगों से भिन्न उनके लावण्य के समान महाकवियों की वाणी में (वाच्यार्थ से पृथक् रूप में) प्रतिभासित होता है।

(४) उस आस्वाद में अर्थ तत्त्व को प्रभावित करने वाली महाकवियों की वाणी उनकी अलौकिक प्रतिभासित प्रतिभा के वैशिष्ट्य को प्रकट करती है।

अभिनवगुप्त

काव्यस्य तत्त्वभूतो योऽर्थस्तस्यभावना वाच्यातिरेकेणानवरतचर्वणा तत्र विमुखानाम्।[1]

अर्थात्—काव्य के तत्त्वभूत अर्थ की भावना अर्थात् वाच्य से भिन्न रूप में अनवरत चर्वणा से जो विमुख हैं (उन्हें काव्यानन्द की प्रतीति कभी नहीं हो सकती)।

मम्मट

इदमुत्तममतिशायिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।[2]

अर्थात्—वह काव्य 'उत्तम काव्य' होता है जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक सुन्दर अथवा चमत्कारजनक हुआ करता है और जिसे काव्यतत्त्वदर्शी विद्वान् 'ध्वनि' कहते हैं।

विश्वनाथ

वाच्यातिशायिनी व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्। वाच्यादधिकचमत्कारिणि व्यंग्यार्थे ध्वन्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्या ध्वनिर्नामोत्तम काव्यम्।[3]

अर्थात्—'ध्वनि' वह काव्य है जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्य रूप अर्थ अतिशय चमत्कारजनक प्रतीत होता है। यह काव्य ही 'उत्तम' काव्य है।

पण्डितराज जगन्नाथ

१. शब्दार्थौ यत्र गुणीभवितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यंक्तस्तदाद्यम्।[4]

२. काव्यजीवितं चमत्कारित्व...[5]

अर्थात्—

(१) जिसमें शब्द और अर्थ दोनों अपने को गौण बनाकर किसी (चमत्कारजनक अतएव प्रधान) अर्थ को अभिव्यक्त करें—व्यंजना वृत्ति द्वारा समझाएँ, (उसे उत्तमोत्तम काव्य कहते हैं)।

---

१. ध्वन्यालोक लोचन, प्रथम उद्योत, पृ० १७२।
२. काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, का० ४, सूत्र २।
३. हिन्दी साहित्यदर्पण, संस्करण सन् १९५७, व्या० डा० सत्यव्रतसिंह, चतुर्थ परिच्छेद, पृ० २७९।
४. रसगंगाधर : हिन्दी व्या० प० मदनमोहन झा, चौखम्बा सं० सी०, प्रथम आनन, पृ० ३३।
५. वही, पृ० २१।

(२) चमत्कार (पूर्ण व्यंग्यार्थ ही) काव्य की आत्मा है।

विश्लेषण

उपर्युक्त उद्धरणों के विश्लेषण के उपरान्त निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

(१) अर्थ द्वारा अपनी आत्मा तथा शब्द द्वारा अपने अभिधेय अर्थ को गौण बनाकर किसी (अन्य) व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति करना ही 'ध्वनि' है। दूसरे शब्दों में, 'गौण' वाच्यार्थ की अपेक्षा 'प्रधान' व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति का नाम ध्वनि है। इसका अर्थ यह हुआ कि काव्य में व्यंग्यार्थ 'प्रमुख' होता है तथा वाच्यार्थ 'गौण'।

(२) यह ध्वनि-तत्त्व काव्य का 'आत्मभूत' तत्त्व है। दूसरे शब्दों में, काव्य का काव्यत्व वस्तुतः ध्वनि में ही निहित होता है।

(३) काव्य का यह ध्वनि-तत्त्व सहृदयों के मन में प्रकाशमान रहता है तथा प्रकृतितः चमत्कारप्राण होता है। दूसरे शब्दों में व्यंग्यार्थ की प्रतीति से सहृदय के मन में एक विशेष प्रकार के चमत्कार की सृष्टि होती है। काव्य के अध्ययन के समय प्रमाता के मन में उसका प्रकाश विद्यमान रहता है। यह 'काव्यात्म-रूप' व्यंग्यार्थ चर्वणीय है तथा उसकी प्रतीति आस्वाद-रूप है।

(४) काव्य का अर्थ दो प्रकार का हो सकता है। प्रथम वाच्यार्थ तथा द्वितीय प्रतीयमान। वाच्यार्थ से चारुतर व्यंग्यार्थ का स्थान काव्य में ठीक उतना ही ऊँचा होता है जितना कि सुन्दर स्त्री के शरीर में नेत्र, नासिका आदि स्पष्टतः दृश्यमान अवयवों की अपेक्षा लावण्य का होता है, अर्थात् व्यंग्यार्थ काव्य का अन्तर्व्याप्त-गुण है।

(५) प्रतिभाशाली महाकवियों की वाणी काव्य के व्यंग्यार्थ के माध्यम से अपूर्व आस्वाद प्रदान कराने में समर्थ होती है।

(६) (अभिनवगुप्त के अनुसार) काव्य के 'तत्त्वभूत' अर्थ की चर्वणा (काव्यास्वाद) वस्तुतः वाच्य से भिन्न व्यंग्यार्थ के माध्यम से ही संभव है।

(७) (मम्मट तथा विश्वनाथ के अनुसार) ध्वनि काव्य ही 'उत्तम काव्य' है, उसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक सुन्दर एवं चमत्कारपूर्ण हुआ करता है।

(८) (पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार) चमत्कारपूर्ण व्यंग्यार्थ ही काव्य की आत्मा है। ऐसा काव्य 'उत्तमोत्तम' होता है।

निष्कर्ष

ध्वनि-सिद्धान्त मूलतः काव्य के 'अर्थान्तर' की प्रकलपना पर आधृत है। वाच्यार्थ में सहृदय को आस्वाद प्रदान करने की क्षमता नहीं होती, उसके लिए तो

प्रमाता को अभिधार्थ से इतर किसी अन्य विशिष्ट एवं चारुतर अर्थ को प्राप्त करना होगा। आनन्दवर्द्धन ने वाच्यार्थ से भिन्न व्यंग्य अर्थ के लिए 'प्रतीयमान'[१] शब्द का प्रयोग किया है। यह प्रतीयमान वस्तु (व्यंग्यार्थ) चमत्कारपूर्ण,[२] स्वादु[३] (आस्वाद-पूर्ण), चर्वणीय[४] तथा प्रकाशमान[५] होती है। इन सब गुणों से युक्त ध्वन्यर्थ को प्रमाता स्वयं ग्रहण करता है। आनन्दवर्द्धन के अनुसार, इसी प्रकार वाच्यार्थ से विमुख (उससे विश्रान्ति रूप परितोष को प्राप्त न करने वाले) सहृदयों की तत्त्वदर्शन-समर्थ बुद्धि में वह (प्रतीयमान) अर्थ तुरन्त ही प्रतीत हो जाता है[६] तथा वह 'सहृदयश्लाघ्य'[७] होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वाच्यार्थ से चारुतर, 'चमत्कारपूर्ण', 'प्रकाशमान' 'चर्वणीय' तथा 'स्वादु' ध्वन्यर्थ का उपभोक्ता-आस्वादयिता प्रमाता है और ध्वन्यर्थ की आह्लादमयी प्रतीति ही काव्यास्वाद है। प्रमाता वाच्यार्थ से भिन्न चारुतर तथा सर्वथा अभिनव अर्थ को प्राप्त करने के लिए अपनी कल्पना-शक्ति का आश्रय लेता है। 'ध्वनित' अर्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ काव्य के प्रणयन के लिए कवि को तो निश्चय ही 'विशेष प्रतिभावान्'[८] होना ही चाहिए, साथ ही पाठक के पास भी इस ध्वन्यर्थ को प्राप्त करने के लिए एक विशिष्ट, भावप्रवण, कल्पनाशील तथा सजग मन की सम्पदा

---

१. **'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव···।'**
—ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, का० ४।

२. (क) **'वाच्यादधिकचमत्कारिणि व्यंग्यार्थे···'**
—साहित्य दर्पण, चतुर्थ परिच्छेद।

(ख) **काव्यजीवितं चमत्कारित्वं···**
—रसगंगाधर, प्रथम आनन।

३. **सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु···**
—हिन्दी ध्वन्यालोक, का० १२ पृ० ४५।

४. **तत्त्वभूतो योऽर्थस्तस्यभावना वाच्यातिरेकेणानवरतचर्वणा···**
—अभिनवगुप्त, ध्वन्यालोकलोचन, प्रथम उद्योत।

५. **···तस्य सहृदयमनः प्रकाशमानस्याप्यभावमन्ये जगदुः।**
—ध्वन्यालोक, का० १।

६. **तद्वत्सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम्।**
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते॥
—हिन्दी ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, का० १२, पृ० ५२।

७. **योऽर्थ सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।**
—वही, प्रथम उद्योत का० २, पृ० १७।

८. **सरस्वती···परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्**
—वही, प्रथम उद्योत, का० ६, पृ० ४५।

अपेक्षित है। अपनी कल्पता से वह वाच्यार्थ में चारुतर 'अर्थान्तर'[1] ग्रहण करता है। इस प्रकार प्रतीयमान व्यंग्यार्थ अथवा ध्वन्यर्थ का आनन्द एक प्रकार से वाच्यार्थ के कल्पनात्मक अर्थान्तरण का आनन्द है।

(ख) ध्वनि के भेद*

ध्वनि के मुख्य भेद दो हैं—लक्षणामूला और अभिधामूला। लक्षणामूला को अविवक्षितवाच्य ध्वनि और अभिधामूला को विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि भी कहते हैं।

मूल में लक्षणा होने से इसे लक्षणामूला कहते हैं। वाच्यार्थ की विवक्षा न रहने के कारण इसे अविवक्षितवाच्य ध्वनि भी कहते हैं। इसमें वाच्यार्थ से वक्ता के कहने का तात्पर्य नहीं जाना जाता। अतः यहां वाच्यार्थ की अविवक्षा या उसकी बाधा स्वाभाविक हो जाती है।

लक्षणामूला ध्वनि के दो भेद होते हैं—(१) अर्थान्तर संक्रमितवाच्य और (२) अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य।

(१) दूसरे अर्थ को अर्थान्तर कहते हैं। यह सामान्य से विशेष ही होगा। अतः जिस ध्वनि में विशेषार्थ में वाच्य संक्रमित हो वह अर्थान्तर संक्रमित वाच्य हुई, अर्थात् जहाँ मुख्यार्थ बाधित होने पर उसका अर्थ दूसरे अभिप्राय में बदल जाता है वहीं अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य ध्वनि होती है। और, जिसमें वाच्य का अत्यन्त तिरस्कार होता है उसे अत्यन्त तिरस्कृत-वाच्य ध्वनि कहते हैं। अत्यन्त शब्द से सामान्यतः तथा विशेषतः सब प्रकार से मुख्यार्थ का तिरस्कार रहता है। इसमें किसी प्रकार मुख्यार्थ का समन्वय नहीं होता। इससे यह ध्वनि अत्यन्त तिरस्कृत-वाच्य कहलाती है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि लक्षणामूला के अर्थान्तर-संक्रमित भेद में प्रयोजनवती लक्षणा ही ली जाती है, निरूढ़ा नहीं। क्योंकि, निरूढ़ा लक्षणा में व्यंग्य नहीं होता और प्रयोजनवती में प्रयोजन ही व्यंग्य रूप में रहता है। अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य ध्वनि लक्षणलक्षणा का आश्रय लिया जाता है जिससे व्यंग्य-प्रतीति होती है।

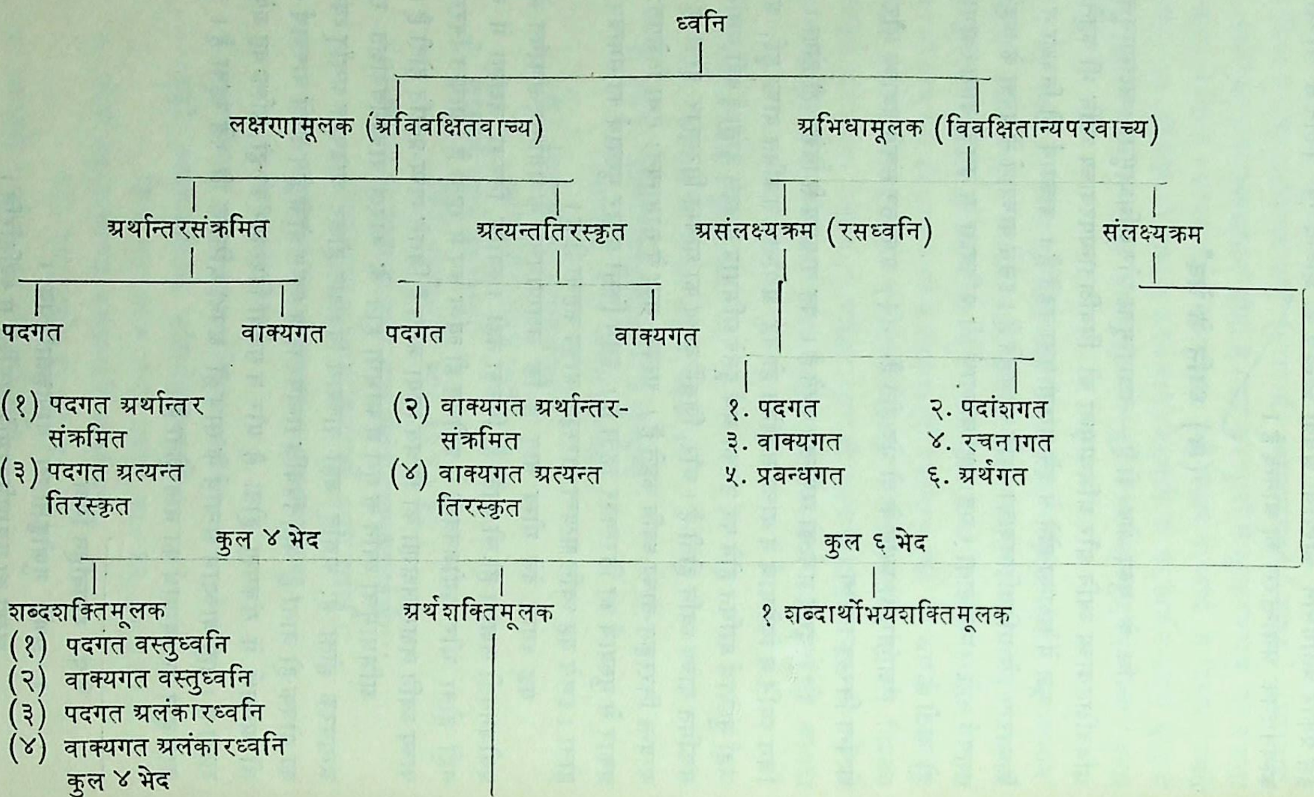
अभिधामूला ध्वनि के मूल में अभिधा होने के कारण वाच्य-विवक्षित रहकर अन्यपरक होता है, अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ विवक्षित होकर अन्यपरक अर्थात् व्यंग्यार्थ का बोधक हो जाता है वहाँ विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि होती है। इसमें वाच्यार्थ का न तो अन्यार्थ में संक्रमण होता है और न सर्वथा तिरस्कार का ही, बल्कि वह अपेक्षित रहता है। यहाँ वाच्यार्थ अन्यार्थ के साथ ही अपना अस्तित्व भी रखे रहता है। उसके ज्ञान होने पर व्यंग्यार्थ का भान होता है।

---

* पं० रामदहिन मिश्र

१. अर्थो गुणीकृतात्मा गुणीकृताभिधेयः।
शब्दो वा यत्रार्थान्तरमभिव्यमक्ति स ध्वनिरिति।'
—ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, का० १३ की वृत्ति।

ध्वनि के ५१ भेदों का एक रेखाचित्र



स्वतःसंभवी

(१) वस्तु से वस्तुध्वनि
(२) वस्तु से अलंकारध्वनि
(३) अलंकार से वस्तुध्वनि
(४) अलंकार से अलंकार ध्वनि

इन चारों में भी प्रत्येक के
(१) पदगत
(२) वाक्यगत और
(३) प्रबंधगत के भेद से
१२ भेद हो जाते हैं।

कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्धि

(१) वस्तु से वस्तुध्वनि
(२) वस्तु से अलंकारध्वनि
(३) अलंकार से वस्तुध्वनि
(४) अलंकार से अलंकार ध्वनि

इन चारों में भी प्रत्येक के
(१) पदगत
(२) वाक्यगत और
(३) प्रबंधगत के भेद से
१२ भेद हो जाते हैं।

कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध

(१) वस्तु से वस्तुध्वनि
(२) वस्तु से अलंकार ध्वनि
(३) अलंकार से वस्तुध्वनि
(४) अलंकार से अलंकार ध्वनि

इन चारों में भी प्रत्येक के
(१) पदगत
(२) वाक्यगत और
(३) प्रबंधगत के भेद से
१२ भेद हो जाते हैं।

इनकी अभिलषित संख्या इस प्रकार है :

१. अविवक्षितवाच्य	४
२. असंलक्ष्यक्रम	६
३. संलक्ष्यक्रम (शब्दशक्तिमूलक)	४
४. संलक्ष्यक्रम (अर्थशक्तिमूलक)	३६
५. शब्दार्थोभयशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम	१
	५१

अभिधामूला ध्वनि के भी दो भद होते हैं—असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य और संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य। पहले में व्यंग्य का क्रम लक्षित नहीं होता, अर्थात् वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ का बोध इतनी शीघ्रता के साथ होता है कि पूर्वापर का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता और दूसरे में वाच्यार्थ के बोध हो जाने पर व्यंग्यार्थ परिलक्षित होता है। इसमें पूर्वापर का ज्ञान रहता है। पहले का एक रसादिध्वनि और दूसरे के तीन—शब्द शक्त्युद्भव ध्वनि, अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि और शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव ध्वनि—भेद होते हैं।

आगे की चित्र-सूची और नाम-सूची से ध्वनि के ५१ भेद और उपभेदों के विकास-क्रम और पूरे नाम ज्ञात होंगे और उन्हीं के अनुसार अगली किरणों में यथावश्यक लक्षण तथा विवृतिसहित प्रत्येक का उदाहरण दिया जाएगा।

ध्वनि के ५१ भेदों के सम्पूर्ण नाम

१. पदगत, अर्थान्तरसंक्रमित, अविवक्षितवाच्य ध्वनि
२. वाक्यगत, अर्थान्तरसंक्रमित, अविवक्षितवाच्य ध्वनि
३. पदगत, अत्यन्ततिरस्कृत, अविवक्षितवाच्य ध्वनि
४. वाक्यगत, अत्यन्ततिरस्कृत, अविवक्षितवाच्य ध्वनि
५. पदगत असंलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि
६. पदांशगत, असंलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि
७. वाक्यगत, असंलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि
८. रचनागत, असंलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि
९. प्रबंधगत, असंलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि
१०. वर्णगत, असंलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि
११. पदगत, शब्दशक्तिमूलक, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तुध्वनि
१२. वाक्यगत, शब्दशक्तिमूलक, संलक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तुध्वनि
१३. पदगत, शब्दशक्तिमूलक, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकारध्वनि
१४. वाक्यगत, शब्दशक्तिमूलक, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकारध्वनि
१५. पदगत, अर्थशक्तिमूलक, स्वतःसंभवी, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तु से वस्तु ध्वनि
१६. वाक्यगत, अर्थशक्तिमूलक, स्वतःसंभवी, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तु से वस्तुध्वनि
१७. प्रबंधगत, अर्थमूलक, स्वतःसंभवी, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तु से वस्तुध्वनि
१८. पदगत, अर्थमूलक, स्वतःसंभवी, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तु से वस्तु ध्वनि
१९. वाक्यगत अर्थमूलक, स्वतःसंभवी, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तु से अलंकार ध्वनि
२०. प्रबंधगत, अर्थमूलक, स्वतःसंभवी, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तु

से अलंकारध्वनि

२१. पदगत, अर्थशक्तिमूलक, स्वत:संभवी संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकार से वस्तु ध्वनि

२२. वाक्यगत, अर्थशक्तिमूलक, स्वत:संभवी संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकार से वस्तुध्वनि

२३. प्रबंधगत, अर्थशक्तिमूलक, स्वत:संभवी, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकार से वस्तुध्वनि

२४. पदगत, अर्थशक्तिमूलक, स्वत:संभवी, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकार से अलंकारध्वनि

२५. वाक्यगत, अर्थशक्तिमूलक, स्वत:संभवी, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकार से अलंकारध्वनि

२६. प्रबंधगत, अर्थशक्तिमूलक स्वत:संभवी, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य अलंकार से अलंकारध्वनि

२७. पदगत, अर्थशक्तिमूलक, कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य से वस्तु ध्वनि

२८. वाक्यगत, अर्थशक्तिमूलक कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तु से वस्तुध्वनि

२९. प्रबंधगत, अर्थशक्तिमूलक, कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य वस्तु से वस्तुध्वनि

३०. पदगत, अर्थशक्तिमूलक, कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, वस्तु से अलंकारध्वनि

३१. वाक्यगत, अर्थशक्तिमूलक, कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, वस्तु से अलंकारध्वनि

३२. प्रबंधगत, अर्थशक्तिमूलक, कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, वस्तु से अलंकारध्वनि

३३. पदगत, अर्थशक्तिमूलक, कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, अलंकार से वस्तुध्वनि

३४. वाक्यगत, अर्थशक्तिमूलक, कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, अलंकार से वस्तुध्वनि

३५. प्रबंधगत, अर्थशक्तिमूलक, कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, अलंकार से वस्तुध्वनि

३६. पदगत, अर्थशक्तिमूलक, कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, अलंकार से अलंकारध्वनि

३७. वाक्यगत, अर्थशक्तिमूलक, कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, अलंकार से अलंकारध्वनि

३८. प्रबंधगत, अर्थशक्तिमूलक, कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षिता-

न्यपरवाच्य, अलंकार से अलंकारध्वनि

३९. पदगत, अर्थशक्तिमूलक, कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, वस्तु से वस्तुध्वनि
४०. वाक्यगत, अर्थशक्तिमूलक, कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, वस्तु से वस्तुध्वनि
४१. प्रबंधगत, अर्थशक्तिमूलक, कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, वस्तु से वस्तुध्वनि
४२. पदगत, अर्थशक्तिमूलक, कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, वस्तु से वस्तुध्वनि
४३. वाक्यगत, अर्थशक्तिमूलक, कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, वस्तु से अलंकारध्वनि
४४. प्रबन्धगत, अर्थशक्तिमूलक, कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, वस्तु से अलंकारध्वनि
४५. पदगत, अर्थशक्तिमूलक, कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, अलंकार से अलंकारध्वनि
४६. वाक्यगत, अर्थशक्तिमूलक, कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, अलंकार से वस्तुध्वनि
४७. प्रबन्धगत, अर्थशक्तिमूलक, कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, अलंकार से वस्तुध्वनि
४८. पदगत, अर्थशक्तिमूलक, कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, अलंकार से अलंकारध्वनि
४९. वाक्यगत, अर्थशक्तिमूलक, कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, अलंकार से अलंकारध्वनि
५०. प्रबन्धगत, अर्थशक्तिमूलक, कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्य, अलंकार से अलंकारध्वनि
५१. शब्दार्थोभयशक्तिमूलक, संलक्ष्यक्रम, विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि ।

लक्षणामूलक (अविवक्षितवाच्य) ध्वनि

जिसके मूल में लक्षण हो उसे लक्षणामूलक ध्वनि कहते हैं ।

लक्षणा के जैसे मुख्य दो भेद--- उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा—होते हैं वैसे ही इसके भी उक्त (१) 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि' (२) 'अत्यन्त तिरस्कृत-वाच्य ध्वनि, नामक दो भेद होते हैं ।' पहली के मूल में उपादानलक्षणा और दूसरी के मूल में लक्षणलक्षणा रहती है। यह पदगत और वाक्यगत के भेद से चार प्रकार की हो जाती है।

लक्षणामूला को अविवक्षितवाच्य ध्वनि कहा गया है क्योंकि उसमें वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं रहती । इसीसे इसमें वाच्यार्थ से वक्ता के कहने का तात्पर्य नहीं जाना

जाता। इससे इसमें वाच्यार्थ का बाधित होना या उसका अनुपयुक्त होना निश्चित है। जैसे, किसी ने कहा कि 'वह कुम्भकर्ण है।' यहाँ वाच्यार्थ से केवल यही समझा जायगा कि उसके कान घड़े के समान हैं या वह त्रेता के राजा रावण का भाई है। किंतु वह व्यक्ति न तो रावण का भाई ही है और न उसके कान घड़े के समान ही हैं। यहाँ वाच्यार्थ की बाधा है। वक्ता का अभिप्राय इसीसे नहीं जाना जा सकता। अतः यहाँ प्रयोजनवती गूढव्यंग्या लक्षणा द्वारा यह समझा जाता है कि वह महाविशालकाय, अति-भोजी और अधिक निद्रालु है। इसीसे आलस्यातिशय ध्वनित होता है। यहाँ वाच्यार्थ की अविवक्षा है और वह अर्थान्तर में संक्रमित है।

वाच्यार्थ का बाधित अर्थात् उपयोग में लाने के अयोग्य होना दो प्रकार से संभव है। एक तो अर्थ-पुनरुक्ति होने से और दूसरे वक्ता के वक्तव्य का तात्पर्य व्यक्त न होने से। दोनों के उदाहरण दिये जाते हैं।

(१) पदगत अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनि

अर्थ-पुनरुक्ति से अनुपयुक्त वाच्याय के लक्षण और उदाहरण—जहाँ मुख्यार्थ का बाध होने पर वाचक शब्द का वाच्यार्थ लक्षण द्वारा अपने अर्थ से संक्रमण कर जाए—बदल जाय वहाँ अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षित वाच्य ध्वनि होती है। पद में होने से इसे पदगत कहते हैं। जैसे,

कदली कदली ही अहै करभ करभ ही जान।
करिकर करिकर ही, नहीं कहुँ तिय उरु उपमान॥

—अनुवाद।

कदली केले के गाछ को कहते हैं। हाथ की छोटी उंगली से लेकर कलाई तक के बाहरी अंश को करभ कहते हैं। और करिकर का अर्थ है हाथी की सूँड। केले का खंभा, करभ और हाथी की सूँड, इन तीनों से स्त्री की जंघा की उपमा दी जाती है। पर वस्तुतः इनमें से कोई भी उपमा देने योग्य नहीं। क्योंकि केला केला ही है, करभ करभ ही और हाथी की सूँड हाथी की सूँड ही है। यहाँ तीनों ही पुनरुक्त हैं। पुनरुक्त शब्दों का अर्थ भी यही है। एकार्थक शब्दों का दोहराना व्यर्थ है। अतः वाच्यार्थ अनुपयुज्यमान होने के कारण अपने विशेष स्वरूप अर्थान्तर में परिणत हो जाते हैं जिससे उनकी सार्थकता हो जाती है। जैसे, दूसरे कदली शब्द का अर्थ जड़ है, शीतल है, करभ शब्द अर्थ छोटा है, और करिकर का अर्थ कर्कश है। यहाँ प्रयोजनवती उपादानलक्षणा है। लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ का विशेष रूप ही है। जाड्यादि गुणों की अधिकता प्रयोजन रूप व्यंग्य है।

तो क्या अबलाएँ सदैव ही अबलाये हैं बेचारी।

—गुप्तजी।

यहाँ द्वितीय बार प्रयुक्त 'अबला' शब्द पुनरुक्ति दोष से दूषित-सा लगता है। मगर नहीं। पुनरुक्त 'अबला' शब्द अपने मुख्यार्थ 'स्त्री' में बाधित होकर अपने इस लाक्षणिक अर्थ को प्रकट करता है कि वे अबलाएँ हैं अर्थात् निर्बल हैं। इससे यह ध्वनित होता है कि उनको सदा पराधीन, आत्मरक्षा में असमर्थ या दया का पात्र ही नहीं होना चाहिए। यहाँ जो लक्ष्यार्थ किया जाता है वह वाच्यार्थ का रूपान्तरमात्र

है, उससे सर्वथा भिन्न नहीं। प्राय: पुनरुक्त शब्द प्रथमोक्त शब्द के अर्थ में उत्कर्ष या अपकर्ष का द्योतन करता है। यहाँ लाक्षणिक प्रयोग द्वारा जो उक्त व्यंग्यार्थ का बोध होता है, वह किसी वाक्य या रचना के द्वारा नहीं, कविता के केवल एक पद 'अबला' शब्द के द्वारा। अत: यहाँ पदगत ध्वनि है। 'अबला' शब्द अपने मुख्यार्थ 'स्त्री' की की अपेक्षा नहीं करता इससे अविवक्षित वाच्य भी है।

राधा अतिगुन आगरी, स्वर्नबरन तनु रंग।
मोहन तू मोहन भया, परसत जाके अंग।

—प्राचीन

यहाँ दूसरे 'मोहन' शब्द का अर्थ है सबको मोहित करने वाला, सबके हृदय में बस जाने वाला। मोहन शब्द इसी अर्थ में संक्रमण कर जाता है।

निम्नलिखित पंक्तियों में मधुर ध्वनि करने वाली के अर्थ में कोयल और कर्ण-कटु शब्द करने वाले के अर्थ में कौआ शब्द की पुनरावृत्ति की गई है।

कोयल काली कौआ काला, क्या इनमें कुछ भेद निराला।
पर कोयल कोयल वसन्त में कौआ—कौआ रहा अन्त में।।

—अनुवाद

ऐसे ही अन्य पद्य भी ऐसी ही पदगत अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षित वाच्य ध्वनि के उदाहरण होते हैं।

दूसरे प्रकार के अनुपयुक्त वाच्यार्थ का उदाहरण।

लंका में एक था विभीषण भारत में बहुतेरे।
कैसे नेता कुछ कर लेंगे मिलकर आज घनेरे।।

—राम

यहाँ वाच्यार्थ तो यही होगा कि लंका में एक ही विभीषण था, पर भारत में बहुत-से विभीषण हैं। किन्तु इस वाच्यार्थ से पद्य का वास्तविक तातपर्य प्रकट नहीं होता। क्योंकि, विभीषण का मुख्यार्थ है रावण का भाई। पर भारत में रावण का एक भी भाई नहीं, बहुतेरों की बात तो दूर रही। इस प्रकार विभीषण शब्द के मुख्यार्थ का बोध होने से पद्य का अभिप्राय नहीं जाना जा सकता। अत: यहाँ मुख्यार्थ की अविवक्षा करके प्रयोजनवती लक्षणा द्वारा यह लक्ष्यार्थ हुआ कि जिस तरह विभीषण घर का भेदिया, भ्रातृद्वेषी, देशद्रोही तथा शत्रु-सहायक था, उसी तरह भारत में भी देश-द्रोहियों, शत्रु-सहायकों और घर फूँककर तापनेवालों की कमी नहीं है। यहाँ देशद्रोह की अतिशयता ध्वनित है। ऐसी दशा में बेचारे नेता देश के लिए क्या कर सकते हैं। अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है और इस प्रकार पद्य का सुन्दर और वास्तविक अभिप्राय साधारण बुद्धिवालों की भी समझ में आ जाता है। यहाँ भी विभीषण शब्द अर्थान्तर में संक्रमण कर गया है।

२. वाक्यगत अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनि

जहाँ मुख्यार्थ के बाधित हो जाने के कारण वाच्यार्थ वाच्यार्थ की विवक्षा न होने पर, वाक्य अपने दूसरे अर्थ में संक्रमण कर जाए, वहाँ यह ध्वनि होती है जैसे—

सेना छिन्न, प्रयत्न भिन्न कर पा मुराद मनचाही ।
कैसे पूजूँ गुमराही को मैं हूँ एक सिपाही ।।

—भा० आत्मा

इस पद्य में 'मैं हूँ एक सिपाही' वाक्य के मुख्यार्थ से कवि के कहने का तात्पर्य बिल्कुल भिन्न है। इसका व्यंग्यार्थ होता है। मैं कष्टसहिष्णु, साहसी, राष्ट्र का उन्नायक, आज्ञापालक, स्वभावतः देशप्रेमी तथा वीर हूँ। इस दशा में गुमराही की पूजा कैसे करूँ ? यहाँ वाक्य अपने मुख्यार्थ में बाधित होकर अर्थान्तर (व्यंग्यार्थ) में संक्रमण कर गया है। इसमें 'मैं' इतने से ही काम चलाया जा सकता था। 'हूँ एक सिपाही' शब्द व्यर्थ है। किन्तु नहीं। मैं हूँ एक सिपाही वाक्य सिपाही का उक्त सगौरव आत्माभिमान व्यंजित करता है।

३. पदगत अत्यन्त तिरस्कृत (अविवक्षित वाच्य) ध्वनि।

जहाँ बाधित वाच्यार्थ का अर्थान्तर में संक्रमण नहीं होता बल्कि मुख्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार ही हो जाता है, अर्थात् उसका एक भिन्न ही अर्थ हो जाता है, वहाँ यह ध्वनि होती है। इसके ये उदाहरण हैं—

बापू तुम हो मानव अथवा विभु हो विमल विभूत।
चक्रकेतु भारत के रथ के सूत्रधार स्वर्दूत ।।

—सुधीन्द्र

बापू पर स्वर्दूत का आरोप है। बापू स्वर्दूत नहीं हो सकते। यहाँ स्वर्दूत अपना अर्थ छोड़कर उस पुरुष का अर्थ देता है जो पृथ्वी पर स्वर्गीय सुख का संचार करने के लिए आया है। अतः लक्षण-लक्षणा है। इससे प्रयोजन-रूप यह व्यंग्य निकलता है कि महात्माजी विश्व को स्वर्दूत के सदृश कल्याण के सन्देशदाता तथा सत्य के साम्राज्य के स्थापक हैं। यहाँ वाच्य अर्थ का अत्यन्त तिरस्कार है। प्रथम उदाहरण के समान यहाँ दूसरे अर्थ में संक्रमण नहीं होता, बल्कि भिन्न ही अर्थ हो जाता है। स्वर्दूत में होने से पदगत है।

नीलोत्पल के बीच सजाये मोती से आँसू की बूँद।
हृदय-सुधानिधि से निकले हो सबन तुम्हें पहचान सके।।

—प्रसाद

नीलोत्पल के बीच में मोती के सदृश आँसू सजे हैं। इस अर्थ में बाध स्पष्ट है। किन्तु आँसू के सहारे नीलोत्पलों में अध्यवसित उपमेय नयनों का शीघ्र बोध हो जाता है। नीलोत्पल के अपना अर्थ छोड़कर आँख का अर्थ देने से लक्षण-लक्षणा है। यहाँ अत्यंततिरस्कृत वाच्य से यह ध्वनि निकलती है कि नयन बड़े सुन्दर हैं, दर्शनीय हैं। नीलोत्पल में होने से पदगत है।

लक्षणा प्रकरण का यह उदाहरण इस बात का द्योतक है कि ऐसे स्थल में ही यह ध्वनि होती है।'

साँस से आँधर दर्पन है जस बादल ओट लखात है चंदा।

इस चरण में 'दर्पण' को अंधा बतलाया गया है। यह सर्वथा असंभव है।

क्योंकि, अंधा होना नेत्रवाले प्राणी का धर्म है। दर्पण तो जड़ और नेत्रहीन है। अतः पूर्ववत् यहाँ भी 'आँधर' के मुख्यार्थ नेत्रहीन का बिलकुल तिरस्कार हो गया है। यहाँ उसका लक्ष्य अर्थ है—मैला, धुँधला या भाईदार। यह अर्थ सरोपा गौणी लक्षणा-लक्षणा से होता है। यहाँ व्यंग्यार्थ मालिन्यातिशय का जो बोध होता है, वह केवल 'आँधर' शब्द से। अतः यह उदाहरण भी पदगत का ही है।

४. वाक्यगत अत्यन्ततिरस्कृत (अविवक्षित वाच्य) ध्वनि

सकल रोओं से हाथ पसार, लूटता इधर लोभ गृह द्वार ॥

—पंत

यहाँ वाच्यार्थ सर्वथा बाधित है। रोओं से लोभ का हाथ पसारना और घर-द्वार लूटना एकदम असंभव है। लक्ष्यार्थ है लोभी का समस्त कोमल और कठोर साधनों से परकीय द्रव्य को आत्मसात् करना। इससे प्रयोजनरूप व्यंग्य है। लोभ या तृष्णा का आत्मतृप्ति के लिए दैन्य या बलात्कार सब-कुछ कर सकने की क्षमता। इससे पद्यार्थ का अर्थ अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है। यह वाक्यगत है।

मैंने कुछ सुखमय इच्छाएँ चुन लीं सुन्दर शोभाशाली।
औ' उनके सोने चाँदी से भर ली प्रिय प्राणों की डाली ॥

—पंत

यहाँ इच्छाओं को उत्तम फल न कहकर सोना-चाँदी उक्त है। सोने-चाँदी में इच्छाओं का फल अध्यवसित है। लक्षणा-लक्षणा से अर्थ होता है सुखमय इच्छाओं का फल पाना-सोने-चाँदी के लोभ के समान है। सोना-चाँदी अपना अर्थ छोड़कर इच्छाओं के फल बन जाते हैं। यहाँ अत्यन्त-तिरस्कार अविवक्षित वाच्य से यह ध्वनि निकलती है कि सुख-कामनाओं के परिग्रह और उनके फलोपभोग में विवेक और संयम से काम लेना ही श्रेयस्कर है। वाक्य में होने से यहाँ वाक्यगत है।

विपरीत लक्षणा पर आश्रित उक्त ध्वनि का वाक्यगत उदाहरण—

आप कचहरिया सत्यवादी हैं।

इसका अभिप्राय यह कि आप सत्यवादी नहीं हैं।

रावण-अंगद संवाद की निम्नलिखित पंक्तियाँ भी इसके उदाहरण हैं—

रावण :

तव खल बचन कठिन मैं सहऊँ।
नीति धर्म सब जानत अहऊँ ॥

अंगद :

नाक-कान बिनु भगिनि निहारी। छमा कीन्ह तुम धर्म बिचारी।
धर्म-शीलता तव जगजागी। पावा दरस हमहुँ बड़भागी ॥

रावण ने जब कहा कि अंगद तुम्हारी कठोर बातें मैं इसीलिए सहन करता हूँ कि मैं नीति और धर्म जानता हूँ। दूत का वध करना अन्याय समझा जाता है। इस पर अंगद ने उत्तर दिया—सत्य है, तुम्हारी धर्मशीलता संसार जानता है। इसलिए तो तुमने अपनी बहन के नाक-कान काट लेने पर भी राम को क्षमा कर दिया था। मैं भी

बड़ा भाग्यशाली हूँ जो आप जैसे धर्मात्मा के दर्शन आज मुझे मिले। इस वाच्यार्थ का इसमें बिलकुल बाध है क्योंकि रावण जैसे अन्यायी शत्रु की प्रशंसा कभी नहीं की जा सकती। इसीलिए, यहाँ, 'क्षमा कीन तुम धर्म विचारी' आदि में वाक्य के मुख्यार्थ का बिलकुल तिरस्कार होने पर लक्ष्यार्थ का बोध होता है कि तुम कायर हो। तुम्हें लज्जा आनी चाहिए कि तुम्हारी बहन के नाक-कान कट जाने पर भी तुमसे कुछ करते नहीं बना। इसी तरह 'पाया दरस हमहुँ बड़ भागी' में मुख्यार्थ का अत्यन्त तिरस्कार होकर लक्ष्यार्थ का बोध होता है कि तुम्हारे जैसे अन्यायी और पापी का मुँह देखकर मैं अभागा साबित हुआ— अर्थात् तुम्हारे जैसे पापियों का मुँह देखना भी पाप है. इसमें रावण को सर्वथा तिरस्कार्य बताना व्यंग्य है। यहाँ किसी पद के अर्थ का तिरस्कार नहीं हुआ है, संपूर्ण वाक्य का अर्थ ही तिरस्कृत हो गया है। इससे वाक्यगत है।

अभिधामूलक (विवक्षितान्यपरवाच्य) ध्वनि

जिसके मूल में अभिधा अर्थात् वाच्यार्थ- सम्बन्ध हो उसे अभिधामूला ध्वनि कहते हैं—

अभिधामूला को विवक्षितान्यपरवाच्य कहा गया है, क्योंकि इसमें वाच्यार्थ वांछनीय होकर अन्य पर अर्थात् व्यंग्यार्थ का बोधक होता है। इसमें वाच्यार्थ का न तो दूसरे अर्थ में संक्रमण होता है और न सर्वथा तिरस्कार, बल्कि वह विवक्षित रहता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि वाच्यार्थ अन्य अर्थ के अस्तित्व को रखते हुए अपना अस्तित्व नहीं खोता बल्कि व्यंग्यार्थ का तभी बोध होता है जब कि वाच्यार्थ का बोध होता है। इस वाच्यार्थ-व्यंग्यार्थ बोध के मध्य का क्रम कहीं अलक्षित रहता है और कहीं लक्षित। इससे इसी के भी दो भेद हैं—(१) असंलक्ष्यक्रम ध्वनि और (२) संलक्ष्यक्रम ध्वनि। पहले में पौर्वापर्य का ज्ञान नहीं रहता, मगर दूसरे में रहता है।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य (रसादि)

जिस व्यंग्यार्थ का क्रम लक्षित नहीं होता, वह असंलक्ष्यक्रम ध्वनि होती है:

अभिप्राय यह कि व्यंग्यार्थ-प्रतीति में पौर्वापर्य का—आगे-पीछे का ज्ञान नहीं रहता कि कब वाच्यार्थ का बोध हुआ और कब व्यंग्यार्थ का। दोनों का एक साथ हीबोध होता है। अर्थात् पहले विभाव के साथ, फिर अनुभाव के साथ, और फिर व्यभिचारी के साथ स्थायी की प्रतीति का क्रम रहता हुआ भी शीघ्रता के कारण जहाँ प्रतीत नहीं होता वहाँ असंलक्ष्यक्रमध्वनि होती है। इसे ही रसध्वनि भी कहते हैं, क्योंकि असंलक्ष्यक्रम में व्यंग्य रूप से रस, रसाभास आदि ही ध्वनित होते हैं।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि जब रस-बोध में विभावादि कारण माने जाते हैं और कारण की सत्ता का पूर्व और कार्य की सत्ता का पर होना स्वाभाविक तथा निश्चित है तब सर्वत्र कारण-कार्य की प्रतीति का क्रम संलक्षित रहेगा ही; फिर यह रसादिध्वनि असंलक्ष्यक्रम कैसे हो सकती है।

इसका उत्तर यह है कि इस ध्वनि में जो रस, रसाभास आदि व्यंग्यरूप से प्रतीत

होते हैं, उनकी प्रतीति इतनी त्वरित होती है कि उस समय इसका ज्ञान नहीं रह जाता है कि कब कारण हुए और कब कार्य, क्योंकि इनका क्रम जरा भी परिलक्षित नहीं होता —एक साथ ही सबकी प्रतीति हो जाती है। इसलिए इसका नाम 'असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि' है।

निम्नलिखित दृष्टान्तों से यह स्पष्ट हो जायगा। जैसे, छोड़ी हुई राइफ़ल की गोली जब किसी की छाती में लगती है तब वह क्रमशः चमड़ा, मांस, मज्जा, हड्डी आदि को पार करने के बाद ही शरीर को छेदकर बाहर निकलती है। मगर उसका कार्य इतनी शीघ्रता से होता है कि छेदन का कार्य क्रमिक रूप में परिलक्षित नहीं होता। इसी तरह बिजली का बटन दबाते ही तमाम शहर के खंभों के लट्टू एक साथ ही जल उठते हैं। पर वहाँ भी करेंट तो एक खंभे से दूसरे में और फिर तीसरे में क्रमशः पहुँचता है। मगर उसकी क्रमिक गति का लक्षित होना या उसका आभास तक मिलना नितान्त असंभव है।

इसी प्रकार रस ध्वनि के जो रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि भेद होते हैं और उनके आस्वादन की अनुभूति के विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि जो कारण होने हैं, उनका पौर्वापर्य-ज्ञान प्रतीतिकाल में बिलकुल दुष्कर होता है।

रसों की प्रतीति में विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव—ये तीनों कारण होते हैं। इनसे ही जब स्थायीभाव परिपुष्ट होते हैं तब रसों का आस्वाद होता है। सच पूछिये तो इनके सम्मेलनात्मक रूप को ही रस कहते हैं।

निम्नलिखित उदाहरणों से रसोत्पत्ति के प्रकार को तथा असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि को स्पष्ट समझ लीजिये।

पलंग-पीठ तजि गोद हिंडोरा, सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा।
जिअन-मूरि जिमि जुगवत रहऊँ, दीप बाति नहीं टारन कहऊँ॥
सो सिय चलनि चहति बन साथा, आयसु काह कोइ रघुनाथा॥

—तुलसीदास

राम के वनगमन के समय नवपरिणीता वधू सीता ने अपनी सास कौशल्या से आग्रह किया कि मैं भी पति के साथ वन में जाऊंगी। प्राण के समान प्यारी नववधू की बातें सुनकर पुत्र-वियोग से मर्माहत कौशल्या वधू-वियोग की आशंका से एक बार काँप जाती हैं। इस भयानक और अचानक वज्रपात से उनकी आकृति विवर्ण हो जाती है और वे अत्यन्त कारुणिक वचनों में राम के सम्मुख अभिप्राय प्रकट करती है।

उक्त पद्य में नवपरिणीता सीता आलम्बन रूप विभाव हैं। उनकी सुकुमारता, अल्पवयस्कता, कष्टसहिष्णुता, स्नेहप्रवणता आदि उद्दीपन रूप विभाव हैं। पुत्र-वियोग के साथ वधू-वियोग की आशंका से कौशल्या की विवर्णता, उच्छ्वास, दीन वचन, रोदन, दैव-निन्दा आदि अनुभाव हैं। इसी तरह चिन्ता, मोह, ग्लानि, दैन्य, स्मरण जो बराबर उठते और मिटते हैं, संचारी भाव हैं। और इन सबके सम्मेलनात्मक रूप से श्रोता या वक्ता के अंतर में जिस स्थायी भाव शोक की परिपुष्टि होती है, वही शोक करुण रस के रूप में परिणत हो जाता है।

यहाँ सब व्यापार—विभाव, अनुभाव, संचारी भाव की उत्पत्ति, इनके द्वारा शोक, स्थायी भाव की परिपुष्टि तथा करुण रस की प्रतीति—क्रम से ही होता है। परन्तु ये सब इतनी शीघ्रता में होता है कि स्वयं रसास्वादयिता को भी पता नहीं चलता है कि यह इतने काम कब और कैसे हुए।

उपर्युक्त पद्य में अनुभव किया गया होगा कि कौशल्या की उक्ति से जो व्यंग्य रूप में करुण रस की प्रतीति होती है, उसके पहले होने वाले व्यापारों के क्रम का ज्ञान कतई नहीं होता। वाच्यार्थ-बोध के साथ ही ध्वनि रस की व्यंजना हो जाती है।

ऐसे ही आप जब कभी सिनेमा में चार्ली के हास्यमय तथा यमुना के करुणामय अभिनय को देखकर हँसते या द्रवीभूत हो जाते हैं तब आपको इतना सोचने का अवकाश कहाँ मिलता है कि विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव का कब उदय हुआ, हास्य और शोक की कब परिपुष्टि हुई, कब हँसी आई और कब आँखों में आँसू भर आए। यहाँ तो सब आपको एक साथ ही होते-से लगते हैं और केवल हँसना और द्रवित होना ही भर हाथ आता है, इसी प्रकार असंलक्ष्यक्रम ध्वनि होती है। एक और उदाहरण लें—

मैं निज अलिन्द में खड़ी थी सखि, एक रात,
रिमझिम बूँदें पड़ती थीं, घटा छाई थी।
गमक रहा था केतकी का गंध चारों ओर,
झिल्ली झनकार यही मेरे मन भाई थी॥
करने लगी मैं अनुकरण स्वनूपुरों से,
चंचला थी चमकी घनाली घहराई थी।
चौंक देखा मैंने, चुप कोने में खड़े थे प्रिय,
माई ! मुखलज्जा उसी छाती में छिपाई थी॥

इसमें उर्मिला आलम्बन विभाव है। उद्दीपन है, बूँदों का पड़ना, घटा का छाना, फूल का गमकना, झिल्लियों का झनकारना, चंचला का चमकना आदि। अनुभाव हैं नूपुर बजाना और छाती में मुँह छिपाना। लज्जा, स्मृति, हर्ष, विबोध आदि संचारी भाव हैं। इन भावों से परिपुष्ट होकर रति स्थायी भाव शृंगार रस में परिणत होकर ध्वनित होता है। यहाँ पूर्वानुभूत सुखोपभोग की स्मृति का वर्णन रहने पर भी उसकी प्रधानता सिद्ध न होने से भावध्वनि नहीं है।

(ग) ध्वनि और रस*

भरत ने रस की परिभाषा की है : विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि काव्य में केवल विभाव, अनुभाव आदि का ही कथन होता है। उनके संयोग के परिपाक रूप रस का नहीं—अर्थात् रस वाच्य नहीं होता। इतना ही नहीं, रस का वाचक शब्दों द्वारा कथन एक रस-दोष भी माना जाता है, रस केवल प्रतीत होता है। दूसरे, जैसे कि अभिव्यंजना के विषय में कहा गया, किसी

---

* डॉ० नगेन्द्र

उक्ति का वाच्यार्थ रस-प्रतीति नहीं कराता, केवल अर्थ-बोध कराता है। रस सहृदय की हृदय-स्थित वासना की आनन्दमय परिणति है जो अर्थ-बोध से भिन्न है। अतएव उक्ति द्वारा रस का प्रत्यक्ष वाचन नहीं होता, अप्रत्यक्ष प्रतीति होती है—पारिभाषिक शब्दों में 'व्यंजना' या 'ध्वनन' होता है। इसी तर्क से ध्वनिकार ने उसे केवल रस न मान कर रस-ध्वनि माना है। ध्वनि के अनुसार जो उत्तम, मध्यम और अधम काव्य माने गए हैं उनमें उत्तम काव्य के तीन भेद हैं—रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि। इनमें रस-ध्वनि सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रकार रस ध्वनि-सिद्धांत के अनुसार काव्य का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। शास्त्रीय दृष्टि से ध्वनि और रस का यही संबंध है।

अब मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखिए। मनोविज्ञान के अनुसार कविता वह साधन है जिसके द्वारा कवि अपनी रागात्मक अनुभूति को सहृदय के प्रति संवेद्य बनाता है। संवेद्य बनाने का अर्थ यह है कि कवि उसको इस प्रकार अभिव्यक्त करता है कि सहृदय को केवल उसका अर्थ-बोध ही नहीं होता, वरन् उसके हृदय में समान रागात्मक अनुभूति का संचार भी हो जाता है। इस रीति से कवि सहृदय को अपने हृदय-रस का बोध न कराकर संवेदन करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सहृदय की दृष्टि से रस संवेद्य है, बोधव्य अर्थात् वाच्य नहीं। यह एक साध्य सिद्ध हो जाने के उपरान्त, अब प्रश्न उठता है कि कवि अपने हृदय-रस को सहृदय के लिए संवेद्य किस प्रकार बनाता है? इसका उत्तर है भाषा के द्वारा, परन्तु उसे भाषा का साधारण प्रयोग न करके (क्योंकि हम देख चुके हैं कि साधारण प्रयोग तो केवल अर्थ-बोध ही कराता है) विशेष प्रयोग करना पड़ता है अर्थात् शब्दों को साधारण 'वाचक-रूप' में प्रयुक्त न करके विशेष 'चित्र-रूप' में प्रयुक्त करना पड़ता है। चित्र-रूप से तात्पर्य यह है कि वे श्रोता के मन में भावना का जो चित्र जगाए वह क्षीण और धूमिल न होकर पुष्ट और भास्वर हो; यह कार्य कवि की कल्पना-शक्ति की अपेक्षा करता है, क्योंकि कवि-कल्पना की सहायता के बिना सहृदय की कल्पना में यह चित्र साकार कैसे होगा?

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि यह 'विशेष प्रयोग' भाषा का कल्पनात्मक प्रयोग है। अपनी कल्पना-शक्ति का नियोजन करके कवि भाषा-शब्दों को एक ऐसी शक्ति प्रदान कर देता है कि उनको सुनकर सहृदय को केवल अर्थ-बोध ही नहीं होता वरन् उनके मन में एक अतिरिक्त कल्पना भी जग जाती है, जो परिणति की अवस्था में पहुंचकर रूप-संवेदन में विशेष रूप से सहायक होती है। शब्द की इस अतिरिक्त कल्पना जगाने वाली शक्ति को ही ध्वनिकार ने 'व्यंजना' और रस के इस संवेद्य रूप को ही 'रस-ध्वनि' कहा है। ध्वनि-स्थापना के द्वारा वास्तव में ध्वनिकार ने काव्य में कल्पना-तत्त्व के महत्त्व की ही प्रतिष्ठा की है।

अध्याय ८

वक्रोक्ति सिद्धान्त*

(क) वक्रोक्ति की परिभाषा और स्वरूप

कुन्तक के सिद्धान्त के अनुसार काव्य की आत्मा वक्रोक्ति है। वक्रोक्ति की परिभाषा उनके शब्दों में इस प्रकार है :– **वक्रोक्ति : प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी वैदग्ध्यभंगीभणितिः। वैदग्ध्यं विदग्धभाव कविकर्मकौशलं, तस्य भंगी विच्छित्तिः तथा भणितिः। विचित्रैवाभिधा, वक्रोक्तिरित्युच्यते।** अर्थात्— प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा अर्थात् वर्णन-शैली ही वक्रोक्ति है। यह कैसी है ? वैदग्ध्यपूर्ण शैली द्वारा उक्ति ही वक्रोक्ति है। वैदग्ध्य का अर्थ है विदग्धता ··कवि-कर्म कौशल उसकी भंगिमा या शोभा (चारुता) उसके द्वारा (उस पर आश्रित) उक्ति। (संक्षेप में) विचित्र अभिधा (वर्णन-शैली) का नाम ही वक्रोक्ति है।

(हिन्दी व० जी० १।१० की वृत्ति, पृ० ५१)

उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार

१. वक्रोक्ति का अर्थ है विचित्र अभिधा अर्थात् उक्ति (कथन-प्रकार)

२. विचित्र का अभावात्मक अर्थ है : प्रसिद्ध कथन-शैली से भिन्न। प्रसिद्ध शब्द का स्वयं कुन्तक ने दो स्थलों पर स्पष्टीकरण किया है :

(अ) **शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकः।** शास्त्र आदि में उपनिबद्ध शब्द अर्थ के सामान्य प्रयोग से भिन्न—अर्थात् प्रसिद्ध का अर्थ है शास्त्र आदि में प्रयुक्त।

(आ) **अतिक्रान्तप्रसिद्धव्यवहारसरणि**···प्रचलित (सामान्य) व्यवहारसरणि का अतिक्रमण करने वाली (वक्रोक्ति)। अर्थात् प्रसिद्ध से अभिप्राय है सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त।

इन दोनों व्याख्याओं के आधार पर 'प्रसिद्धि' का अर्थ हुआ—'शास्त्र और व्यवहार में प्रयुक्त'।

३. विचित्र का भावात्मक अर्थ है :—वैदग्ध्य-जन्य चारुता से युक्त। कुन्तक ने स्थान-स्थान पर वक्र, विचित्र, चारु आदि शब्दों का पर्याय रूप में प्रयोग किया है।

४. वैदग्ध्य से अभिप्राय है कवि-कर्म-कौशल का। अतएव वैदग्ध्य-जन्य चारुता का अर्थ हुआ कविकौशल-जन्य चमत्कार।

५. कविकौशल के लिए कुन्तक ने कवि-व्यापार शब्द का प्रयोग अधिक किया है :

---

* **डॉ० नगेन्द्र**

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।'

कविव्यापार का अर्थ है कवि-प्रतिभा पर आश्रित कर्म : **व्यापारस्य कविप्रतिभोल्लिखितस्य कर्मणः** (जयरथ[1])। प्रतिभा की परिभाषा कुन्तक ने इस प्रकार की है : **प्राक्तनाद्यतन-संस्कार-परिपाक प्रौढ़ा प्रतिभा काचिदेव कविशक्ति** अर्थात् पूर्वजन्म तथा इस जन्म के संस्कारों के परिपाक से प्रौढ़ कविशक्ति का नाम प्रतिभा है। इस प्रकार कविकौशल से अभिप्राय उस व्यापार का है जो पूर्वजन्म के संस्कारों के परिपाक से प्रौढ़ कवि-शक्ति द्वारा अनुप्रेरित होता है।

६. वक्रोक्ति के इस वैचित्र्य या वक्रत्व के लिए कुन्तक ने एक अनिवार्य उपबंध रखा है···तद्विदाह्लादकारित्व। अर्थात् उक्ति का विचित्र अथवा लोक-शास्त्र में प्रयुक्त शब्द अर्थ के उपनिबंध से भिन्न होना ही पर्याप्त नहीं है, और कवि-कौशल पर आश्रित होना भी अन्तिम प्रमाण नहीं है—उसमें तो सहृदय का मन:प्रसादन करने की क्षमता अनिवार्यत: होनी चाहिए। इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं। एक तो यह कि वक्रोक्ति केवल शब्द-क्रीड़ा अथवा अर्थ-क्रीड़ा नहीं है···और दूसरा यह कि वक्रोक्ति का स्वभावोक्ति से कोई विरोध नहीं है क्योंकि स्वभावोक्ति में स्वभाव-वर्णन की सहज चारुता और उसके कारण मन:प्रसादन की क्षमता निश्चय ही वर्तमान रहती है, अर्थात् वक्रोक्ति का विरोध, इतिवृत-वर्णन या भामह आदि के शब्दों में, वार्ता से ही है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर वक्रोति का अर्थ है वक्र या विचित्र उक्ति। इस वक्रता या वैचित्र्य में तीन गुण सन्निहित रहते हैं :

(क) लोक-व्यवहार तथा शास्त्र में रूढ़ शब्द अर्थ प्रयोग से भिन्नता।

(ख) कवि-प्रतिभाजन्य चमत्कार।

(ग) सहृदय के मन:प्रसादन की क्षमता।

अतएव कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति उस उक्ति अथवा कथनशैली का नाम है जो लोकव्यवहार तथा शास्त्र में प्रयुक्त शब्द अर्थ के उपनिबन्ध से भिन्न, कवि-प्रतिभाजन्य चमत्कार के कारण ही सहृदय-आह्लादकारी होती है।

इस विवेचन से कुन्तक के तीन मूल सिद्धांत सामने आते हैं :

१. काव्य की शैली शास्त्र और लोक-व्यवहार की शैली से अनिवार्यत: भिन्न होती है।

२. काव्य का मूल हेतु है कवि की प्रतिभा और स्वभाव। कवि काव्य का माध्यम मात्र नहीं है, कर्त्ता है, अर्थात् काव्य कवि का कर्म है—अव्यक्तिगत सृष्टि नहीं है। इस प्रकार कुन्तक ने अत्यन्त प्रबल शब्दों में काव्य में कवि के कर्तृत्व की घोषणा की है।

३. प्रतिभा इस जन्म और पूर्वजन्मों के संस्कारों का परिपाक है।

(ख) वक्रोक्ति के भेद

कुन्तक ने मूलत: वक्रोक्ति के ६ भेद किए हैं। ये भेद विस्तार-क्रम से वैज्ञानिक

---

१. **रुय्यक के काव्यालंकारसर्वस्व की टीका—डॉ० डे० की भूमिका में उद्धृत।**

पद्धति पर किये गए हैं । काव्य के लघुतम अवयव वर्ण से आरंभ होकर ये उसके महत्तम रूप महाकाव्य तक क्रमशः विकसित होते जाते हैं । कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति के ६ मौलिक भेद इस प्रकार हैं :

१. वर्णविन्यास-वक्रता २. पदपूर्वार्ध-वक्रता ३. पदपरार्ध-वक्रता ४. वाक्य वक्रता ५. प्रकरण-वक्रता ६. प्रबंध-वक्रता । इनके फिर अनेक प्रभेद है ।

वर्ण विन्यास वक्रता

एको द्वौ बहवो वर्णाः बध्यमानाः पुनः पुनः ।
स्वल्पान्तरास्त्रिधा सोक्ता वर्णविन्यासवक्रता ।— व० जी० २, १

अर्थात् जिसमें एक-दो या बहुत-से वर्ण थोड़े-थोड़े अन्तर से बार-बार (उसी रूप में) ग्रथित होते हैं, वह वर्ण-विन्यास-वक्रता अर्थात् वर्ण-रचना की वक्रता कहलाती है ।

यह वर्ण शब्द व्यंजन का पर्याय है । इस प्रकार (वर्ण शब्द के व्यंजन अर्थ में) प्रसिद्ध होने से । (हिन्दी व० जे० २।२ की वृत्ति)

यह वर्ण-विन्यास-वक्रता का अन्य आचार्यों का अनुप्रास ही है । अनुप्रास में भी व्यंजन का साम्य ही अपेक्षित है, स्वर का नहीं । कुन्तक ने इस तथ्य को स्वयं स्पष्ट कर दिया है । एतदेव वर्णविन्यासवक्रत्वं चिरन्तनेष्वनुप्रास इति प्रसिद्धम् । अर्थात् यही वर्ण विन्यास-वक्रता प्राचीन आचार्यों में अनुप्रास नाम से प्रसिद्ध है । (हिन्दी व०जी०पृ. ६६)। वर्ण विन्यास-वक्रता कुन्तक के अनुसार तीन प्रकार की है : इन तीनों प्रकारों का आधार है क्रमशः एक वर्ण की आवृति दो वर्णों की आवृत्ति और अनेक वर्णों की आवृत्ति । आगे चलकर कुन्तक ने फिर एक अन्य रीति से वर्ण-विन्यास-वक्रता के भेद किये हैं : इस (दूसरे प्रकार की वर्णविन्यास वक्रता) के वे कौन से तीन प्रकार है, यह कहते हैं । १. वर्गान्त से युक्तस्पर्श । ककार से लेकर मकार पर्यन्त वर्ग के वर्णस्पर्श कहलाते हैं । इनके अन्त के ङ् कार आदि के साथ संयोग जिनका हो वे वर्गान्तयोगी हैं । इनकी पुनः पुनः आवृत्ति वर्ण-विन्यास-वक्रता का प्रथम प्रकार है । तलनादयः अर्थात् तकार लकार और नकार आदि द्विरुक्त अर्थात् द्वित्व रूप में दो बार उच्चारित होकर जहां बार-बार निबद्ध हों वह दूसरा प्रकार है । इन दोनों से भिन्न शेष व्यंजक-संज्ञक वर्णरेफ आदि से संयुक्त रूप में जहाँ निबद्ध हों वह तीसरा प्रकार है । इन सभी भेदों में पुनः पुनः निबद्ध व्यंजन थोड़े अन्तर वाले अर्थात् परिमित व्यवधान वाले होने चाहिए यह सबके साथ सम्बद्ध हैं ।'

(हिन्दी व० जी० २:२ कारिका की वृत्ति)

इस प्रकार वर्ण-विन्यास-वक्रता के ये तीन भेद संक्षेप में इस प्रकार हैं : (१) जहाँ वर्गान्तयोगी स्पर्शों की आवृत्ति हो, (२) जहाँ त, ल, न आदि वर्णों की द्वित्व रूप में आवृत्ति हो और (३) जहाँ इन दोनों वर्गों के अतिरिक्त वर्णों की रेफ आदि से संयुक्त रूप में आवृत्ति हो ।

ये वास्तव में वर्णसंयोजनाओं के विभिन्न रूप-प्रकार हैं । प्राचीन आचार्यों ने वृत्तियों तथा अनुप्रास-चक्र में इनका अन्तर्भाव किया है । उनके अनुसार भी अनुप्रास में व्यंजनों का ही चमत्कार है और व्यंजनों की संयोजनाओं के प्रकार भी बहुत-कुछ ये ही

हैं। साहित्यदर्पणकार ने अनुप्रास की परिभाषा और रूप-भेदों का विवेचन इस प्रकार किया हैं। स्वर की विषमजा रहने पर भी शब्द अर्थात् पद, पदांश के साम्य (सादृश्य) को 'अनुप्रास' कहते हैं। व्यंकनों के समुदाय की एक ही बार अनेक प्रकार की समानता होने से उसे 'छेक' अर्थात् छेकानुप्रास कहते हैं। अनेक व्यंजनों की एक ही प्रकार से (केवलं स्वरूप से ही, क्रम से नहीं) समानता होने पर, अथवा अनेक व्यंजनों की अनेक बार आवृत्तिहोने पर यद्वा अनेक प्रकार से (स्वरूप और क्रम दोनों से) अनेक बार अनेक वर्णों की आवृत्तिहोने पर किंवा एक ही वर्ण की एक ही बार समानता (आवृत्ति द्वारा) होने पर, या एक ही वर्ण की अनेक बार आवृत्ति होने पर 'वृत्त्यनुप्रास' नामक शब्दालंकार होता है। तालु, कण्ठ, मूर्धा, दन्त आदि किसी एक स्थान में उच्चरित होने वाले व्यंजनों की (स्वरों की नहीं) समता को श्रुत्यनुप्रास कहते हैं। पहले स्वर के साथ ही यदि यथावस्थ व्यंजन की आवृत्ति हो तो वह अन्त्यानुप्रास कहलाता है। केवल तात्पर्य भिन्न होने पर शब्द और अर्थ वोनों की आवृत्ति होने से लाटानुप्रास होता है।

इनके अतिरिक्त प्राचीनों की वृत्तियों—उपनागरिका, परुषा और कोमला का भी कुन्तक ने वर्ण-विन्यास-वक्रता में ही अन्तर्भाव कर लिया है।

आगे चलकर कुन्तक ने यमक को भी इसी परिधि में ले लिया है। यमक, यमकाभास अथवा यमक से साम्य रखने वाले अन्य वर्ण-चमत्कार वर्णविन्यास-वक्रता के अन्तर्गत आ जाते हैं :—समान वर्ण वाले किन्तु भिन्नार्थक, प्रसादगुणयुक्त, श्रुतिमधुर, औचित्य से युक्त आदि, (मध्य तथा अन्त) आदि स्थानों पर शोभित होने वाला जो यमक नामक प्रकार है वह भी हसी का भेद है (२।६-७)। इसी प्रकार यमकाभास भी वर्ण-विन्यास का ही चमत्कार है जो सहृदयों का हृदयहारी होता है। यमकाभास से अभिप्राय ऐसे वर्ण चमत्कार से है जिसमें भिन्नार्थ वर्णयोजना सर्वथा समान न होकर ईषत् भिन्न होती है। उदाहरण के लिए 'स्वस्था: सन्तु-वसन्त' में सन्तु और सन्त की आवृत्ति अथवा 'राजीवजीवितेश्वरे' में जीव और जीवी की आवृत्ति यमकाभास हैं। इन्हीं से मिलता-जुलता एक और भी वर्ण-चमत्कार होता है जहाँ, कहीं-कहीं व्यवधान के न होने पर भी केवल (बीच में आने वाले) स्वरों के भेद से हृदयाकर्षक रचना सौन्दर्य को अत्यन्त परिपुष्ट करती है (२।३)। यह वर्ण-योजना यमक के गोत्र की होती हुई भी यमक से भिन्न है। यमक में नियत स्थान पर वर्णों की आवृत्ति करने का नियम है पर यहाँ स्थान का कोई नियम नहीं है। यहाँ आवृत्ति वाले वर्ण वे ही होते हैं, परन्तु बीच में अवस्थित स्वरों का वैषम्य चमत्कार उत्पन्न कर देता है। उदाहरणार्थ 'केलिकलित', 'कदलदल' आदि में उपर्युक्त प्रकार का चमत्कार लक्षित होत है।

इस प्रकार वर्णविन्यास के प्राय: सभी प्रसिद्ध प्रयोगों को कुन्तक ने अपनी वर्ण-विन्यास-वक्रता के अन्तर्गत माना है। अनुप्रास के समस्त भेद, वृत्तियाँ, यमक तथा यमकाभास आदि सभी का अन्तर्भाव इसमें हो जाता है। फिर भी वर्ण-सौन्दर्य परिमित-भेद नहीं है और न वह स्वतन्त्र ही है। वर्णों की कवि-प्रतिभा के अनुसार असंख्य योजनाएँ हो सकती हैं, जिनसे अनेक प्रकार के चमत्कार की सृष्टि हो सकती है। इन सबकी गणना कर वर्ण-विन्यास-वक्रता के भेदों को परिमित कर देना सम्भव नहीं है। इसके

साथ ही, वर्णविन्यास कौशल अपने आपमें स्वतन्त्र भी नहीं हैं। इसीलिए कुन्तक ने उसके लिए कतिपय प्रतिबन्ध आवश्यक माने हैं :

(१) पहला प्रतिबन्ध यह है कि वर्णयोजना सदा प्रस्तुत विषय के अनुकूल होनी चाहिए। और वे (वर्ण) कैसे होने चाहिएँ ? प्रस्तुत अर्थात् वर्ण्यमान वस्तु के औचित्य से शोभित। न कि वर्णसाम्य के व्यसन मात्र के कारण उपनिबद्ध होने से प्रस्तुत वस्तु के औचित्य को मलिन करने वाले। (हि० व० जी० २.२ कारिका की वृत्ति)।

(२) दूसरा प्रतिबन्ध यह है कि वर्णविन्यास-वक्रता अत्यन्त आग्रहपूर्वक विरचित न हो और न असुन्दर वर्णों से भूषित हो। (२.४)।

(३) उसमें वैचित्र्य होना चाहिए : उसे पूर्व आवृत्त वर्णों को छोड़ नवीन के पुनरावर्तन से मनोहर बनाना चाहिए। (२.४)।

(४) इसके अतिरिक्त यमकादि की वर्णयोजना के लिए विशेष रूप से, और साधारण वर्णयोजना के लिए सामान्य रूप से प्रसाद गुण भी सर्वथा आवश्यक है।

(५) वर्णयोजना का छठा प्रतिबन्ध है श्रुतिपेशलता, अर्थात् प्रस्तुत रसादि के अनुकूल वर्णविन्यास में अन्य चाहे कोई भी चमत्कार वर्तमान हो, किन्तु वह श्रुति-सुखद तो प्रत्येक स्थिति में ही होना चाहिए। (२.४)

कुन्तक ने अपनी वर्णविन्यास-वक्रता का विवेचन सामान्यत: इसी रूप में किया है। काव्य का प्रथम आधार है वर्ण। सभी आचार्यों ने अपने सिद्धांत के अनुसार वर्ण पर आश्रित चमत्कारों का वर्णन अनेक रूपों में किया है। कुन्तक के पूर्ववर्ती आचार्यों ने अनुप्रासादि शब्दालंकारों तथा वृत्तियों के आश्रय से वर्णचमत्कार का विवेचन किया है। किन्तु कुन्तक ने वर्णगत समस्त सौन्दर्य को सर्वव्यापी वक्रोक्ति का प्रथम अंग मानते हुए, वर्णविन्यास-वक्रता के अन्तर्गत अपने सिद्धांत के अनुकूल ही सर्वथा मौलिक रूप में, उसका उद्घाटन किया है। ध्वनिकार के विवेचन के समान उनके विवेचन का भी महत्व यह है कि वर्णसौन्दर्य काव्य शास्त्र का एक पृथक् विषय न रहकर संपूर्ण काव्य-चक्र का एक अविच्छिन्न अंग बन गया है।

पदपूर्वार्ध-वक्रता

वर्ण के उपरान्त काव्य का दूसरा अवयव पद है जो अनेक वर्णों का समुदाय रूप होता है। अतएव क्रमानुसार कुन्तक उसीको ग्रहण करते हैं। परन्तु पद के भी दो अंग हैं (१) पदपूर्वार्ध और (२) पदपरार्ध-अतएव उन दोनों का पृथक् वर्णन किया जाता है।

व्याकरण में पदपूर्वार्ध का दूसरा नाम प्रकृति भी है। संस्कृत में पद मूलत: दो प्रकार के होते हैं : सुबन्त और तिङन्त। सुबन्त का पूर्वार्ध प्रातिपदिक और तिङन्त का धातु कहलाता है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार पद का अर्थ है विभक्ति से युक्त शब्द जो वाक्य में प्रयुक्त होता है। पद के दो अंग हैं : (१) प्रकृति और प्रत्यय। प्रकृति के भी दो रूप हैं : (१) प्रातिपादिक और धातु। सुबन्त पद का पूर्वार्ध प्रातिपदिक और तिङन्त का धातु कहलाता है। प्रकृति मूल शब्द है—प्रत्यय में भी अर्थ निहित रहता है जिसके संयोग से मूल अर्थ की वाच्यता सिद्ध हो जाती है। हिंदी में इस प्रकार का शब्द-विभाजन

है तो अवश्य किन्तु वह इतना स्पष्ट नहीं है जितना संस्कृत में।

अतएव पदपूर्वार्ध-वक्रता से अभिप्राय प्रातिपदिक तथा धातु की अथवा यों कहिए कि मूल शब्द की वक्रका से है।

पदपूर्वार्ध-वक्रता के ८ मुख्य भेद हैं : १ —रुढ़िवैचित्र्य-वक्रता, २ —पर्याय-वक्रता, ३ —उपचार-वक्रता, ४—विशेषया-वक्रता, ५ —संवृति-वक्रता, ६ —वृत्ति, वक्रता, ७ —लिंगवैचित्र्य-वक्रता ८ —क्रियावैचित्र्य-वक्रता।

पदपरार्ध-वक्रता

पदपूर्वार्ध के अन्तर्गत पदों के पूर्वार्ध अर्थात् प्रातिपदिक और धातु का विचार किया गया। पदपरार्ध के अन्तर्गत पदों के उत्तरार्ध का विचार किया जाएगा। यह सामान्यत: प्रत्यय रूप होता है, अतएव पदपरार्ध वक्रता को प्रत्यय-वक्रता भी कहते हैं।

कुन्तक ने पदपरार्ध-वक्रता के छह मुख्य भेदों का वर्णन किया है।

१ —कालवैचित्र्य-वक्रता

पदपूर्वार्ध-वक्रता का प्रसंग क्रिया विक्रता के साथ समाप्त हुआ था, अतएव उसी क्रम-शृंखला में क्रिया से सम्बद्ध काल की वक्रता का वर्णन आरम्भ करते हैं।

जहाँ औचित्य के अनुरूप काल-रमणीयता को प्राप्त हो जाता है, वहाँ काल वैचित्र्य-वक्रता होती है। (२।२६)। अर्थात् जिसमें चमत्कार काल-विशेष के प्रयोग पर आश्रित रहता है, उसे कालवैचित्र्य-वक्रता कहते हैं। परन्तु इसमें औचित्य का प्रतिबन्ध है, काल का वक्र यह प्रयोग प्रसंग एवं परिस्थिति के अनुकूल तथा सार्थक होना चाहिए। अन्यथा वह व्याकरण की त्रुटि मात्र होकर रह जाएगा।

उदाहरण :—समविषम के भेद से रहित, मन्द-मन्द संचरण योग्य (अर्थात् जिन पर धीरे-धीरे सावधानी के साथ ही चलना संभव है) मार्ग शीघ्र ही मनोरथों के लिए भी दुर्ल्लंय हो जाएंगे। यह किसी विरही की कातर उक्ति है। यहाँ हो जाएंगे—यह भविष्यत्कालिक क्रियापद चमत्कार का आधार है। अभी वर्षा समय की उत्प्रेक्षा—कल्पना मात्र से ही इतना भय है, तो उसके वर्तमान होने पर अर्थात् वास्तव में उपस्थित हो जाने पर क्या होगा? वैचित्र्य का मूल कारण यह अर्थ व्यंजना है, जो निश्चय ही काल पर आश्रित हैं। अतएव यह काल-वैचित्र्य-वक्रता का उदाहरण हुआ।

हिन्दी उदाहरण—

बौरन चूमि को एलिया घूमि करेजन की
किरचैं करि दैहै।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के 'ऐतिहासिक वर्तमान' आदि प्रयोगों में भी यही काल-वक्रता रहती है। 'ऐतिहासिक वर्तमान' में भूतकालिक घटना का वर्तमानकालिक क्रियाओं द्वारा वर्णन कर सजीवता उत्पन्न की जाती है।

बिहारी के निम्नलिखित दोहे में भी एक प्रकार की काल-वैचित्र्य-वक्रता है :

नासा मोरि नचाय दृग करी कका की सौंह ।
काँटे सी कसकति हियें गड़ी कँटीली भौंह ।।

नायिका ने ये चेष्टाएँ भूतकाल में की थीं—भौंह न जाने कब गड़ी थी, पर वह ग्राज भी कसक रही है। यहाँ 'कसकति' क्रिया का वर्तमान काल चमत्कार का ग्राधार है।

२—कारक-वक्रता

इस वैचित्र्य का ग्राधार है कारक-प्रयोग । सामान्य कारक का मुख्य रूप से ग्रौर मुख्य का सामान्य रूप से कथन कर तथा कारकों का विपर्यय कर ग्रर्थात् कर्ता का कर्म या करण का रूप, ग्रौर कर्म या करण को कर्ता का रूप देकर प्रतिभावान कवि ग्रपनी उक्ति में एक ग्रपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर देता है। यही कारकवैचित्र्य-वक्रता है। (२।२७-२८)

उदाहरण—

पाणि सम्प्रति ते हठात् किमपरं स्पष्टुं धनुर्धावति ।

राम कुद्ध होकर समुद्र से कहते हैं कि तेरी धृष्टता से मेरा हाथ ग्रब विवश होकर धनुष को पकड़ने के लिए बढ़ रहा है।

यहाँ हाथ वास्तव में करण कारक होना चाहिए, किन्तु कवि ने उसका कर्ता के रूप में प्रयोग किया है।

देखिए—

हर धनुर्भंग का पुनर्वार ज्यों उठा हस्त ।
— निराला

झींगुर के स्वर का प्रखर तीर, केवल प्रशन्ति को रहा चीर ।
—पंत

३— संख्या-वक्रता या वचन-वक्रता

काव्य में वैचित्र्य उत्पन्न करने के लिए जहाँ कविजन इच्छापूर्वक संख्या ग्रर्थात् वचन का विपर्यास कर देते हैं, वहाँ कुन्तक के मत से संख्या-वक्रता होती है (२।२९)।

मर्मज्ञ कवि वास्तव में ग्रपने काव्य के छोटे-छोटे ग्रवयव को सार्थक बना देता है। दुष्यन्त की इस प्रसिद्ध उक्ति में वचन का ही चमत्कार है।—

वयं तत्वान्वेषान्मधुकर हतास्वं खलु कृती ।

ग्रर्थात्

हम पूछत जातिहि पाँति मरे, धनि रे धनि मौर कहावत तू ।

यहाँ राजा को सामान्यत: ग्रपने लिए एक वचन ग्रहं या मैं का प्रयोग करना चाहिए था, किन्तु ग्रात्म-निन्दा या विरक्ति की व्यंजना के लिए वह बहुवचन वयं या हम का प्रयोग करता है। कहीं-कहीं भिन्न वचनान्त शब्दों के समानाधिकरण में भी विचित्र चमत्कार होता है। इस प्रसंग में कुन्तक ने यह उदाहरण दिया है : **शास्त्राणि चक्षुर्नवम्**, ग्रर्थात् शास्त्र उसका नवीन नेत्र है। इसमें शास्त्र बहुवचनान्त हैं ग्रौर नेत्र एकवचन है।

इसी प्रकार :—हैं ये ऊजड़ ग्राम देश का हृदय चिरंतन—यहाँ भी वही चमत्कार है।

४ – **पुरुष-वक्रता**

जहाँ सौन्दर्य के लिए उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष का विपरीत रूप से प्रयोग होता है, वहाँ कुन्तक के अनुसार पुरुष-वक्रता समझनी चाहिए। (२।३०)। विपरीत रूप से प्रयोग का अर्थ यह है कि उत्तम और मध्यम पुरुषों के स्थान पर अन्य पुरुष का प्रयोग काव्य-शोभा के निमित्त किया जाता है। इसका तात्पर्य वास्तव में यह है कि उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष दोनों का वाचन प्रत्यक्ष रूप से होता है—इन दोनों के प्रयोग में एक प्रकार की प्रत्यक्षता और तज्जन्य निकटता रहती है। कभी-कभी उदासीन भाव, सम्मान अथवा निरहंकारिता आदि की अभिव्यक्ति के लिए इन दोनों प्रत्यक्ष-वाचक पुरुषों के स्थान पर अन्य वाचक अन्य पुरुष का प्रयोग अत्यन्त सार्थक और व्यंजक होता है। पुरुष का यह चमत्कारपूर्ण सार्थक प्रयोग ही पुरुष-वक्रता है।

इसके उदाहरण में तापसवत्सराज का यह श्लोक उद्धृत किया गया है :—'दुष्ट शत्रुओं द्वारा अधिकृत कौशाम्बी को जीतकर नीतिद्वेषी महाराज की प्रमादी प्रकृति को मैं जानता हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि पति के वियोग में स्त्रियों का चित्त सदैव खिन्न रहता है। अतएव मेरा मन कुछ कहने का साहस नहीं करता। आगे, देवी स्वयं जानें।'

यहाँ 'आप' मध्यम पुरुष के स्थान पर कवि ने अन्य पुरुष 'देवी' का सार्थक प्रयोग अपनी उदासीनता की व्यंजना करने के निमित्त किया है। 'आप' में निकटता के कारण अधिकार और आग्रह का भाव आ जाता, जिसे कवि-निबद्ध पात्र — मन्त्री योगन्धरायण, रानी पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालने के लिए छिपाना चाहता है। अतएव कविने अन्य पुरुष का प्रयोग किया है।

हिन्दी में पुरुष-विपर्यय का प्रयोग इतना प्रचुर नहीं है जितना संस्कृत में। किन्तु फिर भी यह प्रयोग भाषागत रूढ़ि न होकर मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है, इसलिए न केवल हिन्दी में वरन् अन्य भाषाओं में भी इसकी सार्वभौम स्वीकृति है। संस्कृत के अत्र-भवान् आदि और अंग्रेजी के 'योर मेजेस्टी' आदि सम्मानार्थ प्रयोगों में यही प्रेरणा वर्तमान है। सामान्य वार्तालाप में भी 'मैं' न कहकर हम कभी-कभी विनय आदि की व्यंजना के लिए 'आपका दास' आदि पदों का प्रयोग करते हैं। संस्कृत में 'अयं जन:' का प्रयोग भी इसी आशय से किया जाता है।

कुछ उदाहरण लीजिए :

१—करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाये।
फूल उठे हैं कमल, अधर-से ये बंधूक सुहाये॥

—मैथिली शरण गुप्त

२—किंवा यह,—देव हैं दया-शरीर
देख कर भूतल के तप्त क्षेत्र
प्रभु के सहस्र नेत्र

तप्त हो उठे थे प्राणियों के दुःखताप से :
और इसी हेतु बिना जाने ही, बिना कही
प्राप्त हुई आज्ञा वही
सेवक को अपने ही आप से ।
... ...
गुरुवर पदाब्जों में ...
राजाधिप शूरसेन-सूनु यह नत है ।
—सियारामशरण गुप्त

५—उपग्रह-वक्रता

उपग्रह का अर्थ है धातु-पद । संस्कृत में धातुओं के दो पद होते हैं—परस्मैपद और आत्मनेपद । जिसमें काव्य की शोभा के लिए (परस्मैद और आत्मनेपद) दोनों पदों में से औचित्य के कारण किसी एक का प्रयोग किया जाता है, उसको उपग्रह-वक्रता कहते हैं । (३:३९) ।

वास्तव में अपने रूढ़ रूप में तो उपग्रह का चमत्कार संस्कृत में ही संभव है क्योंकि हिंदी में आदि में आत्मनेपद यथावत् नहीं होता । फिर भी इस प्रकार के कर्म कर्तृ वाच्य प्रयोगों का हिंदी में अभाव नहीं है—और कहीं-कहीं उनमें अपूर्व चमत्कार भी निहित रहता है । 'हाथ छूट जाना' आदि मुहावरों में इसका पूरा चमत्कार वर्तमान रहता है । इसके अतिरिक्त आत्मनेपद का संस्कार तो हिन्दी में स्पष्ट लक्षित ही है । आँख खुल गई, हाथ छुट गया, जीभ कट गई आदि कर्मकर्तृ प्रयोग ही हैं । जहाँ इनका प्रयोग सचेष्ट रूप में विशेष सौन्दर्य की व्यंजना करने के लिए किया जाता है, वहाँ हिन्दी-प्रयोगों में भी निश्चय ही उपग्रह-वक्रता का चमत्कार वर्तमान रहता है ।

१ – उठती यह भौंह भी भला
उनके ऊपर तो अचंचला ।
—मैथिलीशरण गुप्त

२ – मैं जभी तौलने का करती
उपचार स्वयं तुल जाती हूँ ।
—प्रसाद

३ – छूटि गयो मान वा सलोनी मुसकानि में

४ – हौं तो याही सोच में बिचारत रही ही काहे
दर्पन हाथ ते न छिन बिसरत है ।
—भारतेन्दु

६—प्रत्यय-वक्रता

सामान्यतः यह सभी प्रत्यय का ही चमत्कार है । परन्तु कहीं-कहीं उपर्युक्त प्रत्यय प्रयोगों से भिन्न, एक प्रत्यय में दूसरा लगाकर मर्मज्ञ कवि एक अपूर्व सौन्दर्य

उत्पन्न कर देता है। इसी को कुन्तक ने स्वतन्त्र रूप से प्रत्यय-वक्रता का नाम दिया है। (२।३२)।

उदाहरण :

येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुतिरुरिचना गोपवेषस्य विष्णोः[1]

अर्थात् जिसके संसर्ग से मोर पंख को धारण करने वाले गोपवेश विष्णु के (शरीर के) समान तेरा श्यामल शरीर भी कान्तिमय हो जाएगा।

उपर्युक्त संस्कृत छन्द में 'अतितरां' इस प्रत्यय-वक्रता का उदाहरण है। अति में तरप् प्रत्यय लगाकर अतितरां पद का निर्माण हुआ है : अति में तो प्रत्यय पहले से ही वर्तमान है, उसमें तरप् प्रत्यय और लगाकर यह चमत्कार उत्पन्न किया गया है।

हिन्दी में प्रत्यय की स्थिति उतनी स्पष्ट नहीं है जितनी संस्कृत में। जैसा संस्कृत के सुबन्त और तिङन्त पदों में मिलता है, वैसा शब्द के मूल प्रत्यय का अस्तित्व तो हिंदी में प्रायः रहा ही नहीं है। अतएवं हिन्दी में प्रायः दुहरा प्रत्यय ही लक्षित होता है : जैसे सँदेसड़ा, घइलवा आदि। संदेश (श) और घइल में घञ् जैसा कोई मूल प्रत्यय पहले से ही वर्तमान है, उसमें स्वार्थवाचक 'ड़ा' 'वा' और लगाकर 'सँदेसड़ा तथा 'घइलवा' का निर्माण हुआ है। इनका भाव-प्रेरित प्रयोग ही प्रत्यय वक्रता का मूल आधार है।

पिय सों कहहु सँदेसड़ा, हे भौंरा, हे काग।
वह धनि बिरहै जरि मुई, तेहिक धुआँ हम लाग।

—जायसी

आगि लागि घर जरिगा, विधि भल कीन्ह।
पिय के हाथ घइलवा भरि भरि दीन्ह ॥

—रहीम

उपर्युक्त दोनों प्रत्यय अत्यन्त नैकट्य और अन्तरंगता के द्योतक हैं : सामान्य स्वजन के लिए सन्देश और प्रिय के लिए सँदेसड़ा। घइलवा का 'वा' भी इसी स्नेहातिशयता का सूचक है।

प्रत्यय-वक्रता के इस रूप के साथ कुन्तक का पदपरार्धवक्रता-विवेचन समाप्त हो जाता है। पद पूर्वार्ध वक्रता की भाँति प्रत्यय-वक्रता के भी अनेक भेद हो सकते हैं, परन्तु उनका अन्तर्भाव प्रायः उपर्युक्त भेदों में हो जाता है।

वाक्य-वक्रता और वस्तु-वक्रता

वर्णों से प्रकृति तथा प्रत्यय—पदपूर्वार्ध तथा पदपरार्ध का निर्माण होता है और

---

१. **इन्द्र चाप रुचिदान जासु मिलि तो तनु कारो।**
पावत है छवि अधिक लगत नैनन को प्यारो।
मोर चन्द्रिका संग सुभग जैसे मन मोहत।
गोपवेष गोविन्द बहुत-श्यामल तन सोहत।

—हिंदी मेघदूत : लक्ष्मणसिंह

पदों से वाक्यों का। इस प्रकार क्रमशः वक्रता के प्रभाव-क्षेत्र का विस्तार करते हुए कुन्तक वर्ण के पश्चात् यथा प्रकृति-प्रत्यय के पश्चात् वाक्य की वक्रता का विवेचन करते हैं। अनेक पदों के संयोजन का नाम वाक्य है। वाक्य का यह अपने आपमें पूर्ण अर्थ अनेक पदों के अर्थ का समंजित रूप होता है। इस प्रकार वाक्य की वक्रता सामान्यतः पदार्थ अथवा अर्थ की वक्रता है, जिसकी परिभाषा कुन्तक के शब्दों में यह है :

'वस्तु का उत्कर्ष – युक्त स्वभाव से सुन्दर रूप में केवल शब्दों द्वारा वर्णन अर्थ अथवा वाच्य की वक्रता कहलाती है।'

(हिन्दी व० जी० ३।१)

अतएव वाच्य वक्रता का दूसरा नाम वस्तु-वक्रता भी है। कुन्तक ने तृतीय उन्मेष के आरम्भ में प्रस्तुत विषय का विवेचन किया है। उसका निष्कर्ष इस प्रकार है – वाक्य अथवा वाच्य अथवा वस्तु की वक्रता सामान्यतः एक ही बात है। इसके दो भेद हैं : १. सहजा और २. आहर्या : **सैषा सहजाहार्य भेंदभिन्नावर्णनीयस्य वस्तुनो द्विप्रकारस्य वक्रता** (व० जी० ३।२ वृत्ति)। वस्तु की सहज और आहार्य भेद से प्रकार की वक्रता होती है। सहज का अर्थ है सहज शक्ति द्वारा उन्पन्न। इसके अन्तर्गत वस्तु के स्वभाव का सहज सुन्दर वर्णन आता है। आहार्य का अर्थ है व्युत्पत्ति तथा शिक्षाभ्यास द्वारा अर्जित-प्रस्तुत सौन्दर्य रूपिणी होने पर भी यह अर्थालंकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है : **तदेवमाहार्या येयं सा प्रस्तुत-विच्छतिविधाय्यलंकारव्यातिरेकेण नान्या काविदुपपद्यते**। (हिन्दी व० जी० ३।२ की वृत्ति)। इस प्रकार वाच्य या वस्तु वक्रता के दो भेद हुए हैं : १. पदार्थ की स्वाभाविक शोभा का वर्णन (स्वभावोक्ति, जो कुन्तक के अनुसार अलंकार्य है), २ अर्थालंकार।

प्रकरण-वक्रता

प्रकरण-वक्रता की परिभाषा को कुन्तक विशेष स्पष्ट नहीं कर सके : जहाँ अपने अभिप्राय को अभिव्यक्त करने वाली और अपरिमित उत्साह के व्यापार से शोभायमान व्यवहर्ताओं (कवियों) की प्रवृत्ति होती है वहाँ, और प्रारम्भ से ही निःशंक रूप से उठने या उठाने की इच्छा होने पर (अर्थात् जहाँ प्रारंभ से ही निर्भय होकर अपने अथवा अपनी रचना को उठाने की अदम्य इच्छा हो, वहाँ) वह प्रकरण-वक्रता निस्सीम होकर प्रकाशित हो उठती है। (व० जी० ४।१-२।)

यह वाक्य अधिक स्वच्छ नहीं है, वृत्ति के खण्डान्वय से यह और भी उलझ जाता है, परतु कुन्तक के आशय में कोई भ्रान्ति नहीं है। उनका अभिप्राय यह है कि सृजन के उत्साह से प्रेरित होकर कवि अपने वस्तु वर्णन में जो अपूर्व उत्कर्ष उत्पन्न करता है वह प्रकरण वक्रता है। आगे चलकर कुन्तक ने भेद-प्रभेदों का इतना विशद निरूपण किया है कि प्रकरण-वक्रता का स्वरूप सर्वथा स्पष्ट हो जाता है।

प्रकरण का अर्थ कुन्तक के शब्दों में है : प्रबंध का एक देश अर्थात् कथा का एक प्रसंग—**प्रबन्धस्यैकदेशानां**···। (हिन्दी व० जी० परिशिष्ट ४।५)। समग्र कथा विधान का नाम प्रबन्ध है और उसके अंग अथवा प्रसंग का नाम प्रकरण है। प्रकरण पर आश्रित

अथवा प्रकरण में निहित काव्य चमत्कार का नाम प्रकरण वक्रता है। जहाँ प्रसंग विशेष के उत्कर्ष से संपूर्ण प्रबंध उज्ज्वल हो उठता है, वहाँ प्रकरण-वक्रता होती है, अर्थात् संपूर्ण प्रबंध को दीप्त करने वाला प्रबंध के एक देश का चमत्कार प्रकरण-वक्रता के नाम से अभिहित होता है।

प्रकरण-वक्रता के सामान्य रूप का उद्घाटन एक दो उदाहरणों द्वारा करने के उपरान्त कुन्तक ने आठ-नौ विशिष्ट भेदों का उल्लेख किया है। सामान्य रूप में स्थिति के सजीव चित्रण को ही कुन्तक ने प्रकरण वक्रता माना है और संस्कृत के सेतुबंध नामक नाटक के तृतीय अंक 'अभिजात-जानकी' से एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें सेनापति नील की प्रेरक उक्ति के परिणाम-स्वरूप वानरों के आन्दोलन का सजीव चित्रण है। यहाँ प्रकरण वक्रता की परिधि अत्यन्त सीमित है—इसके आगे आठ-नौ विशिष्ट भेदों का वर्णन इस प्रकार है :

१. भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना

जहाँ किसी ऐसी भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना की जाए जो पात्रों के चरित्र का उत्कर्ष करती हो, वहाँ प्रकरण-वक्रता का प्रथम भेद उपलब्ध होता है; उदाहरण के लिए रघुवंश के पंचम सर्ग में रघु और कौत्स का संवाद। इस प्रसंग का सारांश यह है—परन्तु मुनि के शिष्य कौत्स गुरु दक्षिणा चुकाने के लिए महाराज रघु के पास १४ कोटि द्रव्य माँगने आये। किन्तु उससे पूर्व ही रघु विश्वजित् नामक योग सम्पन्न कर चुके थे और उनके पास मिट्टी के पात्रों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं शेष रह गया था। कौत्स मुनि को जब यह ज्ञात हुआ तो वे राजा को आशीर्वाद देकर जाने लगे। किन्तु राजा को इस प्रकार ब्राह्मण का विमुख होकर लौटना असह्य प्रतीत हुआ और वे कुबेर पर चढ़ाई करने का विचार कर ही रहे थे कि कुबेर के यहाँ से आवश्यकता से कहीं अधिक द्रव्य उसी रात्रि प्राप्त हो गया। राजा ने वह सारा धन कौत्स मुनि के समक्ष प्रस्तुत कर दिया। परन्तु निस्गृह मुनि ने आवश्यकता से अधिक अणुमात्र भी स्वीकार नहीं किया। साकेत-वासी इन दोनों के ही व्यवहार को देखकर मुग्ध हो गये : एक ओर गुरु दक्षिणा से अधिक दान के प्रति निस्पृह याचक था और दूसरी ओर याचक की इच्छा से अधिक दान करने वाला राजा। कालिदास ने इस त्रावपूर्ण स्थिति की उद्भावना से दोनों पात्रों के चरित्र का उत्कर्ष प्रदर्शित करते हुए अपनी प्रबंध-कल्पना को और भी अधिक प्रभावशाली बना दिया है। हिन्दी में भी इस प्रकार के अनेक प्रसंग उपलब्ध हो सकते हैं : उदाहरण के लिए साकेत का यह मार्मिक स्थल उद्धृत किया जा सकता है :

> **आ भाई, वह वैर भूलकर हम दोनों समदुःखी मित्र**
> **आजा क्षण भर भेंट परस्पर, कर लें अपने नेत्र पवित्र।**
> **हाय ! किन्तु इससे पहले ही मूर्छित हुआ निशाचर-राज,**
> **प्रभु भी यह कह गिरे राम से रावण ही सहृदय है आज।**

लक्ष्मण-शक्ति के उपरान्त शोक-विक्षिप्त राम युद्ध में प्रलय मचा देते हैं—इतने ही में उनके सम्मुख कुम्भकरण आ जाता है और वे 'भाई का बदला भाई ही' कहकर

उसका वध कर डालते हैं। उसी समय रावण को देखकर राम की उत्तेजना क्षण भर के लिए शान्त हो जाती है और भ्रातृहीन रावण तथा अपने बीच में वे एक प्रकार के शोक-सौहार्द का अनुभव करने लगते हैं। परन्तु राम रावण की ओर संवेदनार्थ बढ़ने भी न पाये थे कि उससे पहले ही रावण मूर्छित हो जाता है और राम भी अन्त में विह्वल होकर भूलुण्ठित हो जाते हैं। उपर्युक्त प्रसंग राम की उदारता तथा रावण की सहृदयता का उत्कर्ष करता हुआ प्रबंध विधान में एक अपूर्व प्रभाव-क्षमता उत्पन्न कर देता है।

२. उत्पाद्य-लावण्य

इतिहास में वर्णित कथा के मार्ग में तनिक से कल्पना-प्रसूत अंश के सौंदर्य से (उत्पाद्य-लावण्य के स्पर्श मात्र से) उसका सौन्दर्य कुछ और ही हो जाता है। उत्पाद्य-लावण्य के उस स्पर्श मात्र से काव्य में इतना सौन्दर्य आ जाता है कि वह प्रकरण चरम सीमा को प्राप्त रस से परिपूर्ण समस्त प्रबंध का प्राण-सा प्रतीत होने लगता है। (व० जी ४।३-३। स्पष्ट शब्दों में इसका अभिप्राय यह है कि कहीं कहीं ऐतिहासिक कथावस्तु में कवि कल्पना के द्वारा कुछ ऐसे सुन्दर परिवर्तन कर देता है कि समस्त प्रबंध ही उनसे रसदीप्त हो उठता है। यह उत्पाद्य लावण्य अर्थात् कल्पना प्रसूत मधुर उद्भावना भी प्रकरण-वक्रता का ही प्रकार भेद है। इस उत्पाद्य लावण्य के दो भेद है: १. अविद्यमान की कल्पना २. विद्यमान संशोधन।

प्रथम रूप—अविद्यमान की कल्पना

अविद्यमान की कल्पना का अर्थ है नवीन प्रसंग की उद्भावना। प्रतिभावन कवि कल्पना के द्वारा प्रायः नवीन प्रसंगों की उद्भावना कर अपने काव्य का उत्कर्ष करता है। इतिसास जीवन के सत्यों का निर्मम आलेख है; उसका प्रत्येक प्रकरण मानव मन का परितोष करे यह संभव नहीं है। उसमें कटुता और मधुरता दोनों ही निस्संग भाव से रहती है। किन्तु काव्य जीवन के सत्यों का सहृदय आलेख है—उसमें कटुता भी मधुर बनकर आती है। ऐसी स्थिति में काव्य की अंतरग आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कवि को अपनी कल्पना का उपयोग करना पड़ता है। कहीं कहीं इतिहास की कटुता का परिहार करने के लिए उसे किसी नवीन प्रसंग की उद्भावना करनी पड़ती है: जैसे शाकुन्तलम् के चतुर्थ अंक में दुर्वासा शाप की कल्पना, जो राजा के व्यक्तित्व दोष का प्रक्षालन कर, क्रमशः समग्र कथावस्तु पर प्रभाव डालती हुई, अन्त में नाटक के मूल रस का उत्कर्ष करती है। इस उत्पाद्य लव लावप्य से शाकुन्तलम् के रसास्वाद में बाधक तत्त्वों का परिहार और परिणामतः रसपरिपाक पूर्ण हो जाता है।

द्वितीय रूप – विद्यमान का संशोधन

जहाँ (मूलकथा) में विद्यमान होने पर भी सहृदय के हृदय-आह्लाद के लिए औचित्यरहित अर्थ का परिवर्तन कर दिया जाय, वहां उत्पाद्य लावण्य का 'विद्यमान का संशोधन' नामक द्वितीय प्रकार समझना चाहिए: जैसे उदात्तराघव में मारीचवध। उदात्तराघव मायूराज कवि का अप्राप्य नाटक, इसमें कवि ने राम के उदात्त चरित्र की

रक्षा के निमित्त मारीचवध प्रसंग में थोड़ा परिवर्तन कर ग्रनौचित्य का परिष्कार करने का प्रयत्न किया है। यहाँ मारीचवध के लिए राम नहीं वरन् लक्ष्मरण जाते हैं ग्रौर सीता उनकी प्राणरक्षा के निमित्त कातर होकर राम को भेजती है। इसमें संदेह नहीं कि घटना के इस संशोधित रूप में ग्रधिक सौन्दर्य है।

हिन्दी में प्रियप्रवास, साकेत यशोधरा, कामायनी, चन्द्रगुप्त नाटक ग्रादि में इस प्रकार के ग्रनेक प्रसंग में संशोधन किया गया है। उदाहरण के लिए साकेत में लक्ष्मरण शक्ति का संवाद सुनकर ग्रयोध्यावसियों की रण रज्जा, ग्रथवा केकयी पाश्चात्ताप कामायनी में मनु ग्रौर इड़ा के पिता-पुत्री सम्बन्ध का संशोधन, चन्द्रगुप्त में चन्द्रगुप्त के स्थान पर शकटार द्वारा नन्द की हत्या ग्रादि।

३. प्रधान कार्य से सम्बद्ध प्रकरणों का उपकार्य-उपकारक भाव

(फलबन्ध) प्रधान कार्य का ग्रनुसन्धान करने वाला प्रबंध के प्रकरणों का उपकार्योपकारक भाव ग्रसाधारण समुल्लेख वाली प्रतिभा से प्रतिप्रासित किसी कवि के (काव्यादिं) में ग्रभिनव सौन्दर्य के तत्त्व को उत्पन्न कर देता है। व० जी० ४।५-६। यह प्रकरण-वक्रता का चौथा भेद है। स्पष्ट शब्दों में कुन्तक का ग्रभिप्राय यह है कि प्रधान कार्य से संबंद्ध प्रकरणों का पारस्परिक उपकार्य-उपकारक भाव प्रकरण-वक्रता का चतुर्थ भेद है। प्रत्येक प्रकरण की सार्थकता वास्तव में यह है कि वह ग्रन्य प्रकरणों से संबद्ध तथा ग्रन्त में प्रधान कार्य का उपकारक हो। ग्रंग की सार्थकता इसी में है कि वह ग्रन्य ग्रंगों से समन्वित होकर ग्रंगी का उत्कर्ष करता है—स्वतंत्र होकर तो वह ग्रपने उद्देश्य को ही विफल कर देता है। ग्ररस्तू ने इसे ही कार्यान्वित कहा है। यूनानी काव्य-शास्त्र में तीन ग्रन्वितियों में कार्य की ग्रन्विति सबसे प्रमुख मानी गयी है। भारतीय शास्त्र में भी वस्तु की अवस्थाग्रों पर पंच सन्धियों की विवेचना इसी कार्यान्विति की महत्व-प्रतिष्ठा है।

उदाहरण के लिए उत्तररामचरित के प्रथम ग्रंक में रामचन्द्र द्वारा जृम्भ कास्त्रों का वर्णन पाँचवें ग्रंक में लव द्वारा उनके प्रयोग का उपकार करता हुग्रा ग्रन्त में नाटक के प्रधानकार्य सीता-राम के मिलन में साधक होता है। – वास्तव में वक्रता का यह भेद कथाकाव्य के वस्तु – विन्यास का प्राण है। इसका प्रयोग ग्रनिवार्यत: किया जाता है। हिन्दी में कामायनी के काम सर्ग में मनु: काम की वार्ता ग्रागे चलकर इड़ा सर्ग में काम के ग्रभिशाप का उपकार करती हुई मनु को पतन के मार्ग पर ग्रौर भी वेग से ग्रग्रसर कर देती है ग्रौर इस प्रकार चरम घटना की सिद्धि में सहायक होती है।

४. विशिष्ट प्रकरण की ग्रतिरंजना

एक ही ग्रर्थ कवि की प्रौढ़ प्रतिभा से ग्रायोजित होकर ग्रलग-ग्रलग प्रकरणों में बार-बार निबद्ध होकर भी सर्वत्र बिलकुल नये रस तथा अलंकारों से मनोहर प्रतीत होता हुग्रा ग्राश्चर्यजनक वक्रता शैली को उत्पन्न ग्रौर पुष्ट करता है। व० जी० ४। ७-८। सामान्यत: एक ही ग्रर्थ का बार-बार कथन पुनरुक्त दोष हो जाता है, परन्तु

प्रतिभावान कवि उसे इस प्रकार वैचित्र्यपूर्ण रीति से निबद्ध करता है कि वह काव्य में नवीन शोभा उत्पन्न कर देता है। कथा में कुछ ऐसे सरस प्रसंग होते हैं कि उनमें बार-बार रंग भरने से रस-परिपाक में बड़ी सहायता मिलती है, जैसे संभोग क्रीड़ाओं का अथवा विरह की अवस्थाओं आदि का विस्तार से वर्णन सम्पूर्ण कथा में सरसता का समावेश कर देता है। कुन्तक ने इस भेद के उदाहरण रूप में तापसवत्सराज नामक अलभ्य नाटक से उदयन के विरह-वर्णन रघुवंश के नवम सर्ग से दशरथ के मृगया-वर्णन आदि का निर्देश किया है। इन प्रसंगों में घटना प्राय: नगण्य है, परन्तु कवि विरह मृगया आदि के रमणीक प्रसंगों में रम गया है। और उसने उनका इतना मनोरम वर्णन किया है कि संपूर्ण कथा-भाग रसप्लावित हो गया है। हिन्दी में इस वक्रता के अत्यन्त सरस उदाहरण मिलते हैं — जैसे कमायनी के लज्जा-वर्णन को ही लीजिए जो अपने काव्य वैभव से घटना के अभाव को पूर्णत: आच्छादित कर प्रबंध को रस से दीपित कर देता है। साकेत के नवम सर्ग में उर्मिला-विरह-वर्णन में इसका अतिरंजित रूप मिलता है।

५. जलक्रीड़ा उत्सव आदि रोचक प्रसंगों का विशेष विस्तार से वर्णन

सर्गबन्ध (महाकाव्य) आदि की कथा-वैचित्र्य का सम्पादक जो (जलक्रीड़ा आदि) अंग सौन्दर्य के लिए वर्णित किया जाता है वह भी प्रकरण-वक्रता कहलाता है। व० जी ४। ६ प्रबन्धकाव्य में जीवन को समग्र रूप में अंकित करने के उद्देश्य से मूल घटनाओं के अतिरिक्त अनेक सरस प्रसंगों के समृद्ध चित्र रहते हैं। काव्य की रोचकता की अभिवृद्धि करने के कारण यह भी प्रकरण-वक्रता का ही एक भेद है। संस्कृत काव्य-शास्त्र में तो इस प्रकार के वर्णनों का अन्तर्भाव महाकाव्य के लक्षण में ही कर दिया गया है :

नगरार्णवशैलर्तु चन्द्रकोदयवर्णनं :
उद्यानसलिलक्रीड़ामधुरपानरतोत्सवे :

—दंडी, काव्यादर्श

अर्थात् प्रबन्धकाव्य का कलेवर नगर, समुद्र, शैल, ऋतु, चन्द्रोदय, सूर्योदय, उद्यान, सलिल-क्रीड़ा, मधुपान, रति-उत्सव आदि से समृद्ध होता है।

इस प्रकार के वर्णन जीवन के प्राकृतिक तथा मानवीय दोनों पक्षों से संबद्ध होते हैं। कुन्तक ने इस वक्रता-भेद के दो उदाहरण दिये हैं : (१) रघुवंश के षोडश सर्ग में कुश की जलक्रीड़ा का वर्णन (२) किरातार्जुनीयम् में बाहुयुद्ध का प्रकरण। हिन्दी में प्रिय-प्रवास के रास-क्रीड़ा आदि अनेक वर्णन, जयद्रथवध में स्वर्ग-वर्णन इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

६. प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए सुन्दर अप्रधान प्रसंग की उद्भावना

जिसमें प्रधान वस्तु की सिद्धि के लिए अन्य (अप्रधान) वस्तु की उल्लेखनीय

विचित्रता प्रतीत होती है, वह भी इस (प्रकरण) की ही दूसरी प्रकार की वक्रता होती है। (व०जी० ४।११)। कभी-कभी प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए कवि किसी सुन्दर किन्तु अप्रधान प्रसंग की अवतारणा कर समग्र कथा में एक वैचित्र्य उत्पन्न कर देता है। उदाहरण के लिए मुद्राराक्षस नाटक के छठे अंक में प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए चाणक्य-नियुक्त पुरुष द्वारा आत्महत्या का प्रपंच इसके अन्तर्गत आता है। चाणक्य राक्षस को जीवित ही बन्दी बनाना चाहता है: उसी ही उद्देश्य की सिद्धि के लिए उपर्युक्त रोचक प्रकरण की उद्भावना की गई है। राजनीतिक प्रबन्धों में ऐसे उदाहरण प्राय: मिल जाते हैं—जासूसी उपन्यास इस प्रकार के प्रसंगों की अक्षय निधि हैं।

७. गर्भांक

सामाजिकों के मनोरंजन के निपुण नटों के द्वारा स्वयं सामाजिक का रूप धारण कर अन्य नटों का नट बनाकर, कहीं एक नाटक के भीतर जो दूसरा नाटक प्रयुक्त किया जाता है, वह समस्त प्रसंगों की सर्वस्वभूत अलौकिक वक्रता को पुष्ट करता है। (४। १३-१२) स्पष्ट शब्दों में अंक के अन्तर्गत गर्भांक आदि का नियोजन भी प्रकरण-वक्रता का रूप है। राजशेखर के बालरामायण नाटक के तृतीय अंक में 'सीता-स्वयंम्बर' नामक गर्भांक की नियोजना इसका सुन्दर उदाहरण है।

८. प्रकरणों का पूर्वापर-अन्विति-क्रम

मुख प्रतिमुख आदि सन्धियों के संविधान से मनोहर उत्तरवर्ती अंगों का (उचित) सन्निवेश भी प्रकरण-वक्रता का प्रकार होता है।

(व० जी०४।१४)

इसका अर्थ यह है कि पूर्व प्रकरणों का उत्तर प्रकरणों के साथ सामंजस्य अर्थात् पूर्वापर-अन्विति क्रम प्रकरण वक्रता का एक प्रमुख रूप है। यह तो वास्तव में कथा की मूल आवश्यकता है। यदि विभिन्न प्रसंग पूर्वापर-क्रम से परस्पर संबद्ध नहीं होंगे तो कथा का सूत्र टूट जायगा। कुन्तक ने कुमारसंभव में विभिन्न घटनाओं की पूर्वापर-अन्विति को इस भेद के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। हिंदी के सभी सफल प्रबन्धों में साकेत, यशोधरा, आर्यावर्त, वर्धमान आदि महाकाव्यों और पंचवटी, नहुष, नूरजहाँ आदि खण्ड-काव्यों की पूर्वा-पर अन्विति में उपर्युक्त वक्रता का दिग्दर्शन होता है।

प्रबन्ध-वक्रता

प्रबन्ध-वक्रता की परिधि में समग्र प्रबन्धकाव्य, महाकाव्य, नाटक आदि का वास्तु कौशल अन्तर्निहित है। इसका आधार फलक सबसे अधिक व्यापक है। प्रबन्ध-वक्रता वास्तव में प्रबन्ध-कल्पना के समग्र सौन्दर्य का पर्याय है। कुन्तक ने उसके छह भेदों का वर्णन किया है।

१. मूल-रस-परिवर्तन

जहाँ इतिवृत्त अर्थात् आधारभूत ऐतिहासिक कथा-वस्तु में अन्यथा निरूपित रस-सम्पदा की उपेक्षा करते हुए किसी हृदयाह्लादकारी रस में निर्वहण। (पर्यवसान) करने के उद्देश्य से कथामूर्ति में आमूल परिवर्तन किया जाय वहाँ प्रबन्व-वक्रता का उपर्युक्त भेद मिलता है। (देखिये हिन्दीवक्रोक्तिजीवित ४। १६-१७)। स्पष्ट शब्दों में इसका अर्थ यह है : कभी-कभी कवि की मौलिक प्रतिमा प्रसिद्ध कथा के मूल रस में परिवर्तन करने के अभिप्राय से समस्त कथा विधान में ही आमूल परिवर्तन कर देती है और इस प्रकार एक नवीन प्रबंध कल्पना का उदय होता है—यही कुन्तक की प्रबन्ध-वक्रता का प्रथम भेद है। समस्त कथा-विज्ञान का प्राण रस है : मूल रस के अनुरूप ही कथा के विभिन्न प्रसंगों की कल्पना तथा आयोजना की जाती है।—समस्त कथामूर्ति का निर्माण प्राणभूत रस के अनुरूप ही होता है। अतएव जब कवि की मौलिक प्रतिमा पुनरावृत्ति के प्रति असहिष्णु होकर मूल रस में परिवर्तन करना चाहती है, तो स्वभावत: उसे समस्त घटना-विधान में ही आमूल परिवर्तन करना पड़ता है। इस प्रकार एक नवीनप्रबन्ध कौशल की उद्भावना होती है—जो कुन्तक की प्रबन्ध वक्रता का प्रथम रूप अथवा प्रकार है। इस प्रसंग में उन्होंने उत्तर रामचरित तथा वेणीसंहार नाटकों की प्रबन्ध-कल्पना को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। उत्तररामचरित की कथा का आधार रामायण वेणीसंहार का महाभारत है। प्राचीन आचार्यों के मत से रामायण तथा महाभारत दोनों का प्रधानरस शान्त है, परन्तु उत्तररामचरित का मूल रस करुण और वेणीसंहार का वीर है। दोनों रचयिताओं ने अपनी प्रतिभा के द्वारा मूल रस में और तदनुकूल कथा विधान में परिवर्तन कर अपने प्रबंध कौशल का परिचय दिया है। महाभारत का प्रधानरस निश्चय ही शान्त है और भट्टनारायण ने नाट्यकला की आवश्यकतानुसार वेणीसंहार में शान्त के स्थान पर वीर को प्रधानता देकर अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर दिया है इसमें सन्देह नहीं। परन्तु रामायण का भी प्रधान रस शांत है—इस संबंध में मतभेद हो सकता है। यहां कुन्तक ने अपना मत देकर प्राचीन विद्वानों का प्रमाण दिया है : **रामायण महाभारतयोश्च शन्तांगित्वं पूर्वसूरिभिरेव निरूपितम्।** (देखिए हि० व० जी० १७ वी० कारिका की वृत्ति)। 'पूर्वसूरिभि:' से उनका अभिप्राय: किन आचार्यों से है यह स्पष्ट नहीं है। यद्यपि हम स्वयं ही यह मानने को तैयार है कि रामायण में शांत के अंगित्व की कल्पना सर्वथा अनर्गल नहीं है,[1] फिर भी आनन्दवर्धन आदि मान्य आचार्यों के मत से रामायण का प्रधान रस करुण है,शांत नहीं, : "**रामायण हि करुणो रसः स्वयंमादिकविना सूत्रितः शोकः श्लोकत्वमागतः एवंवादिना।**" अर्थात् रामायण में आदि कवि ने स्वयं ही यह कहकर कि 'शोक श्लोक में परिणत हो गया' करुण रस सूचित किया है। (हिन्दी ध्वन्यालोक, पृ० ४६६,)। परंतु इस प्रासंगिक विवाद को छोड़ मुख्य विषय पर आइए।

---

१. इसके समर्थन में भी युक्तियाँ दी जा सकती हैं—एक प्रबल युक्ति तो यही है कि रामायण का प्रतिपाद्य परम पुरुषार्थ की सिद्धि ही है, राम-सीता का मिलन नहीं है।

कुन्तक का अभिप्राय यह है कि रामायण का मुख्य रस शांत है किन्तु भवभूति ने उत्तर-रामचरित में करुण को अंगित्व प्रदान कर प्रबंध-वक्रता का सुन्दर प्रयोग किया है। यदि रामायण में प्रधान रस करुण माना जाय तब भी इस चमत्कार की संरक्षा की जा सकती है। क्योंकि उत्तररामचरित आनन्दपर्यवसायी नाटक है, रामायण की भांति शोक-पर्यवसायी, नहीं अतएव उनका अंगी रस करुण न होकर शृंगार ही हो सकता है। इस प्रकार भी उसकी प्रबंध-व्रकता अक्षुण्ण रहती है।

हिंदी में रामचरितमानस, रामचन्द्रिका तथा साकेत आदि प्रबंध उदाहरण रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। करुणरसाश्रयी रामायण-कथा पर आधृत रामचरितमानस का अंगी रस शांत है, रामचन्द्रिका का वीर, साकेत का शृंगार।

२. नायक के चरित्र का उत्कर्ष करनेवाली चरम घटना पर कथा का उपसंहार

जहाँ कवि उत्तरभाग की नीरसता का परिहार करने के उद्देश्य से, त्रैलोक्य को चकित करने वाले, नायक-चरित्र के पोषक, इतिहास-प्रसिद्ध कथा के प्रकरण विशेष पर ही कथा की परिसमाप्ति कर देता है, वहाँ द्वितीय प्रकार की प्रबन्ध-वक्रता होती है। (व० जी० ४।१८-१६)। इसका आशय यह है कि चरित्र-प्रधान काव्यों के संबंध में कभी-कभी कुशल कवि यह अनुभव करता है कि समस्त कथा रस-पुष्ट नहीं है—एक विशेष सीमा पर पहुँचने के पश्चात् फिर वह कोरा इतिवृत्त कथन रह जाती है, अतएव नायक के पूर्ण उत्कर्ष की स्थिति को चरम घटना मानकर वह अपने प्रबंध का नाटकीय ढंग से वहीं निर्वहण कर देता है। इससे दो लाभ होते हैं—एक तो विरस कथा का परिहार हो जाता है और दूसरे चरम उत्कर्ष पर पाठक या प्रेक्षक का ध्यान केन्द्रित तथा स्थिर हो जाता है। इस विधान में निश्चय ही एक प्रकार का प्रबन्ध-कौशल वर्तमान रहता है, जिसे कुन्तक अपनी प्रबंध-वक्रता का दूसरा भेद मानते हैं।

कुन्तक ने प्रस्तुत प्रसंग में किरातार्जुनीयम् का उदाहरण दिया है। किराता-र्जुनीयम् के प्रारंम्भिक श्लोकों से यह प्रतीत होता है कि कवि मूल से लेकर दुर्योधन के नाश और युधिष्ठिर के राज्यारोहण तक समग्र कथा-वर्णन का उपक्रम कर रहा है। किन्तु होता यह नहीं है, जहाँ अर्जुन किरातवेषधारी शिव के साथ युद्ध में पराक्रम प्रद-र्शित कर पाशुपत वस्त्र की उपलब्धि करता है, वहीं— नायक के इस चर्मोत्कर्ष की स्थिति पर—कथा समाप्त हो जाती है। इस प्रकार उत्तरवर्ती नीरस प्रसंगों का परिहार हो जाता है और नायक के पूर्ण उत्कर्ष का चित्र सहृदय के मन में स्थिर रूप से अंकित हो जाता है। हिंदी में चन्द्रगुप्त नाटक आदि का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। यवनों के निष्कासन के उपरान्त भी चन्द्रगुप्त के जीवन में अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुईं, वास्तव में उसके जीवन की कहानी एक नये रूप में इसके उपरान्त ही आरंभ हुई। परन्तु प्रसादजी ने उन सब विरस इतिवृत्त घटनाओं का त्यागकर नायक के पूर्ण उत्कर्ष के अवसर पर ही नाटक का अन्त कर दिया है। इसी प्रकार जयद्रथवध में भी यह वक्रता है। जयद्रथ वध के उपरान्त दुर्योधन के नाश और युधिष्ठिर के राजतिलक तक अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुईं, किन्तु कवि ने उनका वर्णन न कर प्रतिज्ञा-पूर्ति के साथ

नायक के चरम उत्कर्ष पर ही कथा का अन्त कर दिया है।

३. कथा के मध्य में ही किसी अन्य कार्य द्वारा प्रधान कार्य की सिद्धि

प्रधानवस्तु के संबंध का तिरोधान करने वाले किसी अन्य कार्य द्वारा बीच में ही विच्छिन्न हो जाने के कारण विरस हुई कथा; उसी विच्छेदस्थल पर प्रधान कार्य की सिद्धि हो जाने से, अबाध रस से उज्ज्वल प्रबंध की किसी अनिवर्चनीय नवीन वक्रता की सृष्टि करती है। (व० जी० ४।२०-२१) अर्थात् प्रतिभावान कवि कभी-कभी किसी अन्य घटना को उत्कर्ष प्रदान कर कथा के स्वाभाविक विकास का विच्छेद करता हुआ अपने काव्य-कौशल के बल पर बीच में ही प्रधान कार्य की सिद्धि कर देता है। प्रधान कार्य का इस अनायास सिद्धि से प्रबंध-विधान में एक अपूर्व चमत्कार उत्पन्न हो जाता है: यही कुन्तक की प्रबन्ध-वक्रता का तीसरा प्रकार है—उदाहरण शिशुपाल-वध। शिशुपाल-वध महाभारत के युधिष्ठिर-राजसूय प्रकरण की घटना है। इस प्रकरण का प्रधान कार्य है यज्ञ की पूर्ति—किन्तु महाकवि माघ ने शिशुपाल वध की घटना को अत्यन्त उत्कर्ष प्रदान कर कथा को इस कौशल के साथ उच्छिन्न कर दिया है कि यज्ञ के फल की सिद्धि वहीं हो जाती है। यह नाटकीय चमत्कार निश्चय ही सहृदय का मन-प्रसादन करता है।

वास्तव में द्वितीय-तृतीय भेदों का चमत्कार उनकी आकस्मिकता तथा एकाग्रता में निहित है—ये ही गुण पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में 'नाटकीय गुण' कहलाते हैं, जिनका प्रबन्ध के सभी रूपों में बड़ा महत्त्व है। आकस्मिकता विस्मय का उद्बुद्ध करती है, एकाग्रता का ध्यान केन्द्रित होता है: उत्तरवर्ती घटनाओं का त्याग कल्पना को उत्तेजित करता है और ये तीनों गुण मिलकर कथा के प्रति पाठक के अनुराग की परिवृद्धि करते हैं। यही इन वक्रताओं का मूल्य रहस्य है।

४. नायक द्वारा अनेक फलों की प्राप्ति

जहाँ एक फल-विशेष की सिद्धि में तत्पर नायक अपने महात्म्य के चमत्कार से वैसे ही अनेक फलों की प्राप्ति कर प्रथित यश का भाजन बनता है, वहाँ प्रबन्ध वक्रता का एक अपर—(अर्थात् चतुर्थ) प्रकार मिलता है। (व० जी० ४।२२-२३)। कभी कभी कुशल कवि अपने नायक को मूलत: किसी एक फल-विशेष की प्राप्ति में तत्पर दिखाकर क्रमश: ऐसी स्थितियों की सृष्टि करता चलता है कि उसे वैसे ही अनेक स्पृहणीय फलों की प्राप्ति भी हो जाती है। इस प्रकार रोचक स्थितियों की उद्भावना द्वारा नायक के उत्कर्ष की वृद्धि कर मर्मज्ञ कवि की प्रतिभा अपने प्रबन्ध विधान में एक अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर देती है—यही प्रबन्ध-वक्रता का चतुर्थ भेद है। कुन्तक ने इसके लिए नागानन्द का उदाहरण दिया है। नागानन्द का नायक जीमूतवाहन मूलत: अपने पिता की सेवा के लिए वन में जाता है, किन्तु वहाँ उसका गन्धर्व-कन्या मलयवती से प्रेम और विवाह होता है। फिर वह शंखचूड़ नामक नाग की रक्षा के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग कर नागकुल की रक्षा करता है। इस प्रकार नायक को पितृभक्ति के

साथ प्रेम तथा लोककल्याणमयी भूमा का सुख भी उसी प्रसंग में प्राप्त हो जाता है।

हिन्दी में चित्रागंदा (अनूदित), हिडिम्बा आदि में इस प्रकार की वक्रता उपलब्ध होती है। नायक एक कार्य की सिद्धि में तत्पर होते हैं, किन्तु उन्हें अनेक स्पृहणीय फल प्राप्त हो जाते हैं: वनवास-दण्ड-भोगी अर्जुन की यात्रा का उद्देश्य मनोरंजन है, परन्तु वहाँ उन्हें चित्रांगदा की प्राप्ति हो जाती है। इसी प्रकार हिडिम्बा में भीम लाक्षागृह से बचकर प्राण-रक्षा के निमित्त बन में जाते हैं। वहाँ उन्हें मूल उद्देश्य की पूर्ति के साथ हिडिम्बा की उपलब्धि भी हो जाती है।

इस वक्रता का मूल रहस्य भी कुतूहल वृत्ति के परितोष में ही निहित है। मानव-मन वैचित्र्य का प्रेमी है —विधाता की सृष्टि चित्र-विचित्र रहस्यों का आकार है, जीवन में पग-पग पर अनेक रहस्यों का उद्घाटन मानव को मुग्ध चकित करता ही रहता है। एक उद्देश्य की सावना में अनुरत सदाशय व्यक्ति द्वारा अप्रत्याशित रूप से अनेक फलों की प्राप्ति हमारे मन में अनायास ही एक मधुर विस्मय का भाव भर देती है। प्रतिभा-वान कवि इस मनोवैज्ञानिक सत्य को पहचानता हुआ इसके आधार पर घटनाओं का संयोजन कर अपने प्रबन्ध-कौशल का परिचय देता है।

५. प्रधान कथा का द्योतक नाम

प्रधान कथा के द्योतक चिह्न रूप नाम से भी कवि काव्य में कुछ अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न कर देता है वह भी प्रबन्ध-वक्रता का एक भेद कहा जा सकता है। ४।२४। विदग्ध कवि कथा-विधान में तो चमत्कार उत्पन्न करता ही है—कभी-कभी वह अपने काव्य का नामकरण भी इतने अपूर्व कौशल के साथ करता है कि नाम के द्वारा ही कथा का मूल रहस्य प्रकट हो जाता है। उदाहरण के लिए अभिज्ञानशाकुन्तलम् या मुद्राराक्षस नामों को लीजिए। अभिज्ञानशाकुन्तलम् की कथा का मूल चमत्कार अभिज्ञान मुद्रिका द्वारा शकुन्तला के स्मरण पर निर्भर है : अभिज्ञान के खो जाने पर शकुन्तला का विस्मरण और उसके पुनः प्राप्त हो जाने पर शकुन्तला का पुनः स्मरण—यही अभि-ज्ञानशाकुन्तलम् की कथा का मूल सौन्दर्य है। कवि कालिदास ने इसे नाम में ही सन्निहित कर अपने कौशल का परिचय दिया है : अभिज्ञानेन स्मृता शकुन्तला अभिज्ञानशकुन्तला, तामधिकृत्य कृतं नाटकम् अभिज्ञानशाकुन्तलम्। मुद्राराक्षस का नामकरण भी ऐसा ही है। इधर हिन्दी में कामायनी, साकेत आदि काव्यों और रंगभूमि, कायाकल्प आदि उपन्यासों के नामों में भी इसी प्रकार का चमत्कार है। 'काम' अर्थात् जीवन की मांग-लिक इच्छा को आधार मानकर भाव, ज्ञान तथा कर्म-वृत्तियों का समन्वय ही कामा-यनी का मूल संदेश है। इसी को नाम द्वारा अभिव्यक्त करने के उद्देश्य से कवि ने मनु और श्रद्धा की कहानी का नाम कामायनी रखा है। साकेत नाम कथा के स्थान पर ऐक्य का अभिव्यंजक है—इसी प्रकार रंगभूमि, कायाकल्प आदि से भी कथा के ध्वन्यार्थ का बोध होता है। इसके विपरीत रामचरित, शिशुपालवध (हिन्दी में जयद्रथवध आदि) नाम सर्वथा अभिधात्मक हैं; कुन्तक ने इन्हें कल्पनाशून्य होने के कारण सर्वथा चमत्कारहीन माना है।

सामान्यत: यह प्रबन्ध विधान का कोई विशेष सौन्दर्य नहीं है—किन्तु इसमें भी प्रबन्ध कल्पना का थोड़ा ही बहुत चमत्कार तो रहता ही है। कथा के प्राणभूत चमत्कार को नाम में ही सन्निहित कर देना भी प्रबन्ध कल्पना की विद्वता का द्योतक है, इसीलिए कुन्तक ने इसे प्रबन्ध वक्रता का एक भेद माना है।

६. एक ही मूल कथा पर आश्रित प्रबन्धों का वैचित्र्य-वैविध्य

एक ही कक्षा में महाकवियों द्वारा आवद्ध काव्यबन्ध एक दूसरे से विलक्षण होने के कारण किसी अमूल्य वक्रता का पोषण करते हैं। ४।२५।

कथा भाग का वर्णन समान होने पर भी अपने अपने गुणों से काव्य नाटक आदि प्रबन्ध पृथक्-पृथक् होते हैं जैसे प्राणों के शरीर में समान होने पर भी उनके अपने-अपने गुणों में भेद होता है। ४।२५। अंत:श्लोक।

(इस प्रकार) नये नये उपायों से सिद्ध होने वाले, नीतिमार्ग का उपदेश करने वाले, महाकवियों के सभी प्रबन्धों में (अपनी अपनी) वक्रता अथवा सौन्दर्य रहता है। ४।२६।

उपर्युक्त वाक्यों का निष्कर्ष यह है कि एक ही मूल कथा का आश्रय लेकर भी प्रबन्ध कुशल कवि अपनी प्रतिभा के चमत्कार से एक दूसरे से सर्वथा विलक्षण प्रबन्ध-काव्य नाटकादि की सृष्टि करने में सफल हो जाते हैं। इन काव्य नाटकादि की आधार-भूत कथा एक होती है, परन्तु इन सभी का मूल उद्देश्य - आनन्दवर्धन के शब्दों में ध्वन्यर्थ सर्वथा भिन्न होता है, और उसके कारण इनका काव्य सौन्दर्य भी एक दूसरे से विलक्षण होता है।

उदाहरण के लिए रामायण की मूल कथा के आधार पर संस्कृत में रामाभ्युदय, उदात्तराघव, वीरचरित, बालरामायण, कृत्यारावण, मायापुष्पक आदि अनेक नाटकों की रचना हुई है। इन सभी की आधारभूत कथा समान है, किन्तु काव्य-सौन्दर्य एक दूसरे से सर्वथा विलक्षण है। इसी प्रकार हिन्दी में भी रामचरितमानस, रामचन्द्रिका मेघनादवध (अनुदित) रामचरितचिन्तामणि, रामचन्द्रोदय, साकेत, साकेत-संत आदि अनेक प्रबन्ध-काव्यों का वस्तु-आधार एक होते हुए भी ध्वन्यर्थ और तदनुसार काव्य सौन्दर्य सर्वथा भिन्न है। एक ही मूल कथा का आश्रय लेकर अनेक परस्पर भिन्न प्रबन्धों की सृष्टि करना अपूर्व प्रबन्ध कौशल का परिचायक है ··इसीलिए कुन्तक ने इसे प्रबन्ध-वक्रता का एक महत्वपूर्ण (अनर्घ) भेद माना है।

यह भेद आनन्दवर्धन की प्रबन्धध्वनि के समकक्ष है···आनन्दवर्धन का मत है कि कवि का इतिवृत्त-निर्वहण से कोई प्रयोजन नहीं; काव्य का प्राण तो वह ध्वन्यर्थ है जिसके माध्यम रूप में कवि थथा का प्रयोग करता है। अतएव एक ही कथा पर आश्रित काव्य अपने ध्वन्यार्थ के भेद से परस्पर भिन्न हो सकते हैं। कुन्तक ने वस्तुपरक दृष्टि से विवेचन करते हुए इसे कवि कौशल का एक प्रकार मान लिया है—जबकि आनन्द इसे रसानुभूति परक ही मानते हैं।

अध्याय ९

औचित्य सिद्धान्त*

(क) औचित्य का स्वरूप

क्षेमेन्द्र की औचित्य—परिभाषा उनके शब्दों में इस प्रकार है :—

उचितं प्राहुराचार्याः, सदृशं किल यस्य तत् ।
उचितस्य च यो भावः तदौचित्यं प्रचक्षते ।

वस्तु-अनुरूपता का नाम उचित है। वस्तु-अनुरूपता में एक ओर अवयव एवं अवयवी में, मुख्य तथा गौण में एवं अंग एवं अंगी में समानुपातिकता और सन्तुलन की आवश्यकता है तो दूसरी ओर विभिन्न तत्त्वों में उपयुक्तता एवं योग्य संविधान की। उचित का भाव ही औचित्य है। वस्तुतः औचित्य एक प्रकार का उचित संबंध है जो एक वस्तु के विभिन्न तत्त्वों में या अनेक विभिन्न वस्तुओं में वर्तमान रहता है, अतः औचित्य का ज्ञान निरपेक्ष रूप में नहीं दिया जा सकता। इसके ज्ञान के लिए उन अनेक विभिन्न वस्तुओं या एक वस्तु के विभिन्न तत्त्वों का परिज्ञान आवश्यक है जिनमें औचित्य पूर्ण सम्बन्ध की स्थापना की जाती है। काव्य के प्रति इस सिद्धान्त को प्रयुक्त करने पर औचित्य की परिभाषा होगी—काव्य के गुण एवं गुणी, धर्म एवं धर्मी, अलंकार एवं अलकार्य तथा अवयव एवं अवयवी में परस्पर उचित संबंध, संवादित्व (communicability) तथा संप्रतिपत्ति रखना ही औचित्य है। अतएव साहित्य में औचित्य तत्त्व के ज्ञान के लिए साहित्य के गुण एवं गुणी, धर्म तथा धर्मी, अलंकार्य एवं अलंकार, अवयव एवं अवयवी के स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है। अभिनवगुप्त के युग में औचित्यवादी कुछ समीक्षक ऐसे थे जो काव्य में औचित्य की स्वतन्त्र सत्ता मानते थे और काव्य की व्याख्या के लिए औचित्य तत्त्व को ही पर्याप्त समझते थे। इन आलोचकों की दृष्टि में औचित्य सुन्दर शब्दार्थों की औचित्यपूर्ण नियोजना के अतिरिक्त और कुछ नहीं। लोचनकार ने इन औचित्यवादी समीक्षकों की खिल्ली उड़ाते हुए स्पष्ट रूप से यह कहा कि ऐसे समीक्षक अपनी ही कही हुई बात की व्यंजना नहीं समझते। काव्य के प्रसंग में औचित्य का नाम लेते ही रस और ध्वनि का अनुमान हो जाता है। औचित्य को रसहीन काव्य के जीवित मानने का सिद्धान्त कभी ग्राह्य नहीं हो सकता। यथार्थतः रस, भाव आदि औचित्य के मूल आधार हैं। बिना मूल (रस) के पल्लव (औचित्य) की सत्ता ही कहाँ सम्भव है। उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह कि रसोत्पत्ति की आवश्यकतानुसार उचित शब्द, अर्थ, गुण, अलंकार, वस्तु, पात्र, वर्णन, प्रबन्ध आदि काव्य के विभिन्न तत्त्वों की व्यवस्था करना ही औचित्य है। इस प्रकार काव्य में रस का सम्बन्ध काव्य के अन्य

*** डॉ० रामलाल सिंह**

ग्रंगों, तत्त्वों तथा उपादानों से है, उसी प्रकार ग्रौचित्य का भी सम्बन्ध काव्य के उन सभी ग्रंगों, तत्त्वों एवं उपादानों से हैं। ग्रौचित्य का काम काव्य के संबंधों की उचित व्यवस्था करना है। ग्रौचित्य द्वारा काव्य के विभिन्न संबंधों की व्यवस्था होने से काव्य के प्राण-तत्त्व रस में जीवन (स्थायित्व) आ जाता है, ग्रास्वादन में चारुता ग्रा जाती है, प्रयोजन रूप में ग्रन्तश्चमत्कार की सिद्धि होती है, काव्य में राष्ट्रीयता, युगतत्त्व संस्कृति-तत्व, मानवता ग्रादि की रक्षा हो जाती है, काव्य का ग्रादर्श बहुत ही भव्य एवं उदात्त हो जाता है। ग्रानन्दवर्द्धन के शब्दों में रस का रहस्य ग्रौचित्ययुक्त काव्य-ग्रन्थ का निर्माण करना है। ग्राचार्य क्षेमेन्द्र की दृष्टि से ग्रौचित्य का रहस्य काव्य के सब प्रकार के तत्त्वों में ग्रौचित्य की रक्षा करना है। क्षेमेन्द्र के ग्रौचित्य का, रस तथा साहित्य के ग्रन्य ग्रंगों से कैसा सम्बन्ध है वह उनकी निम्नांकित कारिकाग्रों से भली भाँति स्पष्ट हो रहा है :

ग्रौचितस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ॥
काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते ॥

ग्रलंकरास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
ग्रौचित्यं रससिद्धस्यस्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥
उचितस्थान विन्यासादलकं तिग्लङ् कृतिः।
ग्रौचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः।

काव्यगत चमत्कार तथा चारुता एवं ग्रौचित्य में कार्य-कारण सम्बन्ध हैं। ग्रौचित्य कारण है, तो चमत्कार तथा चारुता कार्य, ग्रर्थात् काव्य में चमत्कार एवं चारुता उत्पन्न करने का श्रेय ग्रौचित्य को है। काव्य के ग्रन्य तत्त्व रस, ग्रलंकार-गुण ग्रादि का तो ग्रौचित्य ही जीवन है। रस को छोड़कर ग्रन्य तत्त्वों से ग्रौचित्य का शरीर एवं शरीरी का संबंध है रस एवं ग्रौचित्य से ग्रात्मा तथा जीव का संबंध है। जिन काव्यों में ग्रौचित्य का विचार नही होता वहाँ यदि ग्रलंकार ग्रादि गुण रहें तो भी वे किसी काम के नहीं सिद्ध होते। काव्य में ग्रलंकारों का मूल्य ग्रलंकार तक, गुणों का मूल्य गुण तक, किन्तु ग्रौचित्य तो रससिद्ध काव्य की स्थिर जीवनशक्ति है। ग्रलंकारों का ग्रलंकारत्व उन्हें उचित स्थान पर रखने से है ग्रर्थात् उनमें ग्रौचित्य की रक्षा करने से है। गुण भी ग्रौचित्य से च्युत होने पर गुण नहीं रहते। ग्रनुचित विधि से एवं ग्रनुचित मात्रा में ग्रलंकार तथा गुण रखने से काव्य हास्यास्पद[1] हो जाता है। गुणों तथा ग्रलंकारों का मूल्य काव्य में ग्रौचित्य के कारण ही होता है। ग्रौचित्य रक्षा के बिना न तो ग्रलंकार

---

१. **कंठेमेखला नितम्बफलके तारेण हारेण वा।**
पाणौ नूपुरबन्धनेन, चरणे केयूरपाशेन वा
शौर्येण प्रणते, रिपौ करुणया, नायान्ति के हास्यताम्।

सौन्दर्य का उन्मेष कर सकते हैं और न गुण ही।[1]

रस और ध्वनि के सिद्धान्त पर क्षेमेन्द्र के सभी प्रकार के औचित्यों की व्याख्या प्रतिष्ठित है। उन्होंने रस का नाम बहुत स्पष्ट रूप में व्याख्या करते हुए लिया है, किन्तु ध्वनि का स्वीकरण अप्रत्यक्ष रूप में ही किया है। क्षेमेन्द्र की दृष्टि में रस और औचित्य में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

औचित्यं रससिद्धस्थ स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।

रस से सिद्ध काव्य में औचित्य स्थिर जीवनशक्ति के रूप में रहता है। यहाँ रस शब्द श्लिष्टार्थक है। यह क्षेमेन्द्र की व्याख्या से स्पष्ट है।

(ख) औचित्य के भेद

क्षेमेन्द्र देश, काल की दृष्टि रखते हुए औचित्य का विवेचन करते हैं। इस प्रकार देशौचित्य और कालौचित्य द्वारा काव्य में युगतत्त्व एवं राष्ट्रीयता के तत्त्व का भी अध्ययन किया जा सकता है। देश तथा काल नाम औचित्यों की रक्षा कवि के लोक-शास्त्र आदि निरीक्षण पर अवलम्बित है। इस प्रकार लोक, काव्य शास्त्र आदि के निरीक्षण-तत्त्व द्वारा औचित्य के भीतर व्युत्पति तत्त्व आ जाता है। राजशेखर भी व्युत्पति का समावेश औचित्य के भीतर करते हैं। भाषा तत्त्व के विभिन्न प्रकार के औचित्यों द्वारा अभ्यास तत्त्व का समावेश औचित्य के भीतर सरलता से हो जाता है। इस प्रकार तीनों प्रकार के काव्तहेतुओं–प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास का समावेश औचित्य के भीतर हो जाता है।

औचित्य द्वारा किसी कृति के सौन्दर्य-नियामक सभी तत्त्वों पर विचार किया जा सकता है। किसी कृति के सौन्दर्य-नियामक तत्त्वों को हम तीन भागों में बांट सकते हैं—इन्द्रियगोचर या भौतिक गुण, जिनके भीतर वस्तु के रूप, आकार, संयोजना, विस्तार आदि का समावेश होता है। द्वितीय है बौद्धिक गुण, जिनके भीतर संगति, प्रमाणबद्धता, समप्रमाणतय संवादित्व, शुद्धता आदि गुण आते है। तृतीय हैं भावात्मक गुण –जिनके भीतर संयम, भव्यता, उदात्तता, सूचकता आदि गुण सन्निविष्ट हैं। समीक्षा का आदर्श मूल्य इन सभी गुणों के पहचानने में है। कहने की आवश्यकता नहीं कि क्षेमेन्द्र के औचित्य विचार दर्शन द्वारा हम उक्त तीनों प्रकार के गुणों को पहचान सकते हैं। क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थ औचित्यविचार चर्चा के भीतर २७ प्रकार के मुख्य औचित्य-भेदों का निर्देश किया है, जिनका नाम इस प्रकार है :— (१) पद (२) वाक्य (३) प्रबन्धार्थ (४) गुण (५) अलंकार (६) रस (७) क्रिया (८) कारक (९) लिंग (१०) वचन (११) विशेषण (१२) उपसर्ग (१३) निपात (१४) काल (१५) देश (१६) कुल (१७) व्रत (१८) तत्त्व (१९) सत्त्व (२०) अभिप्राय (२१) स्वभाव (२२) सारसंग्रह (२३) प्रतिभा (२४) अवस्था (२५) विचार (२६) नाम

---

१. **औचित्येन बिना रति प्रतनुते नालङ्कृतिर्नोगुणाः।**

—क्षेमेन्द्र

(२७) आशीर्वाद। इन भेदों के निरूपण के पश्चात् क्षेमेन्द्र ने यह स्पष्ट कह दिया है कि काव्य के अन्य अवशिष्ट अंगों की दृष्टि से इसी प्रकार औचित्य के अनेक भेद किये जा सकते हैं।[1] इस प्रकार क्षेमेन्द्र ने अपने औचित्य का विस्तार वहाँ तक कर दिया है जहाँ तक कि काव्य के विभिन्न अंगों के भेद प्रभेद सम्भव हो सकते हैं। अतः इस बात के कहने में अणुमात्र भी अतिशयोक्ति नहीं कि क्षेमेन्द्र-निरूपित औचित्य-सिद्धान्त द्वारा किसी कलाकृति के इन्द्रिगोचर, बौद्धिक तथा भावात्मक तीनों प्रकार के गुणों का विवेचन तथा मूल्यांकन निष्पक्ष दृष्टि से हो सकता है। काव्य के सैद्धान्तिक पक्ष की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि औचित्य तत्त्व के सम्यक् प्रयोग से काव्य में संश्लिष्टता, संगति, व्यवस्था भव्यता, उदात्तता, शुद्धता, संवादित्व संयम, सूचकता, रम्यता, समप्रमाणता आदि अनेक गुण आ जाते हैं।

१. अन्येषु काव्यांगेषु अनयैवदिशा स्वयमौचित्यम् उत्प्रेक्षणीयम्।
तदुदाहरणान्यानन्त्यात् न प्रदर्शि तानीत्यलमतिप्रसंगेन।
—क्षेमेन्द्र

अध्याय १०

शब्दशक्ति*

(क) परिभाषा और भेद

वाक्य

पारस्परिक विचार-विनियम का सरलतम साधन भाषा है। भाषा का अनिवार्य धर्म वाक्य है। यहाँ तक कि इसे भाषा का अपर पर्याय भी माना जाता है।

— ऐसा पद-समूह जो पूर्ण अर्थ का वाचक है वाक्य कहाता है।[1]

— पद कहते हैं वाक्य में प्रयुक्त सार्थक शब्द को। वह वर्ण-समूह जो किसी अर्थ का वाचक होता है सार्थक शब्द कहाता है।

जैसे घर, कमल, कपड़ा, मैं, परन्तु, अपना, जल, गया आदि। ये जब तक वाक्य में प्रयुक्त नहीं होते पद नहीं कहाते, शब्द कहाते हैं। वाक्य में प्रयुक्त होने पर ही इन्हें पद कहते हैं। 'घर' एक शब्द है। 'मैं अपने घर गया' इस वाक्य में प्रयुक्त 'घर' आदि सभी शब्द 'पद' कहाते हैं।

—'सार्थक पद-समूह' सदा एक वाक्य बन जाए यह आवश्यक नहीं है। इसमें तीन क्षमताएँ अनिवार्य हैं : योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति।

योग्यता कहते हैं बौद्धिक असंगति के अभाव को। 'वह उद्यान को आग से सींचता है'—इस वाक्य में प्रयुक्त सभी पद सार्थक हैं, किन्तु पद-समूह के तात्पर्य में 'योग्यता' का अभाव है—आग से सींचना एक असम्भव प्रक्रिया है। अतः ऐसे पद-समूह 'वाक्य' नहीं कहाते।

आकांक्षा कहते हैं जिज्ञासा को, इसकी पूर्ति जिस पद समूह द्वारा होती है वही वाक्य कहाने योग्य हैं।[2] 'मेरे घर चले जाने पर' यह एक पद-समूह तो है पर इसे वाक्य नहीं कह सकते जब तक कि निम्नोक्त पद-समूह जोड़ने पर आकांक्षानिवृत्ति नहीं हो जाती—'तुम भी चले जाना'। अब इस निराकांक्षा पद-समूह को वाक्य कहेंगे—'मेरे घर चले जाने पर तुम भी चले जाना।'

---

* डा० सत्यदेव चौधरी

१. पदसमूहो वाक्यम् अर्थसमाहतौ। (न्यायभाय)

२. वस्तुतः इस क्षमता को आकांक्षा न कहकर' 'आकांक्षापूर्ति' अथवा 'निरा-कांक्षा' कहना अधिक संगत है।

आसत्ति कहते हैं काल-व्यवधान के अभाव को। 'मैं अपने घर जाता हूँ' यह पद-समूह तभी वाक्य कहाने योग्य हैं जब प्रत्येक उच्चरित पद के बीच का काल-व्यवधान उतना हो जितना कि सामान्य रूप से अपेक्षित है, अन्यथा नहीं। 'मैं' कहकर चुप हो जाना, फिर पाँच-सात मिनट के बाद 'अपने' और फिर 'घर' कहना आदि, यह आसत्ति-रहित पद-समूह वाक्य नहीं कहाएगा।

अस्तु ! उस सार्थक पद-समूह को वाक्य कहते हैं जो योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति इन तीन क्षमताओं से युक्त हो।

व्याकरण के अनुसार वाक्य का एक लक्षण है 'एक तिङ्' अर्थात् जिसमें एक क्रिया होती है उसे वाक्य कहते हैं। वस्तुतः क्रिया वाक्य का अनिवार्य धर्म है। इसके बिना कोई भी पद-समूह वाक्य नहीं बन सकता।

कभी-कभी क्रिया के बिना भी पद-समूह वाक्य मान लिया जाता है। उदाहरणार्थ 'आपके लिए क्या लाऊँ ?' इस प्रश्न के उत्तर में 'एक गिलास जल' यह पद-समूह यद्यपि क्रियारहित है, तो भी इसे वाक्य मान लिया जाता है। किंतु वस्तुतः यहाँ भी 'लाओ' क्रिया अपेक्षित है। इसी आधार पर उक्त पद-समूह वाक्य मान लिया गया है। वस्तुतः यह स्थिति केवल क्रिया की नहीं है, प्रत्येक शब्द-प्रकार की सम्भव है। 'आपके लिए जल लाऊँ ?' इस प्रश्न के उत्तर में 'हाँ लाओ' यह भी एक वाक्य है, यहाँ तक कि 'हाँ' भी एक वाक्य है।

इसी प्रसंग में एक तथ्य और। वस्तुतः वक्ता के पद-समूह को तभी वाक्य कहना चाहिए जब वह व्यवहार रूप में अथवा कल्पना द्वारा दूसरे व्यक्ति के उच्चरित अथवा मौन प्रत्युत्तर का कारण बनता है। उदाहरणार्थ, इस दृष्टि से बाल-पुस्तिकाओं में प्रयुक्त ऐसे पद-समूह वास्तविक अर्थ में वाक्य नहीं कहे जाने चाहिएँ—'सौदागर आया', 'कौआ छत पर बैठा है,' 'औरत खाना पकाती है,' आदि, क्योंकि ये वक्ता और श्रोता के मध्य विचार-विनिमय का साधन नहीं बन रहे। किंतु फिर भी यदि हम इन्हें वाक्य कहते हैं तो यह मानते हुए कि ऐसे पद-समूह विचार-विनिमय का साधन बनते ही रहते हैं।

शब्द-शक्ति

वाक्य में प्रयुक्त सार्थक शब्द के अर्थबोधक व्यापार के मूल कारण को शब्द-शक्ति कहते हैं। संक्षेप में इसे शक्ति भी कहते हैं।

इसके तीन भेद हैं— **अभिधा, लक्षणा और व्यंजना**। कुछ आचार्य शब्द-शक्ति का एक अन्य भेद भी मानते हैं **तात्पर्यवृत्ति**।

उक्त तीन शक्तियों के अनुसार तीन शब्द माने गए हैं— वाचक, लक्षक और व्यंजक और अर्थ भी तीन माने गए हैं—वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ।

(ख) अभिधा

साक्षात् संकेतित अर्थ के बोधक व्यापार (के मूल कारण) को अभिधा शब्द-शक्ति कहते हैं।

वाचक शब्द—जो साक्षात् संकेतित अर्थ का बोधक होता है उसे वाचक शब्द कहते हैं, और स्पष्ट शब्दों में कहें तो जिस शब्द का अर्थ अभिधा शक्ति द्वारा ज्ञात होता वाचक शब्द कहते हैं। इसे संकेतित शब्द भी कहते हैं।

वाच्यार्थ – किसी (वाचक) शब्द का अभिधा शब्द-शक्ति द्वारा ज्ञात अर्थ वाच्यार्थ कहाता है। वाच्यार्थ से तात्पर्य है किसी शब्द का निश्चित अथवा संकेतित अर्थ।

वाच्यार्थ के अन्य नाम हैं – साक्षात् संकेतित अर्थ, मुख्यार्थ अथवा प्रसिद्धार्थ।

संकेत ग्रहण

(वाचक) शब्द और (वाच्य) अर्थ के सम्बन्ध-ज्ञान को संकेत-ग्रहण कहते हैं। यह संकेत-ग्रहण निम्नोक्त कारणों से होता है – व्याकरण, उपमान, कोष, आप्त वाक्य, व्यवहार, प्रसिद्ध पद का सान्निध्य, वाक्य-शेष, विवृत्ति (विवरण, व्याख्या अथवा टीका) आदि।

इन कारणों में से सर्वप्रमुख कारण व्यवहार का समझना चाहिए, क्योंकि अधिकांशतः इसके द्वारा ही किसी भी भाषा से अनभिज्ञ कोई शिशु अथवा बालक भाषा बोलना सीखता है। कोई विदेशी व्यक्ति भी अधिकांशतः इसी के द्वारा ही किसी अन्य भाषा को सरलतापूर्वक सीख सकता है। व्यवहार के उपरान्त दूसरा स्थान आप्त वाक्य का है – कोष और विवृत्ति भी वस्तुतः एक प्रकार का आप्त वाक्य ही हैं।

वाचक-शब्द के भेद—वाचक (संकेतित) शब्द के चार भेद माने गए है—द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति।

द्रव्य अर्थात् व्यक्तिवाचक शब्द—जैसे हिमालय, गंगा, राम आदि।

गुण अर्थात् विशेषणवाची शब्द—जैसे शुक्ल, सुन्दर, निपुण आदि।

क्रिया को निमित्त मानकर प्रयुक्त होने वाले शब्द—जैसे पाक, हास-परिहास, लेन-देन, उठो-बैठो आदि।

जाति—जैसे गौ, बालक, माषाण आदि।

अभिधा शब्द-शक्ति का क्षेत्र

अभिधा शब्दशक्ति मुख्यार्थ तक सीमित है, चाहे कोई वाचक शब्द एकार्थक हो अथवा अनेकार्थक।

(१) एकार्थक शब्दों का मुख्यार्थ नियत रहता है, अतः उनके विषय में किसी प्रकार के सन्देह का अवकाश नहीं है।

(२) अनेकार्थक शब्द के विषय सन्देह हो सकता है कि कवि को केवल एक अर्थ अभीष्ट है अथवा दोनों अभीष्ट हैं। अनेकार्थक का शब्द स्थलों में प्रयुक्त होते हैं— श्लिष्ट और अश्लिष्ट।

(क) श्लेष अलंकार के प्रसंग में कवि को दोनों अर्थ अभीष्ट रहते हैं। अतः

दोनों अर्थ वाच्यार्थ कहाते हैं और दोनों ही अभिधा शक्ति द्वारा ज्ञात माने जाते हैं। उदाहरणार्थ :

हे पूतनामारण सुदक्ष में, जघन्य काकोदर था विपक्ष।
की किन्तु रक्षा उसकी दयालु, शरण्य ऐसे प्रभु हैं कृपालु ॥[1]

यहाँ कवि को राम और कृष्ण दोनों पक्षों के अर्थ एक-समान अभीष्ट हैं। अतः दोनों अर्थ वाच्यार्थ हैं तथा अभिधा द्वारा बोधित होते हैं। इसी प्रकार—

करते तुलसीदास भी कैसे मानस-नाद ?
महावीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद ॥[2]

—मैथिलीशरण गुप्त

इस पद्य में कवि मैथिलीशरण गुप्त को 'मानस' और 'महावीर' के दोनों अर्थ अभीष्ट हैं। अतः यह क्षेत्र भी अभिधा शब्द-शक्ति का है।

(ख) अश्लिष्ट स्थलों में भी जहाँ अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग किया जाता है वहाँ अभीष्ट अर्थ केवल एक ही रहता है। कौन-सा अर्थ अभीष्ट है इसके निर्णय के लिए निम्नोक्त १४ नियामक आधार प्रस्तुत किए गए हैं—

संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्य शब्द की सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति, स्वर आदि।[3]

कतिपय उदाहरण लीजिए :

संयोग : शंख, चक्र से युक्त हरि (शंख और चक्र के संयोग से 'हरि' शब्द का निर्णीत अर्थ 'विष्णु' है, अश्व, सिंह, कपि आदि नहीं।)

विप्रयोग : शंख, चक्र से रहित हरि। (यहाँ भी हरि शब्द विष्णु शब्द का ही वाचक है।)

साहचर्य : राम तथा लक्ष्मण बन को गए। (राम शब्द दशरथ-पुत्र का वाचक है, परशुराम का नहीं।)

विरोधिता : लक्ष्मण ने राम पर वाक्य-प्रहार किए। (यहाँ राम शब्द परशुराम का वाचक है, दशरथ-पुत्र का नहीं।)

---

१. राम के पक्ष में – पूतनामा, रण में सुदक्ष।
काकोदर—इन्द्र का पुत्र : जयन्त !
कृष्ण के पक्ष में : पूतना-मारण में सुदक्ष।
काकोदर—कालीय सर्प।

२. मानस – श्री रामचरितमानस, मन।
महावीर—हनुमान, महावीर प्रसाद द्विवेदी।

३. 'आदि' से तात्पर्य है अभिनय तथा इसी प्रकार के अन्य आधार। अभिनय का उदाहरण—इतना बड़ा सर्प। अभिनय द्वारा 'इतना' शब्द कुछ सीमा तक अभीष्ट अर्थ का द्योतक बन जाता है।

अन्तिम 'स्वर' नामक आधार हिन्दी-काव्य में सहायक नहीं होता। वस्तुतः इसका विषय वैदिक संस्कृत है, संस्कृत भी नहीं है।

उक्त १४ ग्राधारों में से 'प्रकरण' को सर्वप्रमुख समझना चाहिए। प्रकरण कहते हैं वक्ता और श्रोता की बुद्धिस्थता को। उदाहरणार्थ, किसी कवि का अपने आश्रयदाता से कहना 'देव, सब कुछ जानते हैं, इस कथन में 'देव' का अभिप्राय उस राजा से है, न कि किसी देवता से है। वस्तुत: 'प्रकरण' में ही शेष आधार अन्तर्भूत हो जाते हैं।

इस प्रकार अभिधा शक्ति का क्षेत्र उक्त तीन रूपों तक सीमित है, जिनमें से एक रूप एकार्थक वाचक शब्दों में है और दो रूप अनेकार्थक शब्दों में हैं। इनके अतिरिक्त एक अन्य रूप भी होता है जिसमें अनेकार्थक वाचक का वाच्यार्थ प्रसंगानुकूल तो कवि को अभीष्ट रहता ही है, साथ ही उसका व्यंग्यार्थ भी उसे अपेक्षित रहता है। स्पष्टत: ऐसे स्थल अभिधा शक्ति के क्षेत्र से बाहर के हैं, ये अभिधामूला व्यंजना के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किए जाते हैं, जिसकी चर्चा आगे यथास्थान की जा रही है।

(ग) लक्षणा

मुख्यार्थ की बाधा होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ लक्षित हो उसे लक्षणा शब्दशक्ति कहते हैं।

लक्षक शब्द जो शब्द लक्षणा शक्ति द्वारा लक्ष्यार्थ का द्योतन करता है उसेलक्षक अथवा 'लाक्षणिक' शब्द कहते हैं।

लक्ष्यार्थ—लक्षणा शक्ति द्वारा गृहीत अर्थ लक्ष्यार्थ कहाता है।

लक्षणा शक्ति के भेदोपभेद

लक्षणा शक्ति के दो प्रमुख भेद हैं—रूढ़ा और प्रयोजनवती।

(क) रूढ़ा लक्षणा—जहाँ मुख्यार्थ रूढ़ि के कारण लक्ष्यार्थ का बोध कराए वहाँ रूढ़ा लक्षणा मानी जाती है। रूढ़ा लक्षणा के अन्तर्गत सभी भाषाओं के मुहावरे एवं लोकोक्तियाँ आ जाती हैं, जैसे दाँत खट्टे करना (परास्त करना), आँखें दिखाना (क्रोध करना) इत्यादि। इसी प्रकार निम्नोक्त पद्य रूढ़ा लक्षणा का ही उदाहरण माना जाता है—

कवि अनूठे कलाम के बल से,
हैं बड़ा ही कमाल कर देते।
बेचने के लिए कलेजे को,
है कलेजा निकाल धर देते।।

—हरिऔध

इसके अतिरिक्त रूढ़ा लक्षणा के उदाहरण-स्वरूप वे शब्द भी लिए जाते हैं जो अपना वाच्यार्थ छोड़कर अब केवल एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण रूढ़ बन गए हैं, जैसे 'वह व्यक्ति अपने कार्य में कुशल है।' यहाँ कुशल शब्द का अर्थ है—निपुण और यह इसका लक्ष्यार्थ है। इसका वाच्यार्थ है कुश को लाने वाला। वस्तुत: ऐसे शब्द अब अभिधा के क्षेत्र में आ गए हैं। इसी आधार पर रूढ़ा लक्षणा 'अभिधापुच्छभूता' कहाती है।

(ख) **प्रयोजनवती लक्षणा**—जहाँ मुख्यार्थ किसी प्रयोजन के कारण लक्ष्यार्थ का बोध कराए, वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा मानी जाती है।

इसका प्रसिद्ध उदाहरण है: 'गंगा में आश्रय है।' यहाँ 'गंगा' शब्द का वाच्यार्थ है गंगा नदी, लक्ष्यार्थ है गंगा-तट। वक्ता का प्रयोजन है आश्रम की शीतलता और पवित्रता द्योतित करना। (यहाँ यह ज्ञातव्य है कि यह प्रयोजन व्यंजना का विषय है, इसी कारण प्रयोजनवती लक्षणा को 'व्यंजनाश्रित' स्वीकार किया गया है।)

प्रयोजनवती लक्षणा के भेद—इसके दो प्रमुख भेद हैं—**गौणी** और **शुद्धा**।

इन दोनों के दो-दो उपभेद हैं—उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा। इस प्रकार ये चार भेद हुए। इन चारों के दो-दो उपभेद हैं—सारोपा और साध्यवसाना। इसप्रकार ये आठ भेद हुए – चार गौणी के और चार शुद्धा के—

(क) १. गौणी उपादानलक्षणा — सारोपा
२. गौणी उपादानलक्षणा — साध्यवसाना
३. गौणी लक्षणलक्षणा — सारोपा
४. गौणी लक्षणलक्षणा — साध्यवसाना
(ख) ५. शुद्धा उपादानलक्षणा — सारोपा
६. शुद्धा उपादानलक्षणा — साध्यवसाना
७. शुद्धा लक्षणलक्षणा — सारोपा
८. शुद्धा लक्षणलक्षणा — साध्यवसाना

पहले इन भेदों तथा उपभेदों के लक्षण लीजिए:

गौणी कहते हैं सादृश्य-सम्बन्ध को, और **शुद्धा** कहते हैं सादृश्य से इतर सम्बन्ध कोजैसे आधार-आधेय सम्बन्ध, आश्रय-आश्रित सम्बन्ध, कारण-कार्य सम्बन्ध, सामीप्य-सम्बन्ध, साहचर्य-सम्बन्ध, तात्कर्म्य सम्बन्ध आदि।

उपादानलक्षणा का दूसरा नाम है अजहत्स्वार्था। जहाँ मुख्यार्थ का त्याग नहीं होता, और साथ ही वह अन्य अर्थ कामी आक्षेप कराता है उसे उपादान लक्षणा कहते हैं। **लक्षणलक्षणा** का दूसरा नाम जहत्स्वार्था है। जहाँ वाच्यार्थ अन्य अर्थ की सिद्धि के लिए अपने-आपको अर्पित कर देता है, वहाँ लक्षणलक्षणा मानी जाती है।

सारोपा में उपमेय (विषय अथवा प्रस्तुत) और उपमान (विषयी अथवा अप्रस्तुत) दोनों का ग्रहण रखता है और साध्यवसाना में केवल उपमान (विषयी) अथवा अप्रस्तुत का। इसमें उपमान (अप्रस्तुत) उपमेय (प्रस्तुत) को अध्यवसित (निगीर्ण) कर लेता है।

अब इनके उदाहरण लीजिए—

(१) गौणी उपादानलक्षण सारोपा

स्वर्गलोक की तुम अप्सरि थीं,
तुम वैभव में पली हुई थीं,

—हरिकृष्ण 'प्रेमी'

'तुम' और 'अप्सरि' में सादृश्य सम्बन्ध होने के कारण यहाँ गौणी है। 'अप्सरि' शब्द का यहाँ लक्ष्यार्थ है – सर्वांगसुन्दरी, मनोमोहिनी आदि, अतः उपादान लक्षणा है। तुम और अप्सरि—उपमेय और उपमान दोनों का प्रयोग किए जाने के कारण सारोपा है।

(२) गौणी उपादानलक्षणा साध्यवसाना

जब हुई हकूमत आँखों पर जनमी चुपकी मैं आहों में।
कोड़ों की खाकर मार पली, पीड़ित की दबी कराहों में।।
—दिनकर

यहाँ 'कोड़ों की खाकर मार' का लक्ष्यार्थ है – अतिशय अत्याचार। इन दोनों में सादृश्य सम्बन्ध होने के कारण गौणी है। 'कोड़ों की खाकर मार' का यहाँ अतिरिक्त अर्थ भी अभीष्ट है, अतः उपादानलक्षणा है। केवल अप्रस्तुत का प्रयोग किया जिसके कारण साध्यवसाना है।

(३) गौणी लक्षणलक्षणा सारोपा

स्वर्ण-किरण-कल्लोलों पर बहता रे यह बालक मन।
—निराला

किरण और कल्लोल में सादृश्य सम्बन्ध स्थापित किए जाने के कारण यहाँ गौणी है। किरण को कल्लोल बना देने से मन का बहना सम्भव हो सका है। इस प्रकार किरण का अपना अर्थ छूट गया है, अतः लक्षणलक्षणा है। उपमेय (किरण) तथा उपमान (कल्लोल) दोनों का कथन किया गया है, अतः सारोपा है।

(४) गौणीलक्षणलक्षणा साध्यवसाना

फूले कमलन यों अली, विहँसि चितै इहि ओर।
—कुलपति

(भ्रमर ने खिले कमल की ओर हँसकर देखा -- अर्थात् नायक ने प्रफुल्लवदनी नायिका को देखा।)

नायक और भ्रमर तथा नायिका और कमल में सादृश्य सम्बन्ध स्थापित करने के कारण यहाँ गौणी है। भ्रमर और कमल शब्दों का अपना अर्थ छूट गया है, अतः लक्षणलक्षणा है। केवल इन्हीं का कथन किया गया है, अतः साध्यवसाना है।

(५) शुद्धा उपादानलक्षणा सारोपा

भाले आए जब वहाँ, चले बाण घनघोर।

यहाँ 'भाले' शब्द का वाच्यार्थ हैं अस्त्र विशेष और लक्ष्यार्थ है भाला-धारी पुरुष। इन दोनों अर्थों में सादृश्य-सम्बन्ध नहीं है, धार्य-धारक सम्बन्ध है, अतः शुद्धा है। 'ये'

विषयी और 'भाले' विषय दोनों का कथन होने के कारण सारोपा है। 'भाला' का अर्थ 'भालाधारी' व्यक्ति होने के कारण उपादानलक्षणा है।

मम्मट के आधार पर इसका उदाहरण हो सकता है—**'कुन्ताः प्रविशन्ति।'**

(६) शुद्धा उपादानलक्षणा साध्यवसाना

विद्युत की इस चकाचौंध में देख दीप की लौ रोती है।
अरी हृदय को थाम महल के लिए झोंपड़ी बलि होती है।

—दिनकर

यहाँ 'महल' का लक्ष्यार्थ है महल-निवासी धनी, और झोंपड़ी का लक्ष्यार्थ है—झोंपड़ी-निवासी निर्धन। महल और धनी, तथा झोंपड़ी और निर्धन में आश्रय-आश्रित सम्बन्ध है, अतः शुद्धा है। महल और झोंपड़ी शब्दों का अतिरिक्त अर्थ भी अभीष्ट है अतः उपादानलक्षणा है। केवल इन्हीं विषयी शब्दों का प्रयोग किया गया है, इनके विषय 'निवासी' शब्दों का नहीं, अतः साध्यवसाना है।

(७) शुद्धा लक्षणलक्षणा सारोपा

आज भुजंगों से बैठे हैं वे कंचन के घड़े दबाए।

—हरिकृष्ण 'प्रेमी'

भुजंग शब्द का वाच्यार्थ है सर्प और लक्ष्यार्थ है धनसंग्राहक व्यक्ति। भुजंग और वे (धनी व्यक्तियों) में तात्कर्म्य सम्बन्ध है, अतः शुद्धा है। 'भुजंग' शब्द का सर्प अर्थ नितान्त अभीष्ट नहीं है, अतः लक्षणलक्षणा है। 'भुजंग' और 'वे' दोनों का प्रयोग किया गया है, अतः सारोपा है।

(८) शुद्धा लक्षणलक्षणा साध्यवसाना

अबला जीवन, हाय ! तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।।

—मैथिलीशरण गुप्त

आँचल का लक्ष्यार्थ है पयोधर। आँचल और पयोधर में सामीप्य-संबंध होने के कारण शुद्धा है। आँचल का अर्थ नितान्त छूट जाने के कारण लक्षणलक्षणा है। केवल आँचल रूप एक पक्ष का ग्रहण होने के कारण साध्यवसाना है। इसी प्रकार—

मैंने चाहे कुछ इसमें विष अपना डाल दिया हो।
रस है यदि तो तेरे चरणों ही का झूठन है।।

—भारतीय आत्मा

यहाँ विष का लक्ष्यार्थ है काव्य-दोष, और रस का लक्ष्यार्थ है—काव्य चमत्कार।

(घ) व्यंजना

अभिधा और लक्षणा द्वारा अपना-अपना अर्थ बोधन करके शान्त हो जाने पर जिसके द्वारा अन्य अर्थ का बोधन होता है उसे व्यंजना शब्द शक्ति कहते हैं।

व्यंजक-शब्द—जिस शब्द से व्यजना शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है उसे व्यंजक शब्द कहते हैं।

व्यंग्यार्थ—व्यंजना शक्ति द्वारा प्रतीत अर्थ व्यंग्यार्थ कहाता है। इसे प्रतीयमानार्थ ध्वन्यर्थ आदि भी कहते हैं।

व्यंजना शक्ति के भेदोपभेद

इसके दो प्रमुख भेद हैं—**शाब्दी और आर्थी।**

शाब्दी व्यंजना के दो उपभेद माने गए हैं—अभिधामूला और लक्षणामूला।

(१) शाब्दी व्यंजना

(क) अभिधामूला व्यंजना—अभिधामूला व्यंजना उसे कहते हैं जिसके द्वारा किसी अनेकार्थक शब्द के उस अर्थ की भी प्रतीति हो जाती है जो संयोग, विप्रयोग आदि नियामक कारणों द्वारा अवाच्य घोषित हो चुका हो। उदाहरण—

मुखर मनोहर श्याम रंग बरसत मुद अनुरूप।
झूमत मतवारी झमकि बनमाली रस रूप॥—अज्ञात

यहाँ प्रस्तुत प्रसंग वनमाली अर्थात् मेघ का है, और वनमाली का यहाँ अर्थ संयोगादि द्वारा निर्णीत भी है, किंतु अभिधामूला व्यंजना द्वारा वनमाली का अर्थ 'कृष्ण' भी प्रतीत होता है, जिससे 'मेघ' और 'कृष्ण' में उपमेय-उपमान भाव भी फलित हो जाता है।

यहाँ यह स्पष्ट कर दिया जाए कि श्लेष अलंकार में कवि को दोनों अर्थ वाच्यार्थ रूप में अभीष्ट होते हैं और वे दोनों ही प्रस्तुत होते हैं, किंतु अभिधामूला व्यंजना में एक अर्थ प्रस्तुत होता है और दूसरा अप्रस्तुत। प्रस्तुत अर्थ वाच्य होता है और अप्रस्तुत अर्थ व्यंग्य।

(ख) लक्षणामूला व्यंजना—जिस प्रयोजन के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है वह प्रयोजन जिस शक्ति के द्वारा प्रतीत होता है उसे लक्षणामूला व्यंजना कहते हैं।

दूसरे शब्दों में जिसके द्वारा (वाच्यार्थ और) लक्ष्यार्थ के उपरान्त प्रयोजन-रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, उसे लक्षणामूला व्यंजना कहते हैं।

लक्षणामूला व्यंजना का बहुचर्चित उदाहरण है—'गंगायां घोषः' अर्थात् गंगा पर घोष (अमीरों की बस्ती) है : यह इसका वाच्यार्थ है। लक्ष्यार्थ है कि घोष गंगा-तट पर है और इसका व्यंग्यार्थ लक्षणामूला व्यंजना से यह ज्ञात होता है कि घोष शीतल और पवित्र है (ऐसा शीतल और पवित्र है मानो गंगा तट पर हो); इसी प्रकार :

बैठि रही हम हूँ हिय हारि,
कहा लगि टारियै हाथन गाजै।

यह उक्ति बसन्तागम पर विरहिणी नायिका की है। यहाँ 'टारियै हाथन गाजै' का वाच्यार्थ है हाथों से वज्र रोकना। लक्ष्यार्थ है विरह-जन्य दुःख सहना और व्यंग्यार्थ है विरह का अतिशय, जो कि लक्षणामूला व्यंजना द्वारा गम्य है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि लक्षणामूला व्यंजना को शाब्दी न मानकर आर्थी ही मानना चाहिए, क्योंकि इसका चमत्कार अभिधामूला व्यंजना के समान किसी शब्द-विशेष पर आश्रित नहीं रहता।

(२) आर्थी व्यंजना

जो शब्दशक्ति निम्नोक्त १० विशिष्टताओं के कारण अन्य अर्थ का बोधन कराती है उसे आर्थी व्यंजना कहते हैं। वे विशिष्टताएँ हैं – वक्ता, बौद्धव्य (श्रोता) काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव (प्रकरण), देश, काल, चेष्टा आदि। इन्हीं विशिष्टताओं के आधार पर आर्थी व्यंजना दस प्रकार की मानी गयी है।

कतिपय उदाहरण लीजिए —

(१) वक्तृवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना

निरखि सेज रंग रंग भरी लगी उसास लैन।
कछु न चैन चित्त में रह्यौ चढ़त चाँदनीरैन॥

—पद्माकर

होली के दिनों में चाँदनी रात में नायिका की अवस्था का वर्णन एक सखी नायक से कर रही है। वक्ता (सखी) का प्रयोजन यह है कि नायक अत्यन्त निष्ठुर है, उसे अपनी नायिका से अलग नहीं रहना चाहिए।

(२) बौद्धव्य—(श्रोतृ) वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना

खो के आत्मगौरव स्वतंत्रता भी, जीते हैं।
मृत्यु सुखदायक है वीरो इस जीने से॥

—वियोगी हरि

यहाँ श्रोतुजन के सम्बन्ध में व्यंग्यार्थ यह है कि वे अत्यन्त विलासी हैं।

(३) प्रस्ताव (प्रकरण) वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में, प्रियतम का प्राणों के पण में।
हमीं भेज देती हैं रण में, क्षात्र धर्म के नाते।
सखी वे मुझसे कहकर जाते।

—मैथिलीशरण गुप्त

यह यशोधरा की अपनी सखी से उक्ति है। यहाँ प्रकरणगत व्यंग्यार्थ यह है कि यदि गौतम यशोधरा से कहकर जाते तो उन्हें इस पुण्य कार्य के करने में कोई बाधा न होती।

(४) अन्यसन्निधिवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना

निह्चल बिसिनी पत्र पै बलाक यहि भांति ।
मरकत भाजन पै मनौ अमल संख सुभ काँति ।।

नायिका की नायक से उक्ति है—देखो, कमलिनी के पत्ते पर बैठा हुआ यह बगुला इस प्रकार सुन्दर दीखता है जैसे कि मानो निर्मल मरकत मणि की थाली पर रखा हुआ शंख । यह उक्त पद्य का वाच्यार्थ है ।

व्यंग्यार्थ है कि यह स्थान अत्यन्त निर्जन एवं एकान्त है—(क्योंकि यहाँ बगुला तक किसी के डर से पंख नहीं फड़फड़ाता, वह निश्शंक बैठा हुआ है)। यह व्यंग्यार्थ वक्ता और बोधक से किसी अन्य अर्थात् बलाका द्वारा प्रतीत होता है । अत: यहाँ अन्य-सन्निधिवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना है ।

उक्त निर्जनत्व रूप व्यंग्यार्थ से अन्य व्यंग्यार्थ यह भी प्रतीत होता है कि 'यह संकेत स्थल है', तथा यह व्यंग्यार्थ भी कि 'तुम भी अभी पहुँचे हो, अन्यथा यह बलाका उड़ न गयी होती ।'

आर्थी व्यंजना के प्रकरण में अन्तिम ज्ञातव्य प्रसंग यह है कि आर्थी व्यंजना का उक्त सम्पूर्ण विषय-क्षेत्र तीन विभागों में विभक्त हो जाता है—

(१) वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति—जैसे 'निरखि सेज रंग'--आदि पद्य ।

(२) लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ प्रतीति – जैसे 'गंगा पर आश्रम है ।'

(३) व्यंग्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति – जैसे 'निह्चल बिसिनी पत्र'···पद्य में दिखायी गयी है ।

(ङ) तात्पर्य वृत्ति

कुछ मीमांसक प्रभाकर के अनुयायी हैं और कुछ कुमारिल भट्ट के । प्रथम प्रकार के आचार्य 'प्राभाकर' कहाते हैं और दूसरे प्रकार के 'भाट्ट' ।

इनमें से प्राभाकर मीमांसक केवल अभिधा वृत्ति को स्वीकार करते हैं, और भाट्ट मीमांसक अभिधा के अतिरिक्त तात्पर्य वृत्ति को भी ।

प्राभाकर मीमांसकों के मत में अभिधा शब्द-शक्ति के द्वारा अन्वित पदार्थों का बोध होता है । इसी कारण ये मीमांसक 'अन्विताभिधानवादी,' कहाते हैं । उदाहरणार्थ, 'वह अपने घर जाता है' इस वाक्य के प्रत्येक पद का पृथक्-पृथक् अर्थ तो अभिधा द्वारा ज्ञात होता ही है, साथ ही इन पदों के अन्वित रूप का अर्थ—अर्थात् सारे वाक्य का तात्पर्य भी इसी शक्ति द्वारा ज्ञात होता है ।

किन्तु इसके विपरीत भाट्ट मीमांसकों के मत में अभिधा शक्ति के द्वारा केवल प्रत्येक पद का पृथक्-पृथक् अर्थ ही ज्ञात होता है, इनके अन्वित रूप का अर्थ ज्ञात नहीं होता । अभिधा वृत्ति का क्षेत्र प्रत्येक पद के अर्थ निर्दिष्ट करने तक सीमित है, सम्पूर्ण वाक्य के तात्पर्य-निर्देश के लिए एक अन्य वृत्ति माननी चाहिए, वह है तात्पर्य वृत्ति । ये मीमांसक 'अभिहितान्वयवादी' कहाते हैं, क्योंकि इनके मत में अभिधा वृत्ति से अभिहित

अर्थात् प्रोक्त अर्थों का आपस में एक अन्य वृत्ति—'तात्पर्य' नामक वृत्ति द्वारा अन्वय-सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है।

निष्कर्षत : **अभिधा** वृत्ति द्वारा वाक्यगत प्रत्येक पद का वाच्यार्थ ज्ञात हो चुकने के उपरान्त जिस वृत्ति द्वारा उन पदों के अन्वित अर्थ (तात्पर्य) का ज्ञात होता है उसे तात्पर्य वृत्ति कहते हैं।

हम उन आचार्यों से सहमत हैं जो इसे पृथक् रूप से स्वीकार करते हैं।

अध्याय ११

नाटय शास्त्र*

(क) नाट्य : परिचय

इन्द्रियों की मध्यस्थता के विचार से काव्य के दो भेद होते हैं— श्रव्यकाव्य श्रौर दृश्यकाव्य। श्रव्यकाव्य वह है जिसका श्रानन्द कानों द्वारा लिया जाता है श्रौर दृश्यकाव्य वह है जिसका श्रानन्द मुख्यतया श्राँखों द्वारा प्राप्त होता है। दृश्यकाव्य को श्रव्यकाव्य की भाँति उपयोग में ला सकते हैं, किन्तु श्रव्यकाव्य को दृश्यकाव्य की भाँति सरलता से नहीं। प्रदर्शन की प्रधानता के कारण दृश्यकाव्य काव्य के दूसरे भेदों से सर्वथा भिन्न श्रौर श्रद्भुत है। भारतीय वाङ्मय में दृश्यकाव्य का विशेष महत्त्व माना जाता है। श्रव्यकाव्य की श्रपेक्षा दृश्यकाव्य का क्षेत्र मर्यादित है तो भी रसास्वाद श्रौर प्रभाव की दृष्टि से दृश्यकाव्य का स्थान श्रव्यकाव्य से ऊपर है। श्रव्यकाव्य का पूरा श्रानन्द जनसाधारण नहीं उठा सकते क्योंकि वह विद्वत्समाज की वस्तु है किन्तु दृश्य-काव्य जनता की वस्तु है।

दृश्यकाव्य के लिए श्रादि नाट्याचार्य मुनिभरत ने 'नाट्य' शब्द का प्रयोग किया है। नाट्य शब्द की व्युत्पत्ति नट् धातु से हुई है। नट् धातु श्रनुकरण श्रर्थ में है। दृश्यकाव्य के लिए 'रूपक' शब्द का भी व्यवहार देखा जाता है। 'रूपक' शब्द का श्रर्थ है 'रूप का श्रारोप'।[1]

दशरूपककार धनंजय ने श्रवस्था-विशेष के श्रनुकरण को नाट्य कहा है।[2] श्रवस्था के इस श्रनुकरण को कविराज विश्वनाथ ने श्रभिनय कहा है। नटों की श्रव-स्थाश्रों का यह श्रभिनय चार प्रकार का है :—श्रांगिक, वाचिक, श्राहार्य्य श्रौर सात्त्विक। इन चारों श्रवस्थाश्रों का समवेत रूप ही वस्तुतः नाटक की शुद्ध परिणति मानी जाती है।

श्रांगिक—श्रांगिक श्रभिनय में भ्रू, सिर, दृष्टि, हस्त, कटि, पद-चालन श्रादि की श्रनेक भंगिमाएँ, मुद्राएँ होनी चाहिए। नाट्यशास्त्र में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है। **वाचिक** में वाणी-उक्तियों के छन्द, स्वर, शैली, भाषा श्रादि प्रकारों का श्रनुकरण किया जाता है। **श्राहार्य** में तत्कालीन पात्रों की वेश-भूषा श्रौर श्रनुकार्य्य की

---

* डॉ० दशरथ श्रोझा

१. रूपारोपात्तु रूपकम्—सा० दर्पण

२. श्रवस्थानुकृतिर्नाट्यम्—सा० दर्पण

प्रकृतिगत चेष्टाओं का अनुकरण होता है। आजकल बहुत से नाटकों में वेश में इतना परिवर्तन कर देते हैं कि उस नाटक के प्रति आस्था ही समाप्त हो जाती है और उपहासास्पद हो जाता है । सात्विक—-इसमें स्तम्भ, विवर्णता 'स्वेद' रोमांच आदि सात्त्विक गुणों का उद्रेक होता है । वास्तव में प्रारम्भ के तीनों गुणों के रहते हुए भी जब तक सात्त्विक भावों का उद्रेक नहीं हो पायेगा तब तक अनुकर्त्ता अपने ही अनुकार्य से अलग मानता रहेगा जिससे वास्तविक अभिनय न हो सकेगा और न सामाजिक ही तादात्म्य रूप अपना सकेंगे ।

(ख) नाट्य के भेद

भारतीय आचार्यों ने नाट्य के दो भेद किए हैं—**रूपक और उपरूपक**। रूपकों में रस की प्रधानता रहती है, उपरूपकों में नृत्य-नृत्त आदि की । आंगिक अभिनय-प्रधान को 'नृत्य' कहते हैं । अभिनय-रहित नाचने को 'नृत्त' कहते हैं ।

रूपक और उसके भेद

रूपक के दस भेद किए गए हैं—नाटक, प्रकरण, भाषा, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथी और प्रहसन ।

रूपक के दस भेदों के लक्षण पर भी विचार कर लेना आवश्यक है :

नाटक—यह रूपक के सभी भेदों में मुख्य है। इसमें कथा-वस्तु प्रसिद्ध ऐतिहासिक, पौराणिक होनी चाहिए । पाँच संधियाँ होनी चाहिएँ । ५ से १० अंकों में वह विभाजित हो । नायक प्रख्यात वंश का राजर्षि हो, प्रतापी धीरोदात्त हो। मुख्य रस केवल एक ही हो, शृंगार अथवा वीर। अन्य रस अंग रूप में हों । ४ या ५ ही पुरुष नायक के सहायक हों । अंकों का स्वरूप गोपुच्छवत् अर्थात् प्रारम्भ के अंक छोटे, मध्य के दीर्घ, फिर अन्त के छोटे हों। नाटक का इतना प्राधान्य हुआ कि रूपक के अन्य भेद भी '**प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति** के आधार पर सभी नाटक कहे जाने लगे। कालिदास का 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक का उदाहरण है ।

भरत मुनि ने नाटक के लिए लिखा है :

पंचसंधि चतुर्वृत्ति चतुःषटयंगसंयुतम्,
षट्त्रिंशल्लक्षणो पेतंमलंकारोपशोभितम् ।
महारसं महाभोगमुदात्त रचनान्तितम्,
महापुरुष संचारं साध्वाचारं जनप्रियम्
सुश्लिष्टसंधियोगञ्च सुप्रयोगं सुखाश्रयम्
मृदुशब्दातिपातचं कविः कुर्यात्तुनाटकम् ।

नाटक के विषय में भरतमुनि का इतना सादर आग्रह है कि :

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न साविद्या न सा कला ।
न तत्कर्म न वा योगो नाटके यन्न दृश्यते ।

प्रकरण—इसकी कथा-वस्तु कवि-कल्पित, लौकिक होती है। शृंगार-रस ग्रंगी होता है, नायक धीर, प्रशान्त, धर्म, ग्रर्थ ग्रौर काम में निरत, कहीं ब्राह्मण, कहीं ग्रमात्य, कहीं वणिक होता है। नायिका कुलीन-कन्या या वेश्या होती है। शेष बातें नाटक की ही तरह हैं। मृच्छकटिक, मालती माधव, पुष्प-भूषित इसके उदाहरण हैं।

भाण—इसमें धूर्तों ग्रौर दुष्टों का चरित्र रहता है। कथानक कल्पित होता है। हास्य रस की प्रधानता होती है। इसमें नायक ग्रपने ग्रथवा दूसरे की ग्रनुभव की बातें ग्राकाश की ग्रोर मुँह उठाकर कहता है ग्रौर स्वयं ही उत्तर भी देता है। एक ही ग्रंक में कथानक समाप्त होता है। 'लीला मधुकर' इसका उदाहरण है।

व्यायोग--इसकी कथावस्तु प्रख्यात होती है। स्त्रियाँ बिल्कुल नहीं या बहुत कम होती हैं। नायक धीरोदात्त होता है। कैशिकी वृत्ति वर्जित हैं। वीररस प्रधान होता है। हास्य, श्रंगार ग्रौर शान्त रस वर्जित हैं। इसमें ग्रंक एक ही होता है। एक ही दिन की कथा वर्णित होती है। भास का मध्यम-व्यायोग उदाहरण है।

समवकार—इसकी कथा प्रख्यात होती है। विमर्श को छोड़कर सभी संधियाँ होती हैं। नायक धीरोदात्त होते हैं ग्रौर उनकी संख्या १२ तक हो सकती है। वे देव तथा दानव दोनों होते हैं। ग्रंक तीन होते हैं। वीर रस प्रधान होता है। कैशिकी वृत्ति वर्जित है। इसकी कथा ३६ घड़ी की होती है। बिन्दु ग्रौर प्रवेशक नहीं होते। प्रत्येक नायक को क्रिया का फल ग्रलग-ग्रलग मिलता है। इसका उदाहरण 'समुद्र मंथन' है।

डिम—इसकी कथा पौराणिक होती है। रौद्र रस प्रधान होता है। ग्रौर रस सहायक होकर ग्राते हैं। चार ग्रंकों में विभाजित होता है। निष्कम्भ ग्रौर प्रवेशक नहीं होते। देव, गन्धर्व, राक्षस यक्षादि १६ तक नायक होते हैं। कैशिकी वर्जित है। शान्त, हास्य ग्रौर शृंगार रस वर्जित हैं। भरतमुनि का 'त्रिपुर दाह' इसका उदाहरण है।

ईहामृग—इसमें प्रख्यात तथा कल्पित दोनों मिश्रित वृत्त होता है। कथा चार ग्रंकों में विभक्त होती है। नायक ग्रौर प्रीतिनायक धीरोद्धत नर या देव होते हैं। मृग की भाँति ग्रलभ्य कामिनी की इच्छा का विषय होता है। शृंगार रस का प्राधान्य होता है। नायक-प्रतिनायक में युद्ध की तैयारी होती हैं। युद्ध नहीं हो पाता। प्रतिनायक का वध नहीं हो पाता। नायक को नायिका नहीं मिलती हैं ग्रौर वह मरने से बच जाता है।

ग्रंक—इसकी कथा प्रख्यात होती है; कवि उसे कल्पना द्वारा विस्तृत करता है। साधारण पुरुष नायक होता है। करुण रस की प्रधानता होती है। स्त्रियों के शोक का विशेष वर्णन होता है। वाचिक युद्ध होता है। बहुत से निर्वेद वचन कहे जाते हैं। भारती वृत्ति होती है। 'शर्मिष्ठा-ययाति' इसका उदाहरण है।

वीथी—इसकी कथा कल्पित होती है। यह भाण से मिलता-जुलता है। उत्तम, मध्यम या ग्रधम कोई एक नायक होता है। ग्रंक एक होता है। शृंगार रस तथा विनोद ग्रौर ग्राश्चर्यजनक बातों की प्रधानता रहती है। ग्राकाश-भाषित की तरह उचित प्रत्युक्ति होती है। मुख ग्रौर निर्वहण संधियां होती हैं। ग्रर्थ-प्रकृतियाँ सभी होती हैं।

प्रहसन—इसकी कथा कल्पित होती है। हास्य रस की प्रधानता रहती है। निन्द्य लोगों की प्रधानता रहती है। तपस्वी, संन्यासी आदि नायक होते हैं। अन्त में उपदेश भी मिलता है।

उपरूपक और उसके भेद

नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेङ्खण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हल्लीश।

उपरूपकों में 'नाटिका' प्रधान है। इसकी कथा कल्पित होती है। स्त्री पात्र अधिक होते हैं। प्रसिद्ध धीर-ललित नायक होता है। गायन की अधिकता होती है। नायिका राजकन्या, प्रगल्भा होती है। शृंगार रस प्रधान होता है। 'रत्नावली', विद्धशालभंजिका, इसके उदाहरण हैं। अन्य भेद भी इसी प्रकार लक्षण-ग्रन्थों में देखे जा सकते हैं। विशेष उपयोगी न होने से यहाँ उनका विस्तार नहीं किया जा रहा।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध है कि हमारे यहाँ एकांकी नाटकों का भी प्रचुरता से प्रचलन था। रूपक, उपरूपक के १०—१८—२८ भेदों में से १५ ऐसे हैं जो एकांकी हैं। आधुनिक आलोचकों का यह कहना कि भारत में एकांकी का प्रचलन नहीं था, सर्वथा भ्रामक है। एकांकी नाटक पहले उत्सवों पर सदा अभिनीत होते रहे हैं। हाँ, आजकल समय का अभाव तथा व्ययसाध्य नाटकों का प्रचलन कम होने के कारण एकांकी नाटकों का प्रचार अधिक हुआ है। भारतेन्दुजी के समय से ही छोटे-छोटे नाटकों के लिखने का क्रम चला था, उन्होंने स्वयं भी कई नाटक लिखे थे। प्रसादजी ने भी कई छोटे नाटक लिखे; पर वे सब प्राचीन शैली के हैं। आधुनिक एकांकी नाटकों पर अंग्रेजी साहित्य का बहुत प्रभाव पड़ा है। ड्राइंग रूमों की सजावट, पूरे पृष्ठ भर में सामग्रियों की तालिका आवश्यक अंग बन गई है। इसमें संदेह नहीं कि थोड़े समय में, थोड़े पात्रों के द्वारा इनका प्रभावोत्पादक सफल अभिनय हो रहा है। डॉ० रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास आदि नाटककारों ने इस दिशा में बड़ा योग दिया है।

(ग) नाटक के तत्त्व

नाटक के मुख्य तीन तत्त्व हैं:—वस्तु, नेता और रस।[1] इनपर पृथक्-पृथक् विचार करना समीचीन होगा।

वस्तु

इतिवृत्त, अधिकारी, अभिनय और संवाद के विचार से वस्तु के कई भेद होते हैं। इतिवृत्त के विचार से वस्तु के तीन भेद हैं—प्रख्यात, कल्पित और मिश्रित।

अधिकारी या नायक के संबंध से वस्तु के दो भेद होते हैं। आधिकारिक और प्रासंगिक। नाटक का फल 'अधिकार' कहलाता है और उस फल का भोक्ता अर्थात् नायक 'अधिकारी'। अधिकारी से संबंध रखने वाली कथा 'अधिकारिक' कहलाती है। आधिकारिक कथा नाटक की मूल कथा होती है। किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी अन्य कथाएँ

१. **वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः।**
—दशारूपक।

भी आती हैं जो गौण रहा करती हैं और विशेष स्थितियों में प्रसंगानुकूल अधिकारिक कथा की सहायता करती हैं। इसीलिए उन्हें 'प्रासंगिक' कथा कहते हैं। ये दो प्रकार की होती हैं— बड़ी प्रासंगिक कथाएँ जो दूर तक चलती रहती हैं और छोटी-छोटी कथाएँ जो अवसर विशेष पर आकर और मुख्य कथा की सहायता करके समाप्त हो जाती हैं। बड़ी कथा को पताका और छोटी को 'प्रकरी' कहते हैं।[1] नाटक में मुख्य होता है उसका 'फल'। 'फल' को कथा का 'कार्य' मानते हैं। नाटक की समस्त रचना में वह 'कार्य' कई अवस्थाओं में दिखाई देता है। ये अवस्थाएँ पाँच होती हैं—आरंभ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। फल की प्राप्ति के लिए जो उत्सुकता होती है उसे 'आरंभ' कहते हैं। उसकी प्राप्ति के लिए जो अत्यन्त उत्सुकतायुक्त व्यापार होते हैं उन्हें 'यत्न' कहते हैं। जहाँ फल-प्राप्ति की संभावना तो हो किन्तु कुछ आशंकाओं से घिरी रहे, उसे 'प्राप्त्याशा' कहते हैं। विघ्न बाधाओं के हट जाने पर प्राप्ति के निश्चय की स्थिति को 'नियताप्ति' कहते हैं। जहाँ संपूर्ण फल की प्राप्ति हो जाती है वहाँ 'फलागम' होता है। फलसिद्धि के साधनों के विचार से वस्तु का प्रयोजन भी पाँच भागों में विभक्त है। जिनके नाम हैं— बीज, बिंदु, पताका, प्रकरी और कार्य। फल के प्रथम हेतु को 'बीज' कहते हैं। प्रारंभ में इसका कथन बहुत छोटे रूप में होता है किन्तु आगे चलकर विस्तार होने पर वही नाटक में अनेक रूपों में फैलता है। जैसे बीज में बहुत बड़ा वृक्ष निहित है, वैसे ही यह बीज ही बड़ी कथा का विस्तार पाता है; अतः इसका लाक्षणिक नाम 'बीज' है। दूसरी कथा के विच्छिन्न हो जाने पर प्रधान कथा के साथ उसे जोड़ देने वाले हेतुको 'बिन्दु' कहते हैं। यह 'बिन्दु' उसी प्रकार फैला हुआ दिखाई देता है, जैसे जल पर तेल की बूंद। पताका और प्रकरी के लक्षण ऊपर बताए जा चुके हैं। इन पाँचों को अर्थ-प्रकृतियाँ कहते हैं। कार्यावस्थाओं और अर्थप्रकृतियों को जोड़ने के लिए नाटकों में पंच संधियों का विधान किया जाता है। वे क्रमशः इस प्रकार हैं — मुख, प्रतिमुख, गर्भ विमर्श और निर्वहण।

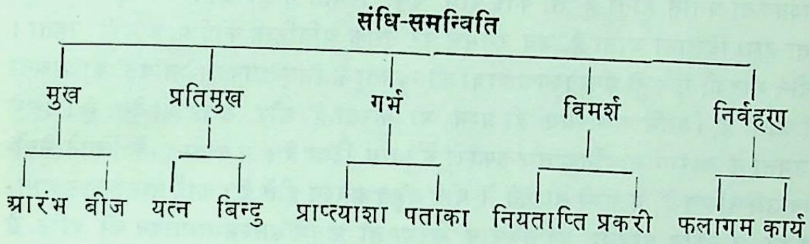
बीज और प्रारंभ को मिलाने वाली सन्धि को, जिसमें बहुत से रसों की कल्पना होती है, 'मुख' कहते हैं। जहाँ मुख संधि में उत्पन्न बीज कभी लक्षित और कभी अलक्षित रहता है, वहाँ 'प्रतिमुख' संधि होती है। जैसे 'रत्नावली' में वत्सराज और सागरिका के समागत के हेतु इन दोनों के पारस्परिक प्रेम को जो प्रथम अंक में सूचित कर दिया गया था, सुसंगता और विदूषक ने जान लिया। यह तो हुआ लक्षित। और वासवदत्ता ने चित्र वाली घटना से उसका अनुमान मात्र किया, यह हुआ अलक्षित। जिस संधि में उपाय कहीं दब जाए और उसकी खोज करने को बीज का और भी विकास हो, उसे 'गर्भ' सन्धि कहते हैं। इसमें फल छिपा रहने के कारण यह नाम पड़ा है। जहाँ पर फल का उपाय पूर्ण विकसित हो जाए किन्तु बीच में शाप, क्रोध, विपत्ति के कारण विघ्न आ जाए तब 'विमर्श' या अवमर्श-संधि कहते हैं। इसमें नियताप्ति और प्रकरी की संधि होती है। जहाँ एक ही प्रधान प्रयोजन में कार्य और फलागम के साथ-साथ सब प्रकार के

---

१ —'सानुबन्ध पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्। —दशरूपक

अर्थों की समाप्ति हो जाती है, उसे 'निर्वहण' संधि कहते हैं। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यद्यपि इनका प्रयोग भिन्न-भिन्न विचारों से किया जाता है, तथापि तीनों के पाँच-पाँच भेद होते हैं और वे एक-दूसरे के सहायक या अनुकूल होते हैं।

अर्थ-प्रकृतियाँ वस्तु के तत्वों से, अवस्थाएँ कार्य-व्यापार से और भी संधियाँ रूपक-रचना के विभागों से संबंध रखती हैं। स्पष्टता के लिए नीचे सारिणी दी जाती है—



उपन्यास या प्रबंध काव्य में कथा को विस्तृत किया जा सकता है। पाठक कुछ घंटे या कुछ अधिक दिन भी लगा सकते हैं। पर रूपक की कथा-वस्तु सीमित होती है। उसे लगभग तीन घंटों में ही या नियत समय में समाप्त कर देना पड़ता है। अतः नाटककार समस्त कथावस्तु में से उन्हीं आवश्यक मार्मिक स्थलों का चयन करता है जो नायक-नायिका के चरित्र-चित्रण में सहायक हों, साथ ही रंगमंच पर कुशलता से निःसंकोच दिखाए जा सकें। इस प्रकार के अभिनय के विचार से कथाएँ दो प्रकार की होती हैं—वाच्य और सूच्य।

वाच्य का विचार ऊपर हो चुका है। नाटक में ऐसी कथाएँ, जिनका उसके नाटक के उद्देश्य से कोई सीधा संबंध नहीं होता, किन्तु कथा की अखंडता के विचार से जिनकी सूचना अवश्य दी जाती है। उन्हें 'सूत्य' या 'अर्थोपक्षेपक' भी कहते हैं। अर्थोपक्षेपकों के भी पाँच भेद होते हैं—विष्कंभक, प्रवेशक, चूलिका, अंकावतार और अंकमुख।

भूत और भविष्य की घटनाएँ 'विष्कंभक' के द्वारा सूचित की जाती हैं और इसमें सूचक मध्यम श्रेणी का पात्र होता है। 'प्रवेशक' में भी विष्कंभक की ही तरह घटनाएँ सूचित की जाती हैं किन्तु सूचना नीच पात्र के द्वारा दी जाती है। नेपथ्य से जब किसी घटना की सूचना दी जाती है तो उसे 'चूलिका' कहते हैं। किसी अंक के अन्त में आगामी अंक में घटित होने वाली घटना की सूचना दे दी जाती है, उसे 'अंकावतार' कहते हैं। पिछले अंक में सूचना देने वाला पात्र जब अगले अंक में रंगमंच पर काम करता हुआ दिखाई देता है तो उसे 'अंकमुख' कहते हैं।

रंगशाला में कार्य करने वाले पात्रों के संवाद के विचार से कथा के तीन भाग किए गए हैं—सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य और अश्राव्य।

किसी पात्र की उक्ति को रंगशाला में उपस्थित यदि सब पात्र सुनें तो 'सर्वश्राव्य' हैं, यदि उनमें कुछ ही सुनें तो उसे 'नियतश्राव्य' कहते हैं। पर कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वह इस प्रकार कोई बात कहता है मानो वह किसी को सुनाना नहीं चाहता और न कोई उसकी बात सुनता ही है। ऐसे कथन को 'अश्राव्य' या 'आत्मगत' कहते हैं।

'नियतश्राव्य' के भी दो भेद किए गए हैं—जनांतिक और अपवारित। आधुनिक विचार के अनुसार नाटकों में स्वगत-कथन कृत्रिम माना जाने लगा है, क्योंकि पात्र रंगशाला में उपस्थित होते हुए भी सुनी-अनसुनी करते हुए मान लिए जाते हैं, यद्यपि सामाजिक (दर्शक) दूर बैठे हुए भी सुन लेते हैं। यही बात नियतश्राव्य और उसके भेदों के विषय में भी है। आजकल सर्वश्राव्य को ही उचित माना जाने लगा है। यदि स्वगत-कथन की आवश्यकता प्रतीत होती है तो कोई पात्र वैसी स्थिति में ही अपने मन की बात व्यक्त करता हुआ दिखाया जाता है, जब रंगमंच पर उसके अतिरिक्त कोई पात्र नहीं रहता। प्राचीन नाटकों में कहीं अनावश्यक पात्रों की न्यूनता के लिए 'आकाश-भाषित' की योजना पाई जाती है, जिसमें पात्र स्वंय ही प्रश्न भी करता है और उत्तर भी देता है। इसमें कृत्रिमता के कारण आधुनिक नाटककारों ने त्याग दिया है। कथावस्तु के जितने भेदोपभेद उल्लिखित हैं, वे सभी नाटकों में थोड़े बहुत अवश्य होते हैं। कोई नाटककार जान-बूझकर शास्त्रीय प्रक्रिया का विधान करेगा तो उसमें शास्त्र-सम्पादन की दृष्टि से कृत्रिमता परिलक्षित होने लगेगी। सफल नाटककार जब नाटक प्रस्तुत करता है तो स्वतः वे सारे नियम अपने-आप घटित होने लगते हैं जो शास्त्र-सम्मत हैं। भारतीय पद्धति पर जिनकी थोड़ी भी आस्था रही है, उनके नाटकों में इन तत्त्वों का समुचित स्थान मिला है।

अभिनय की रोचकता के विचार से पात्र-प्रवेश के ढंगों का उल्लेख भी शास्त्रों में मिलता है। प्राचीन नाटकों मे सूत्रधार, नटी, स्थापक आदि अभिनेता नाटक के आरम्भ में आते थे। निर्विघ्न कार्य-समाप्ति की दृष्टि से नान्दी पाठ होता था।[1] तदनन्तर उनका परस्पर वार्तालाप होता था। कवि के गुण-कीर्तन के बाद नाटक प्रस्तुत करने का विचार होता था। ऋतु के अनुसार गायन के बाद यह बातचीत नाटक की मूल कथा से जोड़ी जाती थी।[2] इस प्रकार कथा के जोड़ने के प्रकारों की दृष्टि से प्रस्तावना के पाँच भेद माने जाते हैं—उद्घातक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक और अवगलित। जहाँ अप्रतीतार्थ को व्यवत करने के लिए और शब्द जोड़ दिये जाते हैं, वहाँ 'उद्घातक' प्रकार होता है। जहाँ सूत्रधार के वाक्य या वाक्यार्थ को ग्रहण कर कोई पात्र प्रवेश करे, वहाँ 'कथोद्घात' होता है। यदि किसी प्रयोग के भीतर दूसरा प्रयोग आरम्भ हो जाए और किसी पात्र का प्रवेश हो तो उसे 'प्रयोगातिशय' कहते हैं। जहाँ समय के वर्णन के अनुसार पात्र का प्रवेश हो वहाँ 'प्रवर्तक' होता है। जहाँ सादृश्यादि के द्वारा किसी पात्र

---

१. **आशीर्वचनसंयुक्ता, स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते।**
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता॥

—साहित्य दर्पण।

२. **नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एवं वा।**
सत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्ताविनापि सा॥

—साहित्य-दर्पण।

का प्रवेश सूचित हो, वहाँ 'अवगलित' होता है।

नाटक में वर्जित दृश्य—कुछ ऐसे कार्य हैं, जिन्हें मंच पर दिखाना वर्जित हैं। जैसे दूर से किसी को बुलाना, वध, युद्ध, राज्यविप्लव, देश-विप्लव, विवाह भोजन, शाप, मलोत्सर्ग, मृत्यु, रति, दन्तच्छेद, नखच्छेद और इसी प्रकार की अन्य लज्जास्पद बातें, शयन, अधरचुम्बन, नगर पर घेरा डालना, स्नान, सुगन्धित वस्तुओं का प्रलेप और किसी प्रसंग का अति विस्तार।

यह विधान उस समय का है, जब रंगशाला में वैज्ञानिक साधन नहीं थे; या जिनके दिखाने मात्र से जनता में उद्वेग फैलता था। आजकल चलचित्रों में वे बहुत से कार्य दिखाए जाने लगे हैं, जो प्राचीनकाल में वर्जित थे। नाटक में किसी साधारण पात्र का वध भी किया जाना उतना निषिद्ध नहीं है। हाँ ! नायक का वध नहीं होना चाहिए। स्वर्गीय प्रसादजी के नाटकों में ऐसे दृश्य आए हैं। 'अजातशत्रु' में सेनापति बंधुल का वध हुआ है। तात्पर्य इतना ही है कि नाटक की मूल कथा में जिन दृश्यों के कारण कथा रुकती हो या जिनसे सामाजिकों के हृदय में उद्वेग उत्पन्न हो, ऐसे दृश्यों को वर्जित किया गया है।

नेता

नाटक का दूसरा तत्त्व नेता है। यों तो नाटक में अनेक पात्र महत्त्व के होते हैं, उन्हीं के सहारे कथावस्तु का विस्तार होता है। यदि हम पात्रों के कथोपकथन आदि पर कुछ विशेष ध्यान न दें तो भी हमें केवल वस्तु और चरित्र के विकास से ही नाटक की सब बातों का पता लग जाए और जान लें कि नाटक का कौन पात्र कैसा है। नाटक का कोई-न-कोई उद्देश्य होता है। कथावस्तु अन्त में उसी में परिसमाप्त होती है। भारतीय आचार्यों ने नायक और नायिका का विशेष रूप से विवेचन किया है। साथ ही किन्हीं विशेष गुणों से उन्हें सुसज्जित माना है। नायक को आचार्य धनंजय के अनुसार विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष प्रियंवद, शुचि, लोकप्रिय, वाग्मी, कुलीन, स्थिरचित्, युवा, बुद्धिमान, प्रज्ञावान, स्मृति, सम्पन्न, उत्साही, कलाविद्, शास्त्रों का ज्ञाता, आत्मसम्मानी शूर, दृढ़, तेजस्वी और धार्मिक होना चाहिए। इस प्रकार भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार उसे सभी उच्च गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। नायक नम्र हो किन्तु ऐसा नम्र न हो जो पददलित किया जा सके। भारतीय नाट्यशास्त्र के नायक की नम्रता दौर्बल्य की नहीं वरन् उच्च शील और संस्कृति की द्योतक है। इसीलिए नम्रता के साथ स्वाभिमानी तथा तेजस्वी भी होना अनिवार्य है। प्रकृति भेद से नायक चार प्रकार के कहे गए हैं—उदात्त, उद्धत, ललित और प्रशान्त। इन विशिष्ट प्रकार के नेता वर्ग से यह प्रतीत होता है कि हमारी परम्परा आदर्श रही है। हम उन्हीं गुणों वाले व्यक्ति को नेता बनाएँगे, जिनकी छाप समाज के लिए कल्याणकारिणी हो। काव्य का उद्देश्य ही हमारी उदात्त भावनाओं को जागरूक करना है। आधुनिक भौतिक यथार्थवादी युग में ऐसे भी नायक होने लगे हैं, जिनसे हमारी प्राचीन परंपरा का मेल नहीं बैठता।

१. उदात्त—शक्ति-सम्पन्न, आत्मश्लाघा-रहित, क्षमावान्, ऊर्जस्वी, हर्ष-शोक

में समगति, विनीत, दृढ़व्रत, उदात्त नायक होता है। राम, युधिष्ठिर इसी श्रेणी के नायक हैं।

२. उद्धत—मायावी, प्रचण्ड, चंचल प्रकृति, अहंकार-दर्पपूर्ण, आत्मश्लाघी, इन गुणों से युक्त नायक 'उद्धत' कहलाता है, इस श्रेणी में भीमसेन, परशुराम आदि आते हैं।

३. ललित—निश्चिन्त, सुकुमार, कलाविद् नामक 'ललित' कहलाता है; जैसे 'रत्नावली' में वत्सराज।

४. प्रशान्त—नायकोचित सामान्य गुणों के अतिरिक्त शान्त, प्रसन्न स्वभाव का नायक 'प्रशान्त' कहलाता है। जैसे—'मालती-माधव' में माधव, 'मृच्छकटिक' में चारुदत्त आदि।

नायिका—नायक की प्रिया पत्नी को 'नायिका' कहते हैं। आधुनिक नाट्यशास्त्र में यह आवश्यक नहीं है कि नायक की प्रिया पत्नी ही नायिका हो। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार जो स्त्री नाटकीय कथावस्तु के विकास में प्रधान योग दे, वही 'नायिका' कहलाएगी। परन्तु भारतीय नाट्यशास्त्र में नायक की प्रिया ही नायिका कहलाती है। नायक के सामान्य गुण नायिका में भी आवश्यक हैं। नाट्याचार्य भरतमुनि ने नायिकाओं के चार भेद गिनाए हैं—दिव्या, नृपतिनी, कुलस्त्री और गणिका। परन्तु ये भेद न तो सर्वमान्य ही हुए और न विशेष प्रचलित ही। नायिका के मुख्य तीन भेद सर्वमान्य हैं। धनंजय ने भी इसे ही माना है:—स्वकीया, परकीया और सामान्या। इनके अनेक भेदोपभेद हैं, जिनका वर्णन यहाँ अप्रासंगिक होगा।

प्राचीन नाटकों में नायिका को प्रधानता नहीं मिलती रही, ऐसा प्रतीत होता है। आधुनिक नाटकों में नायिका को भी फल-प्राप्ति की अधिकारिणी माना गया है। स्वर्गीय प्रसादजी का 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक इसका ज्वलंत उदाहरण है। इसमें ध्रुवस्वामिनी ही मुख्य पात्र के रूप में प्रस्तुत की गई है।

अन्य पात्र—नायक के कार्यों में बाधा डालने वाला या फल-प्राप्ति में विलम्ब पहुँचाने वाला पात्र 'प्रतिनायक' कहलाता है। पर ऐसे पात्र का सभी नाटकों में न तो होना ही आवश्यक है और न उसका कोई विशेष प्रतीक ही मिलता है। संस्कृत नाटकों में विदूषक का होना आवश्यक माना जाता था। यह 'ब्राह्मण' होता था, इसका मुख्य कार्य राजा को प्रसन्न करना, नायक-नायिका के मनोमालिन्य को दूर करना, भोजन-प्रियता एवं अवसर पर उचित परामर्श देना होता था। आधुनिक नाटकों में विदूषक नहीं रखा जाता। प्राचीन नाटकों में अधम नायक तथा स्त्री पात्र प्राकृत भाषा का प्रयोग करते थे। केवल नायक तथा कुछ मुख्य पात्र ही संस्कृत का प्रयोग करते थे। आजकल इतना अवश्य ध्यान दिया जाता है कि पात्रानुकूल भाषा-भाव का प्रदर्शन हो। यथासंभव पात्र इतने ही होने चाहिएँ जो कथा की शृंखला को सुन्दर ढंग से आगे बढ़ाएँ, जिससे अभिनय सुन्दर हो। किसी-किसी नाटक में बीसियों पात्रों के रख देने का फल यह निकलता है कि उनका अभिनय सफल नहीं हो पाता।

वृत्ति—नाटक के नायक और नायिका के विशेष व्यापार को वृत्ति[1] कहते हैं। ये वृत्तियाँ चार होती हैं—कैशिकी, सात्त्वती आरभटी और भारती। शृंगार रस में कैशिकी वृत्ति और वीर, रौद्र एवं वीभत्स में सात्त्वती वृत्ति का सर्वत्र व्यवहार होता है।[2] कोमल भावनाओं में कैशिकी तथा उग्र ओजपूर्ण भावनाओं में सात्त्वती और आरभटी का प्रयोग उपयुक्त है। भारती वृत्ति उभयनिष्ठ है अर्थात् उसका उग्र और कोमल दोनों में व्यवहार होता है। जिसमें मनोहारी वेश-रचना, नृत्य-गीतादि का आधिक्य सुख-भोग की सामग्री का प्राचुर्य हो, उस विलासयुक्त वृत्ति को 'कैशिकी' कहते हैं। इस वृत्ति में शृंगार के साथ हास्य भी सहायक रूप में रहता है। जिसमें बल, शौर्य, त्याग, दया सरलता और हर्ष-युक्त सामग्री की बहुलता हो, उसे 'सात्त्वती' वृत्ति कहते हैं। इसमें अद्भुत रस का व्यवहार होता है। माया, इन्द्रजाल, युद्ध, क्रोध, वध, बंधन आदि से युक्त उद्धत वृत्ति को 'आरभटी' कहते हैं। इसमें वीर, रौद्रादि रसों का व्यवहार होता है। ये वृत्तियाँ नायक-नायिका या अन्य विशिष्ट पात्रों में स्वतः अभिव्यक्त होती हैं।

कथोपकथन—पात्रों के अनुरूप ही भाषा का प्रयोग होना चाहिए। नाटक प्रायः सर्वसाधारण के लिए रचे जाते हैं, अतः इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि उनके कथोपकथन जटिल, गम्भीर न हों। कहीं-कहीं नाटककार अपने सिद्धान्त को पात्रों के द्वारा प्रस्तुत करते हैं, पर इसमें बड़ी दक्षता की आवश्यकता है। पात्रानुरूप प्रासंगिक कथन ही उपयुक्त होता है। भाषा सरल, सुबोध, शिष्ट-जन सम्मत होनी चाहिए। चाहे पात्र किसी भी प्रान्त का हो, उसकी भाषा वही होनी चाहिए जो नाटक की है। संवाद काव्यगुणयुक्त होने चाहिएँ।

संकलनत्रय—यूनानी नाट्यकारों ने वस्तु, देश और काल की मर्यादा पर बड़ा ध्यान दिया है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस पर विवेचना की है। भारतीय नाट्यकारों ने इसको कोई आवश्यक अंग नहीं माना है। घुणाक्षरन्याय से अगर कहीं ये संकलन बैठ जाएँ तो यह संभव है, पर नाटककार जान-बूझकर इनके बन्धन में नहीं फँसे। हाँ ! ये नाटक में अवश्य पाए जाते हैं। वस्तु का निर्वाह अन्त तक समान गति से होता है। देश संकलन में विभिन्न स्थानों की कथाएँ इस रूप में प्रदर्शित की जाती हैं कि सामाजिक उनको भाँप नहीं पाते, न ही उनकी विचार-शृंखला टूटने पाती है। काल-संकलन का प्रदर्शन भी चातुर्य से होना चाहिए। नाटककार वर्षों की कथा को इस रूप में प्रदर्शित करता है कि दर्शक उस व्यवधान से ऊबते नहीं। नाटककार की कला की विशेषता इसी में है कि वस्तु, देश और काल में यथासम्भव अन्तर कम हो और रंगमंच पर इस कला से अभिनय दिखाया जाए कि दर्शक का ध्यान ही उधर न जाए।

---

१. **विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः।**

— काव्य मीमांसा

२. **शृंगारे कैशिकी वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः।**
रसे रौद्रे च वीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती॥

—सा० दर्पण

रस

नाटक का तीसरा तत्त्व रस है। भारतीय काव्य का लक्ष्य अलौकिक आनन्द है, उसे ही 'रस' कहते हैं। अन्य दोनों तत्त्व तो इस महत्तत्त्व के साधक हैं। रस का विस्तृत विवेचन तो श्रव्य-काव्य के प्रकरण में होगा। नाटकों का मुख्य उद्देश्य है सामाजिकों के हृदय में बीज रूप में स्थित रत्यादि भावों को अंकुरित करना, जिससे शृंगारादि रसों में निमग्न सामाजिक साधारणीकरण की अवस्था प्राप्त कर सकें। भरत मुनि ने नाटकों के प्रसंग में शान्त रस को छोड़कर शेष आठों रसों का वर्णन किया है। पर प्रधान दो ही रस माने गये हैं : शृंगार अथवा वीर। अन्य रसों की व्यंजना गौण रूप में होती थी। वीभत्स रस का वर्णन अंग रूप में भले ही आये पर अंगी रूप में नहीं। लक्षण ग्रन्थों में रस विरोध का भी दिग्दर्शन है। किस रस का किस रस से विरोध है। जैसे --शृंगार का करुण, वीभत्स, रौद्र और भयानक से, हास्य का भयानक और करुण से, वीर का भयानक और शान्त से, भयानक का शृंगार वीर, रौद्र और हास्य से, शान्त का वीर, शृंगार, रौद्र और भयानक से और वीभत्स का शृंगार से विरोध है।

शान्त रस का प्रयोग नाटक में इसलिए नहीं होता कि अभिनेता 'निर्वेद' के कारण शान्त रस का अभिनय नहीं कर पाता तथा समाजिक भी प्रायः इस रस के पान के लिए तैयार नहीं होते। करुण-रस-पूर्ण नाटकों में यह विशेषता है कि दर्शक अश्रुपात करते रहेंगे, आँसू पोंछते रहेंगे पर आनन्द में कमी नहीं आने पाएगी। कारण यह है कि उसका परिणाम सुखान्त होता है। सत्य हरिश्चन्द्र नाटक में श्मशाघनाट के दृश्य से सामाजिक द्रवित हो जाते हैं। अश्रुधारा बहाते हैं पर 'परिणामे गरीयसी' के सिद्धान्तानुसार रस से सराबोर होकर आनन्द लेते हैं।

नाटककार को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि विरोधी रस अंगांगिभाव से न आने पाएँ।

पाश्चात्य विद्वानों ने नाटक के छः तत्त्व माने हैं। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने भी 'साहित्यालोचन' में इन छः तत्त्वों का विवेचन किया है। वस्तु, पात्र, संवाद, देश, काल, शैली और उद्देश्य। भारतीय दृष्टि से इनका तीन ही तत्त्वों में समावेश संभव है। वस्तु तो स्वतन्त्र है ही। बीच के चारों तत्त्वों का समावेश नेता में होता है। अन्तिम का ही दूसरा नाम रस है, क्योंकि किसी भी नाटक का उद्देश्य रस-परिपाक ही है।

अनेक ऐसे प्रसंग आते हैं, जिनमें यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि नाटककार किस उद्देश्य से इस रचना को प्रस्तुत कर रहा है। ऐसी स्थिति में नाटक के समस्त पात्रों के कथनों का परस्पर मिलान करके उनका ठीक-ठीक अभिप्राय समझकर नाटक के उद्देश्य का निर्णय किया जा सकता है। नाटक के प्रधान पात्रों के द्वारा ही नाटककार अपने उद्गार प्रस्तुत करता है। उन उद्गारों का चयन करके ही हमें किसी नाटक का उद्देश्य स्थिर करना चाहिए। भारत के प्राचीन नाटकों में सर्वाधिक ज़ोर जीवन की व्याख्या पर ही दिया जाता है। और सर्वश्रेष्ठ नैतिक आदर्श उपस्थित किए जाते हैं। 'साहित्य समाज का दर्पण है।' इस उक्ति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नाटक के उच्चादर्श तत्कालीन समाज की उन्नति तथा दूषित नाटक नैतिक

पतन के सूचक हैं। नाटकों का सबसे बड़ा उपयोग नैतिक उन्नति तथा समाज-कल्याण में होता है और नाटकों के इसी उपयोग को ध्यान में रखकर नाटक लिखे जाने चाहिएँ।

(घ) नाटकों के प्रकार

नाटकों के प्रकार-भेद तीन दृष्टियों से किए जा सकते हैं—विषय के विचार से, शैली के विचार से और रंगमंच के विचार से। विषय के विचार से नाटकों के दो भेद हो सकते हैं—ऐतिहासिक (पौराणिक) और सामाजिक। ऐतिहासिक के दो रूप हैं। एक तो अष्टादश पुराणों में आए कथानकों को लेकर लिखे गए हैं, जिनकी प्रचुर मात्रा संस्कृत नाटकों में या भारतेन्दु युग में हिन्दी में भी मिलती है। दूसरा रूप आधुनिक इतिहास के अर्थ में है। जिस परम्परा में नीलदेवी, महाराणा प्रताप एवं स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद जी के प्रायः सभी नाटक आते हैं। पौराणिक नाटकों में संस्कृत परंपरा को अक्षुण्ण रखा जाता था। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने स्वयं ऐसे कई नाटक लिखे थे। द्विवेदी-युग में नाटकों का कलेवर बदलने लगा। इसमें नवीनता आने लगी, बंगला और अंग्रेजी साहित्य का भरपूर प्रभाव पड़ने लगा। 'प्रसाद' जी के नाटक अभिव्यंजन-शैली और चरित्र-वैशिष्ट्य की दृष्टि से प्राचीन नाटकों से एकदम पृथक् दिखाई देते हैं। प्राचीन नाटकों में केवल रस पर ही ध्यान दिया जाता था पर नवीन शैली के नाटक शीलवैचित्र्य-प्रधान हैं।

सामाजिक नाटकों के अन्तर्गत राजनैतिक, समाज-सुधार-संबंधी, जन-समस्या संबंधी नाटक आते हैं। सर्वप्रथम इस दिशा में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने क्रान्ति की। उन्होंने देखा कि देश और समाज की दशा ऐसी है, जिसमें जीवन नहीं है। प्राण फूँकने की दृष्टि से उन्होंने ऐसे विषयों का चयन किया। राजनैतिक के अन्तर्गत देश-प्रेम, जातिगत एकता, साम्प्रदायिक समस्या आदि हैं। समाज-सुधार-संबंधी नाटकों में विधवा-विवाह, बाल-वृद्ध-विवाह, वेश्यागमन-निषेध, मद्यपान-निषेध आदि हैं। जन-समस्या-संबंधी नाटक रोमांचक, प्रेम, अछूतोद्धार, हड़ताल, वर्गभेद आदि से संबंध रखने वाले हैं। इस दिशा में रूसी उपन्यास-लेखकों के अनेक अनुवाद भी सहायक हुए हैं। कुछ ऐसे भी नाटक लिखे गए जो न ऐतिहासिक कोटि में आते हैं न सामाजिक। इन्हें 'अध्यवसित रूपक' कह सकते हैं। इनमें भावनाओं या प्रकृति के दृश्यों को व्यक्ति बना अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत को व्यक्त किया जाता है। संस्कृत में 'प्रबोध चन्द्रोदय', हिन्दी में 'कामना', 'एक घूंट', ज्योत्स्ना और 'प्रबुद्धयामुन' आदि इसी प्रकार के नाटक हैं।

रंगमंच की दृष्टि से भी नाटक के दो भेद किए जा सकते हैं - एक रंगमंच के अनुरूप या अभिनय दृष्टि-प्रधान और दूसरे पाठ्य-नाटक।

कुछ नाटक ऐसे होते हैं जो अभिनय की दृष्टि से ही लिखे जाते हैं। ऐसे नाटकों में साहित्यिकता की बहुधा कमी रहती है। कुछ नाटक ऐसे लिखे जाते हैं जिनमें अभिनय की दृष्टि नहीं रखी जाती, केवल साहित्यिक दृष्टि से वे लिखे जाते हैं। ऐसे नाटकों में लेखक की दृष्टि रंगशाला के विधि-विधानों की ओर विशेष नहीं रहती। इसका यह अभिप्राय नहीं कि ये खेले नहीं जा सकते। हाँ, इनमें कुछ काट-छाँटकर अभिनय के

अनुरूप इन्हें बना लिया जाता है। संस्कृत के प्राय: और हिन्दी के उच्चकोटि के नाटक पाठ्य की श्रेणी में ही आते हैं। इसका एक कारण और भी है। हिन्दी जगत् में अपनी रंगशाला न होने के कारण रंगशाला में अनुरूप नाटक निर्माण की सुविधा भी लेखकों को नहीं है। 'प्रसाद' जी के प्राय: सभी नाटक साहित्यिक दृष्टि से बड़े ही ऊँचे हैं। पर उन्हें यथावत् अभिनीत नहीं किया जा सकता। एक कारण यह भी है कि वैसे उच्चकोटि के सुविज्ञ, विद्वान् पात्र भी उपलब्ध न होंगे। इसीलिए 'प्रसाद' जी के नाटक कुछ काट-छांट कर ही अभिनीत हुए हैं। इस दशा में वे बड़े ही सफल रहे हैं।

नाटकों की उत्पत्ति — इस विषय में भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों में बहुत मतभेद है। यूनानी नाटकों के विषय में पश्चिमी विद्वानों का मत है कि वहाँ मई मास में 'मे पोल' उत्सव में होने वाले नृत्य से क्रमश: वहाँ नाटकों की उत्पत्ति हुई। ऐसे ही भारत में 'इन्द्रध्वज' महोत्सव से नाटक की उत्पत्ति हुई, ऐसा पाश्चात्य विद्वानों का मत है। 'इन्द्रध्वज' महोत्सव नेपाल राज्य में अब भी मनाया जाता है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में 'इन्द्रध्वज'[1] का उल्लेख मिलता है। नाटक में नृत्य के साथ भावाभिनय भी होता है। अत: 'मे पोल' की तरह 'इन्द्रध्वज' महोत्सव से नाटक की उत्पत्ति असंगत जान पड़ती है।

यूनानी नाटकों की उत्पत्ति के विषय में डॉ० रिजवे यह मानते हैं कि वीर-पूजा से उनकी उत्पत्ति हुई। मृत वीरों के शव सुरक्षित रखे जाते थे और उनके श्राद्ध के दिन उनकी वीरतापूर्ण जीवनी का प्रदर्शन होता था। उसी परम्परा को भारत में रामलीला और कृष्णलीला के साथ जोड़कर यह निष्कर्ष निकला है कि ये लीलाएँ भी वीरपूजा का ध्वंसावशेष हैं और भारत में भी वीरपूजा से ही नाटकों की उत्पत्ति हुई।

डॉ० कीथ ने ऋतु-परिवर्तन के समय होने वाले उत्सवों, नृत्यगान से नाटकों की उत्पत्ति मानी है। और पतंजलि के महाभाष्य में उल्लिखित 'कंसवध' नामक नाटक का प्रमाण भी दिया है। उस नाटक में कंस और उसके अनुयायी नीलवर्ण वस्त्र धारण किये हुए दिखाये गए हैं किन्तु कृष्ण और उनके अनुयायी रक्तवर्ण के वस्त्र। इसका तात्पर्य शिशिर-ऋतु पर ग्रीष्म ऋतु की विजय सिद्ध कराना है। पर यह मत सर्वमान्य न हो सका।

जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् पिशेल साहब ने कठपुतली के नाच से नाटकों की उत्पत्ति मानी हैं और भारतवर्ष में ही सारे देशों में नाटक का प्रचार हुआ—ऐसी उनकी मान्यता है। कठपुतली के नाच में सूत्रधार और स्थापक दो शब्द ऐसे आते हैं जो इस मत की पुष्टि में सहायक होते हैं। नचाने वाला सूत्र (डोरा) धारण कर पुतलियों को नचाता है और नाच के बाद एक तरफ स्थापित कर देता है। इस आधार पर सूत्रधार और स्थापक दोनों शब्द आते हैं। नाटकों में दोनों शब्द ज्यों-के-त्यों लिए गए हैं। डा०

---

१. **अयं ध्वजमहः श्रीमान् महेन्द्रस्भ प्रवर्त्तते।**
अत्रेदानीमयं वेदो नाट्यसंज्ञः प्रयुज्यताम्॥
—नाट्यशास्त्र

पिशेल ने छाया-नाटकों से भी नाटकों की उत्पत्ति मानी है और जिसका प्रसिद्ध उदाहरण 'दूतांगद' है।

कुछ विद्वानों ने नाट्य-विद्या का ग्रहण भी यूनानी नाट्यकला से माना है इसके प्रमाण में वे 'यवनिका' शब्द उपस्थित करते हैं और ऐसा मानते हैं कि 'यवनिका' शब्द 'यवन' से निकला है। इस विषय में इतना ही कहना है कि संस्कृत नाटकों में 'जवनिका' शब्द का व्यवहार होता था, जिसका अर्थ है पट (पर्दा) ढकने वाला। प्रायः पटाक्षेप शब्द का ही व्यवहार मिलता है। यवनिका का प्रयोग हिन्दी के नाटकों में हुआ है। इसका अर्थ इतना ही लिया जा सकता है कि यूनानी ढंग से पर्दे बने होंगे। पर इतिहास तो यह भी बतलाता है कि यूनान में नाटक मैदान में हुआ करते थे। आज से ४००० वर्ष पूर्व पाणिनि ने अष्टाध्यायी में कृशाश्व और शिलाली नामक नाट्य सूत्रकारों का नाम गिनाया है। 'प्रसाद' जी ने जवनिका की व्याख्या इस प्रकार की है —'जव' अर्थात् वेग; वेग से झटिति जो पट उठे और गिरे उसे जवनिका कहेंगे। यह व्युत्पत्ति संगत और हृदय-ग्राह्य है। पुरातत्त्व विभाग की ओर से कई स्थानों पर खुदाई में ऐसे भवन तथा कक्ष मिले हैं जिनसे स्पष्ट सिद्ध हो चुका है कि आज से हज़ारों वर्ष पहले भी भारतवर्ष में नाटक खेले जाते थे।

नाटकों में त्रासद (दुःखान्त) और हासद (सुखान्त) का भेद किया जाता है। भारतीय आचार्यों ने दुःखान्त नाटकों का निषेध किया है। यों आजकल हिन्दी में बहुत से नाटकों में दुःखान्त वर्णन प्रदर्शित किये जाते हैं। पर इसका अभिप्राय यह है कि जिस नाटक में नायक या किसी प्रिय पात्र का दुःखद अन्त हो, उसे ही दुःखान्त माना जा सकता है। नाटक में प्रतिनायक या कोई अधम या खलनायक, नाटक की फल-प्राप्ति में बाधा पहुँचाता है तो सामाजिक दुःखी होते हैं, पर जब नायक फल-प्राप्ति में सफल हो जाता है तो सामाजिकों के आनन्द का ठिकाना नहीं रहता, तब उसे सुखान्त कहा जाता है। कभी-कभी नायक जब निज फल-प्राप्ति में सफल नही होता या नायक या नायिका की मृत्यु हो जाए तो उसे दुःखान्त कहा जा सकता है। जैसे 'जयद्रथ-वध' या 'उरुभंग' नाटकों मे जयद्रथ के वध या दुर्योधन की जाँघ टूटने का दुःखद दृश्य देखने पर सामाजिक प्रसन्न होते हैं। इसका प्रधान कारण पात्र-विशेष के प्रति अनुराग है। अभिमन्यु के वध में जयद्रथ का विशेष योग था। अतः जयद्रथ सामाजिकों की दृष्टि में वध्य माना गया। दुर्योधन के अत्याचार के कारण जनता पाण्डवों की समर्थक हुई। प्राचीन नाटकों में सुखान्त-दुःखान्त का कोई प्रश्न ही नहीं था। भारत तो सदा आदर्श का पुजारी रहा है। यहाँ अपने आदर्श चरित-नायक का अन्त सदा वर्जित है। हमारे यहाँ सत्यं, शिवं, सुन्दरं की सदा प्रतिष्ठा रही है। नाटक के अन्त में उपदेश सात्त्विक मनोरंजन ही नाटककार का उद्देश्य रहता है। अन्त में नाटक की समाप्ति पर 'भरत वाक्य' का विधान है, जिसमें जनता के कल्याण भूमि को शस्य-श्यामला देखने की इच्छा तथा राजा की कल्याण-कामना की जाती है। ऐसी स्थिति में दुःखान्त का प्रश्न ही कहाँ ?

अब पाश्चात्य विद्वान् भी नाटकों की उत्पत्ति वेद के संवाद-सूक्तों से मानने लगे हैं। प्रसिद्ध विद्वान् श्रोडर का मत है—वैदिक काल के पूर्व नृत्य, गीत और वाद्य का जो

संयोग था, उसी के प्रभाव से वैदिक ऋषि प्रभावित हुए और उनके मन्त्रों में संवाद-रूप से गायन और नर्त्तन का समावेश हुआ। वैदिक सोम-यज्ञ में सोम-क्रेता और विक्रेता के रूप में ऋत्विज आते थे और अभिनय करते थे। धीरे-धीरे उसी से नाटकों का विकास हुआ होगा। प्राचीन आचार्यों का मत है कि शिव ही नाटक के जन्मदाता हैं। इसीलिए शिव को नटराज और नटेश कहते हैं। दक्षिण भारत में प्रायः शिव की मूर्त्तियाँ अभिनय की मुद्रा में ही पाई जाती हैं। पुरातत्त्व-विभाग की खुदाई में शिव की अनेक मूर्त्तियाँ अनेक भाव-भंगिमाओं और अभिनय की मुद्राओं में मिली हैं। शिव ने ब्रह्मा को और ब्रह्मा ने भरत मुनि को नाट्य-विद्या का ज्ञान दिया। भरतमुनि ने मर्त्यलोक में इसका ज्ञान दिया। प्रत्येक भारतीय कार्य धर्मानुप्राणित होता है। नाट्य की उत्पत्ति दिव्य उत्पत्ति है। भारत के विभिन्न प्रान्तों में त्योहारों और उत्सवों में स्वांग रचकर उसी प्राचीन कला का दिग्दर्शन कराया जाता है और सम्भव है इन स्वांगों और नृत्य-गीतों का ही परिष्कृत रूप नाटक बना हो। भरतमुनि के नाट्य शास्त्र में 'नाटक' को 'पंचमवेद' माना गया है और लिखा है कि जब काम और लोभ से प्रेरित होकर लोग अनाचार में निमग्न हो गए और ईर्ष्या-क्रोध के कारण सुख-दुःख का विशेष अनुभव करने लगे तब इन्द्रादि देव ब्रह्मा के पास गए और उनसे निवेदन किया कि एक ऐसा दृश्य उपस्थित कीजिए जिससे आँख और कान दोनों को आनन्द मिल सके। वैदिक उपदेश रूक्ष हैं, सभी उसका आनन्द नहीं ले पाते। ऐसी प्रार्थना से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने चारों वेदों का स्मरण कर धर्म, अर्थ और यश को देने वाले इतिहास और उपदेश से युक्त लोगों को लोक-व्यवहार का आदर्श सिखाने के लिए 'नाट्य' नाम वेद की रचना की, जिससे जो वेदाध्ययन के अधिकारी नहीं हैं[1] उनके सहित सारे समाज को वेदों जैसा आनन्द प्राप्त हो सके। सभी शास्त्रों का निचोड़ लिया गया, जिसमें सभी शिल्पों का प्रदर्शन किया गया। चारों वेदों से पृथक्-पृथक् उपादान लेकर इसका निर्माण किया गया। ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गायन, यजुर्वेद से अभिनय और अर्थवेद से रस लेकर चार तत्त्वों से इसका निर्माण किया गया।[2] भरतमुनि के कथन से स्पष्ट है कि नाटकों का उद्भव वेद-मूलक है। भारतीय प्रत्येक कार्य में लोक-कल्याण की भावना को प्रधानता देते हैं।

---

१. न वेदव्यवहारोऽयं सश्रांव्यः शूद्रजातिषु,
तस्मात्सृजापरं वेद पंचमं सर्ववार्णिकम् ॥

—नाट्यशास्त्र

२. जग्राह पाठ्यम् ऋग्वेदात्, सामभ्यो गीतमेव च,
यजुर्वेदादभिनयान् रसानार्थ वरणादपि ॥

—नाट्यशास्त्र

अध्याय १२

कुछ इतर पक्ष

(क) काव्य और चमत्कारवाद*

काव्य के सम्बन्ध में 'चमत्कार', 'अनूठापन' आदि शब्द बहुत दिनों से लाए जाते हैं। चमत्कार मनोरंजन की सामग्री है, इसमें सन्देह नहीं। इससे जो लोग मनोरंजन को ही काव्य का लक्ष्य समझते हैं, वे यदि कविता में चमत्कार ही ढूँढा करें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पर जो लोग इससे ऊँचा और गम्भीर लक्ष्य समझते हैं वे चमत्कार मात्र को काव्य नहीं मान सकते। 'चमत्कार' से हमारा अभिप्राय यहाँ प्रस्तुत वस्तु के अद्भुत तत्त्व या वैलक्षण्य से नहीं जो अद्भुत रस के आलम्बन में होता है। 'चमत्कार' से हमारा तात्पर्य उक्ति के चमत्कार से है जिसके अन्तर्गत वर्णविन्यास की विशेषता (जैसे अनुप्रास में), शब्दों की क्रीड़ा (जैसे श्लेष, यमक आदि में), वाक्य की वक्रता या वचनभंगी (जैसे काव्यार्थापत्ति, परिसंख्या, विरोधाभास, असंगति इत्यादि में) तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्भुतत्व अथवा प्रस्तुत वस्तुओं के साथ उनके सादृश्य या सम्बन्ध की अनहोनी या दूरारूढ़ कल्पना (जैसे उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि में) इत्यादि बातें आती हैं।

चमत्कार का प्रयोग भावुक कवि भी करते हैं पर किसी भाव की अनुभूति को तीव्र करने के लिए। जिस रूप या जिस मात्रा में भाव की स्थिति है उसी रूप और उसी मात्रा में उसकी व्यंजना के लिए प्रायः कवियों को व्यंजना का कुछ असामान्य ढंग पकड़ना पड़ता है। बातचीत में भी देखा जाता है कि कभी-कभी हम किसी को मूर्ख न कहकर 'बैल' कह देते हैं। इसका मतलब यही है कि उसकी मूर्खता की जितनी गहरी भावना मन में है वह 'मूर्ख' शब्द से नहीं व्यक्त होती। इसी बात को देखकर कुछ लोगों ने यह निश्चय किया कि यही चमत्कार या उक्ति-वैचित्र्य ही काव्य का नित्य लक्षण है। इस निश्चय के अनुसार कोई वाक्य, चाहे वह कितना ही मर्मस्पर्शी हो, यदि उक्ति-वैचित्र्य शून्य है तो काव्य के अन्तर्गत न होगा और कोई वाक्य, जिसमें किसी भाव या मर्मविकार की व्यंजना कुछ भी न हो पर उक्तिवैचित्र्य हो, वह खासा काव्य कहा जाएगा। उदाहरण के लिए पद्माकर का यह सीधा सादा वाक्य लीजिए —

नैन नचाय कही मुसकाय लला फिर आइयो खेलन होरी।

अथवा मंडन का यह सवैया लीजिए—

अलि ! हौं तो गई जमुना-जल को, सो कहा कहौं, बीर ! बिपत्ति परी।
घहराय कै कारी घटा उनई, इतनेई में गागर सीस धरी।
रपट्यो पग, घाट चढ्यो नगयो, कवि मंडन ह्वै कै बिहाल गिरी।
चिरजीवहु नद कौ बारो अरी, गहि बाँह गरीब ने ठाढ़ी करी॥

---

* पं० रामचन्द्र शुक्ल।

इसी प्रकार ठाकुर की यह अत्यन्त स्वाभाविक वितर्क-व्यंजना देखिए —

वा निरमोहिनि रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वै है।
बारहि बार बिलोकि घरी घरी सूरति तौ पहिचानति ह्वै है।
ठाकुर या मन को परतीति है, जौ पै सनेह न मानति ह्वै हैं।
ग्रावत हैं नित मेरे लिए, इतनो तो बिसेष कै जानति ह्वै है।

मंडन ने प्रेम-गोपन के जो वचन कहलाए हैं वे ऐसे ही हैं जैसे जल्दी में स्वभावतः मुँह से निकल पड़ते हैं। उनमें विदग्धता की अपेक्षा स्वाभाविकता कहीं अधिक झलक रही है। ठाकुर के सवैये में भी अपने प्रेम का परिचय देने के लिए आतुर नए प्रेमी के चित्त वितर्क की बड़े सीधे सादे शब्दों में, बिना किसी वैचित्र्य लोकोत्तर चमत्कार के, व्यंजना की गई है। क्या कोई सहृदय वैचित्र्य के अभाव के कारण कह सकता है कि इनमें काव्य-तत्त्व नहीं है ?

अब इनके सामने उन केवल चमत्कारवाली उक्तियों का विचार कीजिए जिनमें कहीं कोई कवि किसी राजा की कीर्ति की धवलता चारों ओर फैलती देख यह आशंका प्रकट करता है कि कहीं मेरी स्त्री के बाल भी सफेद न हो जाएँ[1] अथवा प्रभात होने पर कौवों के काँव-काँव का कारण वह भय बताता है कि कालिमा या अंधकार का नाश करने में प्रवृत्त सूर्य कहीं उन्हें काला देख उनका भी नाश करदे।[2] भोज प्रबन्ध तथा अन्य सुभाषित-संग्रहों में इस प्रकार की उक्तियाँ भरी पड़ी हैं। केशव की रामचन्द्रिका में पचीसों ऐसे पद्य हैं जिनमें अलंकारों की भद्दी भरती के चमत्कार के सिवा हृदय को स्पर्श करने वाली या किसी भावना में मग्न करने वाली कोई बात न मिलेगी। उदाहरण के लिए पताका और पंचवटी के ये वर्णन लीजिए—

पताका

अति सुन्दर अति साधु। थिर न रहति पल आधु।
परम तपोमय मानि। दण्डधारिणी जानि॥

पंचवटी

बेर भयानक सी अति लगै। अर्क-समूह जहाँ जगमगै।
पांडव की प्रतिमा सम लेखौ। अर्जुन भीम महामति देखौ॥
है सुभगा सम दीपति पूरी। सिंदुर औ तिलकावलि रूरी।
राजति है यह ज्यों कुलकन्या। धाय विराजति है सँग धन्या॥

---

१. यथा यथा भोजयशो विवर्धते सितां त्रिलोकीमिव कर्तुमुद्यतम्,
तथा तथा मे हृदयं विदूयते प्रियालकालीधवलत्वशंकया॥
—भोजप्रबन्ध, ७६

२. वयं काका वयं काका जल्पन्तीति प्रगे द्विकाः।
तिमिरारिस्तमो हन्यादिति शंकितमानसाः॥

क्या कोई भावुक इन उक्तियों को शुद्ध काव्य कह सकता है ? क्या वे उसके मर्म का स्पर्श कर सकती हैं ?

ऊपर दिए अवतरणों में हम स्पष्ट देखते हैं कि किसी उक्ति की तह में उसके प्रवर्तक के रूप में यदि कोई भाव या मार्मिक अन्तर्वृत्ति छिपी है तो चाहे वैचित्र्य हो या न हो, काव्य की सरसता बराबर पाई जाएगी। पर यदि कोरा वैचित्र्य या चमत्कार ही चमत्कार है तो थोड़ी देर के लिए कुछ कुतूहल या मनबहलाव चाहे हो जाय, पर काव्य में लीन करने वाली सरसता न पाई जायगी। केवल कुतूहल तो बालवृत्ति है। कविता सुनना और तमाशा देखना एक ही बात नहीं है। यदि सब प्रकार की कविता में केवल आश्चर्य या कुतूहल का ही संचार मानें तो अलग अलग स्थायी भावों की रसरूप में अनुभूति और भिन्न भिन्न भावों के आश्रयों के साथ तादात्म्य का कहीं प्रयोजन ही नहीं रह जाता।

यह बात ठीक है कि हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है, उसके मर्म का जो स्पर्श होता है, वह उक्ति ही के द्वारा। पर उक्ति के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह सदा विचित्र, अद्‌भुत या लोकोत्तर हो—ऐसी हो जो सुनने में नहीं आया करती या जिसमें बड़ी दूर की सूझ होती है। ऐसी उक्ति, जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना (जैसे प्रस्तुत वस्तु का सौन्दर्य आदि) में लीन न होकर एकबारगी कथन के अनूठे ढंग, वर्ण-विन्यास या पद प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे, वह काव्य नहीं, सूक्ति है। बहुत से लोग काव्य और सूक्ति को एक ही समझा करते हैं। पर इन दोनों का भेद सदा ध्यान में रहना चाहिए। जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागरित कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति।

यदि किसी उक्ति में रसात्मकता और चमत्कार दोनों हों तो प्रधानता का विचार करके सूक्ति या काव्य का निर्णय हो सकता है। जहाँ उक्ति में अनूठापन अधिक मात्रा में होने पर भी उसकी तह में रहने वाला भाव आच्छन्न नहीं हो जाता वहाँ भी काव्य ही माना जाएगा। जैसे, देव का यह सवैया लीजिए—

साँसन ही में ससीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तन की तनुता करि॥
देव जियै मिलबेई की आस कै, आसहुं पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन तें मुख फेरि हरें हँसि हेरि हियो जो लियो हरि जू हरि।

सवैया का अर्थ यह है कि वियोग में उस नायिका के शरीर को संघटित करने वाले पंचभूत धीरे धीरे निकलते जा रहे हैं। वायु दीर्घ निःश्वासों के द्वारा निकल गई, जलतत्त्व सारा आँसुओं ही आँसुओं में ढल गया, तेज भी न रह गया—शरीर की सारी दीप्ति या कांति जाती रही, पार्थिव तत्त्व के निकल जाने से शरीर भी क्षीण हो गया; अब तो उसके चारों ओर आकाश ही आकाश रह गया है—चारों ओर शून्य दिखाई पड़

रहा है। जिस दिन से श्रीकृष्ण ने उसकी ओर मुँह फेरकर ताका है और मन्द मन्द हँस-कर उसके मन को हर लिया है उसी दिन से उसकी यह दशा है।

इस वर्णन में देवजी ने विरह की भिन्न भिन्न दशाओं में चार भूतों के निकलने कीबड़ी सटीक उद्भावना की है। आकाश का अस्तित्व भी बड़ी निपुणता से चारितार्थ किया है। यमक, अनुप्रास आदि भी हैं। सारांश यह कि उनकी उक्ति में एक पूरी सावयव कल्पना है, मजमून की पूरी बन्दिश है, पूरा चमत्कार या अनूठापन है। पर इस चमत्कार के बीच में भी विरह-वेदना स्पष्ट झलक रही है, उसकी चकाचौंध में अदृश्य नहीं हो गई है। इसी प्रकार मतिराम के इस सवैये की पिछली दो पंक्तियों में वर्षा के रूपक का जो व्यंग्य-चमत्कार है वह भाव-शबलता के साथ अनूठे ढंग से गुंफित है—

दोऊ अनन्द सों आँगन माँझ बिराजे असाढ़ की साँझ सुहाई।
प्यारी के बूझत और तिया को अचानक नाम लियो रसिकाई।
आई उनै मुँह में हँसी, कोहि तिया पुनि चाप सी भौंह चढ़ाई।
आँखिन तें गिरे आँसू के बूँद, सुहास गयो उड़ि हँस की नाईं॥

इसके विरुद्ध बिहारी की उन उक्तियों में जिनमें विरहिणी के शरीर के पास ले जाते शीशी का गुलाबजल सूख जाता है;[1] उसके विरह-ताप की लपट के मारे माघ के महीने में भी पड़ोसियों का रहना कठिन हो जाता है,[2] कृशता के कारण विर-हिणी साँस खींचने के साथ दो-चार हाथ पीछे और साँस छोड़ने के साथ दो-चार हाथ आगे उड़ जाती है,[3] अत्युक्ति का एक बड़ा तमाशा ही खड़ा किया गया है। कहाँ यह सब मज़ाक़ कहाँ विरह-वेदना !

यह कहा जा चुका है कि उमड़ते हुए भाव की प्रेरणा से अक्सर कथन के ढंग में कुछ वक्रता आ जाती है। ऐसी वक्रता काव्य की प्रक्रिया के भीतर रहती है। उसका अनुठापन भावविधान के बाहर की वस्तु नहीं। उदाहरण के लिए दासजी की ये बिरहदशा-सूचक उक्तियाँ लीजिए—

श्रौन तुव बानी स्वाति-बूँदन के चातक भे,
साँसन को मरिबौ द्रुपदजा को चीर भो।
हिय को हरष मरु धरनि को नीर भो, री !
जियरो मनोभव-सरन को तुनीर भो।

---

१. अब तौ बिहारी के वे बानक गए री
तेरी तन-दुति केसर को नैन कसमीर भो।
औंधाई सीसी सुलखि बिरह बरति बिललात।
बिचहीं सूखि गुलाब गौ, छीटौ छुई न गात॥

२. आड़े दै आले बसन जाड़ेहू की रीति।
साहसु ककै सनेह-बस सखी सबै ढिग जाति॥

३. इस आवति चल जाति उत चली छ-सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरै सें रहै लगी उसासन साथ॥

एरो ! बेगि करिकै मिलापु थिर थापु,
न तौ ग्रापु ग्रब चहत ग्रतनु को सरीर भो ॥

ऐसी ही भावप्रेरित वक्रता द्विजदेव की इस मनोहर उक्ति में है।

तू जा कही, सखि ! लोनो सरूप, सो मो ग्रँखियान को लोनी गई लगि।

प्रेम के स्फुरण की विलक्षण ग्रनुभूति नायिका को हो रही है -- कभी ग्राँसू ग्राते हैं, कभी ग्रपनी दशा पर ग्राप ग्रचरज होता है, कभी हलकी सी हँसी भी ग्रा जाती है कि ग्रच्छी बला मैंने मोल ली। इसी बीच ग्रपनी ग्रन्तरंग सखी को सामने पाकर किंचित् विनोद-चातुरी की भी प्रवृत्ति होती है। ऐसी जटिल ग्रन्तर्वृत्ति द्वारा प्रेरित उक्ति में विचित्रता ग्रा ही जाती है। ऐसी चित्तवृत्तियों के ग्रवसर घड़ी-घड़ी नहीं ग्राया करते। सूरदासजी का 'भ्रमरगीत' ऐसी भाव-प्रेरित वक्र उक्तियों से भरा पड़ा है।

उक्ति की वहीं तक वचनभंगी या वक्रता के सम्बन्ध में हमसे कुन्तलजी का 'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्' मानते बनता है, जहाँ तक कि वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से सम्बद्ध हो, उसके ग्रागे नहीं। कुन्तलजी की वक्रता बहुत व्यापक है जिसके ग्रन्तर्गत वे वाक्य-वैचित्र्य की वक्रता ग्रौर वस्तु-वैचित्र्य की वक्रता दोनों लेते हैं। सालंकृत वक्रता के चमत्कार ही में वे काव्यत्व मानते हैं। योरप में भी ग्राजकल क्रोस (क्रोचे) के प्रभाव से एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद ज़ोर पर है। विलायती वक्रोक्तिवाद लक्षरगा-प्रधान है। लाक्षरिणक चपलता ग्रौर प्रगलभता में ही, उक्ति के ग्रनूठे स्वरूप में ही, बहुत से लोग वहाँ कविता मानने लगे हैं। उक्ति ही काव्य होती है, यह तो सिद्ध बात है। हमारे यहाँ भी व्यंजक वाक्य ही काव्य माना जाता है। ग्रब प्रश्न यह है कि किसी उक्ति, किस प्रकार की व्यंजना करनेवाला वाक्य ? वक्रोक्तिवादी कहेंगे कि ऐसी उक्ति जिसमें कुछ वैचित्र्य या चमत्कार हो, व्यंजना चाहे जिसकी हो या कैसी ठीक बात की न भी हो। पर जैसा कि हम कह चुके हैं कि मनोरंजन मात्र काव्य का उद्देश्य न मानने वाले उनकी इस बात का समर्थन करने में ग्रसमर्थ होंगे। वे किसी लक्षरगा में उसका प्रयोजन ग्रवश्य ढूँढेंगे।

(ख) मन का ओज और काव्य का रस*

मन का ग्रोज ग्रौर रसास्वादन

रसास्वादन के संबंध में यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि मनुष्य ग्रपने ग्रतिरिक्त ग्रोज का ही रस ग्रहरण करता है। शारीरिक परिश्रम, बाह्य जगत् का प्रभाव मनुष्य के मन के ग्रोज पर ही ग्रवलंबित रहते हैं। संसार में जितने भी काम किए जाते हैं, सब ग्रोज के बल पर ही। जिसके मन में ग्रोज नहीं है, जो ग्रपने दिन-रात के कामों में मन का सारा ग्रोज व्यय कर चुका रहता है, उसे किसी भी वस्तु से ग्रानन्द की उपलब्धि नहीं हो सकती। काव्य का रसास्वादन मन के ग्रतिरिक्त ग्रोज के ग्राधार पर ही होता है। बाह्य जगत् की कोई ग्रन्य शक्ति या प्रभाव मौलिक रूप से हमें रस-ग्रहरण में सहायता नहीं दे सकता। यदि मन में ग्रोज की मात्रा विशेष रूप से वर्तमान हो, तो उसी मात्रा के ग्रनुसार ग्रानन्द का ग्रनुभव किया जा सकता है। सूखी हड्डियाँ चवाने

---

* डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु।

वाला कुत्ता अपने ही मसूड़ों की जड़ों का रक्त चखकर इस बात से प्रसन्न होता है कि हड्डियों से ही उसे यह रस प्राप्त हो रहा है। कस्तूरी मृग अपनी ही नाभि की सुगंध से उद्भ्रांत-चकित होकर इधर-उधर दौड़ता और सोचता है कि यह सुगंध उसे अन्यत्र से मिल रही है। पाठक या श्रोता अपने मन के बचे हुए ओज से ही काव्य का आनंद पाता है, किन्तु समझता है कि उसने यह आनंद काव्य से उपलब्ध किया है। काव्य की क्षमता, ओज की संवेदना को उभारना-भर होनी चाहिए। जो दुखी है, दिन-भर का थका-माँदा है, चित्त अस्वस्थ है, उसे सरस-से-सरस काव्य भी रसास्वादन का आनंद नहीं दे सकता। इसका एकमात्र कारण यही है कि उसके मन का सारा ओज चित्त की अव्यवस्था में ही नष्ट हो जाता है और काव्य के रस-ग्रहण करने के लिए कुछ बच नहीं रहता। प्रकृति के समान दृश्य को देखकर एक स्वस्थ चित्तवाला व्यक्ति जितना आनन्द ले सकता है, उतना एक अस्वस्थ चित वाले को प्राप्त नहीं हो सकता। यदि किसी के मन का थोड़ा ओज किसी प्रकार बच जाए, तो वह उसी मात्रा में आनन्द का अनुभव कर सकता है, चाहे वह आनन्द काव्य में प्राप्त हो, प्रकृति के किसी रमणीय दृश्य में मिले या वाह्य जगत् के किसी अन्य व्यापार में। मार्शल ने इसी तथ्य पर एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि मनुष्य विश्राम के समय अपने मन के ओज का उत्पादन करता है। यदि मनुष्य को विश्राम करने का अवसर न मिले, तो उसके मन में ओज का संचय नहीं हो पाता और फलतः उसे आनन्द से दूर-ही-दूर रहना पड़ेगा। विश्राम करने के बाद जब चित्त स्वस्थ हो जाता और कुछ ओज भी संचित हो जाता है, तब प्रकृति के साधारण-से-साधारण दृश्य में भी मनुष्य को एक अपार आनन्द उमड़ता दिखाई पड़ता है। आनंद की संवेदना जब एक ही स्थिति में बहुत देर तक बनी रहती है, तब वह स्थिति पूर्वापेक्षा सुखकर प्रतीत नहीं होती, क्योंकि बराबर एक स्थिति में रहने के कारण मन का सारा ओज एक ही बार खर्च हो जाता है। काव्य के पाठक या श्रोता को इस बात का अनुभव होगा कि बराबर एक ही प्रसंग को कई बार पढ़ने या सुनने में वैसा आनन्द प्राप्त नहीं होता, जैसा कि उसे पहली और दूसरी बार हो चुका रहता है। यदि काव्य में ही आनन्द माना जाए, तो एक ही प्रसंग को पचासों बार पढ़ने पर भी मनुष्य को प्रत्येक बार एक-सा ही आनन्द मिलना चाहिए, पर ऐसा होता नहीं है।

संचित ओज और उसका उपयोग

इस स्थिति का स्पष्टीकरण करने पर यह पता चलता है कि जिसके मन का ओज जितना ही क्षमता-संपन्न होगा, वह उतना ही आनन्द की व्यवस्था करने में सफल हो सकेगा। जो मनुष्य ओज का संचय जितनी ही कम मात्रा में करेगा, वह तदनुसार ही आनन्द प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त कर सकेगा। निश्चेष्ट तथा कार्यविमुख रहने वाले अमीर-उमराव कुछ अधिक विलासी इसी कारण होते हैं कि उन्हें साधारण जनता से अपने ओज-संचय की ज्यादा सुविधा रहती है। यहाँ स्वभावतः एक प्रश्न उठता है कि यदि कोई मनुष्य बराबर ओज का संचय ही करता रहे और दैनिक काम-धंधों में उस ओज का व्यय न कर केवल आनन्द के उपभोग में ही लगा रहे, तो उसे उसी मात्रा में

आनन्द प्राप्त हो सकता है या नहीं। मस्तिष्क की क्रियाओं तथा हृदय के भावों के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य सदा परिवर्तन चाहता है। यदि परिवर्तन का क्रम रुक जाय, तो सृष्टि में आकर्षण की सत्ता नष्ट होने में देर न लगे। खिला हुआ सुन्दर फूल इसीलिए इतना प्रिय मालूम होता है कि एक दिन वह खिला ही न था, कली के रूप में था और आज खिलकर वह झरने जा रहा है। मनुष्य को अपना जीवन इसीलिए इतना प्रिय है कि उसने एक दिन संसार में जन्म लिया है और किसी दिन उसे मरना भी है। वस्तु, भाव, क्रिया आदि में अमरत्व रहने से उसका स्वाभाविक सौन्दर्य ही नष्ट हो जाता है। हमारे भारतीय कलाकारों ने सौन्दर्य की परिभाषा बड़ी मार्मिक अंतर्दृष्टि से की है कि क्षण-क्षण जो नवीनता उत्पन्न करे, उसी को सौन्दर्य कहते हैं। काव्य या प्राकृतिक दृश्य में यदि हमें नवीनता नहीं मिलेगी, तो मन अपने ओज का व्यापार अच्छी तरह नहीं कर सकेगा। जो बराबर ओज का ही संचय करता रहता है उसे ओज-संचय के प्रयत्न में भी ओज का संचय करना पड़ता है। एक बार ओज संचित कर लेने के बाद वह उसी मात्रा में बराबर बना नहीं रह सकता, क्योंकि मनुष्य की मानसिक क्रिया जाग्रतावस्था में कभी बंद नहीं रह सकती। इंजिन को चालू रखने के लिए पैट्रोल का खर्च देना ही पड़ेगा। ओज का संचय, भंडार बढ़ाने के लिए नहीं किया जा सकता। जिसके मन में जो कुछ अतिरिक्त आज बचा है उससे यदि वह बाह्य जगत् का आनन्द प्राप्त नहीं कर सकता, तो उसका वह ओज मानसिक क्रिया के संचालन में ही समाप्त हो जाता है। हमारे उठने-बैठने, चलने-फिरने, सुनने-बोलने-देखने आदि में भी ओज का उपयोग होता है। जहाँ भंडार का द्वार सदा खुला रहता है, वहाँ कुछ छिपाकर रखने में सफलता नहीं मिल सकती।

आनंद, विषाद तथा ओज

आनन्द जब तक अनुभूत नहीं रहता, तब तक उसको प्राप्त करने की प्रेरणा मन में नहीं होती। विषाद भी जब तक अनुभूत नहीं रहता, तब तक उसको दूर करने की चिन्ता मन में नहीं उठती। जीवन में आनन्द है, इसलिए हम विषाद को हटाकर उस स्थिति को बचाए रखने का प्रयत्न करते हैं। मन के विश्राम की स्थिति में जो ओज संचित होता है उससे जितनी देर तक आनन्द लिया जा सकता है, उससे कम ही समय में विषाद सारे ओज को आत्मसात् कर ले सकता है। किसी वस्तु के निर्माण में जितना काल अपेक्षित है, उतना उसके विध्वंस में नहीं। ओज-संचय में आनन्द के लिए हम एक स्थिति का निर्माण करते हैं, परन्तु विषाद की छाया पड़ते ही वह नष्ट हो जाती है। विषाद का हल्के-से-हल्का आभास भी हमें व्यथित कर देता है, किन्तु साधारण आनन्द का भाव हमें जीवन की साधारण स्थिति में ही रखता है। साधारण से अधिक आनन्द पाकर ही हम अपने हृदय में उसके अस्तित्व का उपभोग करते हैं। बैटरी में एक बार बिजली भर देने से ही सदैव काम नहीं चलता। समय-समय पर उसमें बिजली भरनी पड़ती है, तब काम चल पाता है। आनन्द को प्राप्त करने तथा विषाद को दूर करने में ओज का व्यय होता है और इन दोनों ही स्थितियों में हमारी मानसिक वृत्तियाँ सक्रिय

रहती हैं। किसी समय वे अन्तर्मुख और किसी समय बहिर्मुख रहती हैं। जब तक आनंद या विषाद की प्रकृति या मात्रा में कोई उल्लेखनीय अन्तर न हो, तब तक हमें उसके अस्तित्व का प्राय: संवेदनीय बोध नहीं होता। दैनिक जीवन में जिसे जितना आनन्द या विषाद प्रतिदिन मिला करता है, उससे उसे अपनी इस स्थिति में किसी प्रकार की नवीनता का ज्ञान नहीं होता। फलत: उसके लिए उस मात्रा में सुख या दु:ख जीवन का एक सामान्य व्यापार बना रहता है। अंधेरे में जब अचानक दीपक का प्रकाश होता है, तब हम उस ओर ध्यान देने को बाध्य होते हैं, परन्तु दिन भर सूर्य के उगे रहने पर हमें बराबर उस ओर ध्यान देने की परवाह नहीं रहती। बाल रवि की सुनहली किरणें इसलिए रमणीय मालूम होती हैं कि वे गहन अन्धकार से फूट निकली हैं। सांध्य सूर्य की लालिमा हमें इसलिए प्रिय मालूम होती है कि कुछ क्षण के बाद गहन कालिमा में उसका पर्यवसान होगा। परिवर्तन या नवीनता का यही क्रम जीवन में ओज का सद्व्यय करता है। इस प्रकार के आनन्द को प्राप्त करने के लिए हमें अपनी चेतना शक्ति और अध्यवसाय पर बराबर जोर नहीं देना पड़ता। स्वाभाविक गति से इस प्रकार काम होता चलता है कि हम अपने में सदा चेतन प्रयत्न का अनुभव नहीं कर पाते। किसी भाव को पहली बार ग्रहण करने में हमें अपनी चेतता शक्ति तथा अध्यवसाय की जितनी सहायता लेनी पड़ती है, उतनी क्रमश: उसी भाव की उत्तरोत्तर प्राप्ति में नहीं। कुछ दिनों के बाद वही भाव हमारे हृदय का एक स्थायी अंग बन जाता है।

ओज और स्थिति-परिवर्तन

मन की साधारण स्थिति में हम विदूषक की बातों से प्रसन्न होते हैं, किन्तु जब हमारी मानसिक स्थिति में कोई असाधारण दु:खद परिवर्तन हुआ रहता है, तब प्राय: विदूषक की मनोरंजक बातों को भी सुनकर, प्रसन्न होने के बदले, झुँझला उठते हैं। अच्छे से अच्छा संगीत भी विषाद में हमारा मनोरंजन नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि मनुष्य जैसा चाहता है, वैसा ही मानसिक स्थिति को बनाए रखने का प्रयत्न करता है। उसमें वह किसी दूसरे का व्यवधान सहन नहीं कर सकता। हृदय में जब किसी प्रकार की संवेदना उठती है, तब यदि वह संवेदना सुखद होती है, तो कल्पना में बराबर इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि प्रवृत्ति की यह स्थिति सदा बनी रहे और इसके विपरीत यदि संवेदना दु:खद होती है तो जल्द से जल्द उसे हटाने की कोशिश की जाती है। जब हम बैठे बैठे अपने मन में कल्पना का आनन्द लेते रहते हैं, तब मन की वैसी स्थिति में किसी के कुछ कहने पर अगली बार तो हम उत्तर दे देते हैं, पर दूसरी तीसरी बार पूछे जाने पर झुँझला उठने को हम विवश हो जाते हैं। भाव की जो सत्ता हमारे मन में बनी रहती है, उसमें किसी प्रकार की बाधा हमें वांछनीय नहीं। बाधा आते ही हम स्वाभाविक रूप से झिड़क कर उसे दूर करने की चेष्टा करते हैं। काव्य में भी जब हमारी मानसिक स्थिति भाव की समतल भूमि पर बनी रहती है, तब इस स्थिति के प्रतिकूल किसी प्रकार की व्यंजना होने पर उस बाधा के प्रति हमारे मन में अन्यथा भाव होना एक साधारण बात है। अन्यथा भाव इस बात का प्रमाण है कि हमारी

अपनी सत्ता काव्य के किसी विशेष पात्र की सत्ता से मेल नहीं खाती। ऐसी व्यवस्था में हमें वैसे वर्णन से आनन्द नहीं होता, क्योंकि तब हमारी समझ से ओज का अपव्यय होने लगता है। कवि किसी के हृदय में नया भाव नहीं भरता, बल्कि वह केवल अनुभूत भावों को ही जाग्रत तथा उत्तेजित करता है। किसी नायक-नायिका के प्रेम वर्णन को पढ़कर या सुनकर पाठक या श्रोता उनके सुख से अपने को सुखी नहीं मानता, वरन् उस वर्णन से उसके अपने हृदय का ही सुखकर भाव जाग्रत होकर उत्तेजित हो जाता है और रस को प्रतीति होने लगती है। यदि ऐसे सुख की वासना का संस्कार पाठक या श्रोता के चित्त पर नहीं है, तो काव्य के ऐसे वर्णन से उसका मनोरंजन नहीं हो सकता।

काव्य और वैचित्र्य या चमत्कार

काव्य में वैचित्र्य या चमत्कार को भी एक स्थान प्राप्त है। यह सत्य का अपलाप नहीं है, किन्तु द्राविड़ी प्राणायाम से सत्य की प्रतीति कराना है। सत्य को जानना और मानना दो बातें हैं। जगत् का जो सत्य है, काव्य का सत्य ठीक उसी रूप में व्यक्त नहीं किया जाता। वैचित्र्य का चमत्कार इसी प्रकार काव्य का सत्य है, जगत् के सत्य से कभी-कभी इसे बहुत दूर रखना पड़ता है। पाठक या नेता के हृदय में ऐसी भावना उत्पन्न होती है कि वह इस वैचित्र्य या चमत्कार के सत्य को तथ्य समझकर ही आनन्द प्राप्त करता है। आनन्द का यह प्रलोभन यदि उसे न हो, तो वह काव्य के ऐसे सत्य को नहीं समझ सकता। काव्य और चमत्कार, दोनों में अन्तर है और वह अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि काव्य को एक प्रतीति के रूप में लेकर हम विमुग्ध रूप से मौन हो जाते हैं, किन्तु वैचित्र्य या चमत्कार के समय हम अपना मौन-भंग कर कल्पना की उड़ान पर 'वाह-वाह' कर उठते हैं।

रस की प्रतीति में मनोरंजन—एक साधन, उद्देश्य नहीं

काव्य का उद्देश्य शुद्ध मनोरंजन नहीं हो सकता। उद्देश्य की प्राप्ति में मनोरंजन एक साधन है। उसका अंतिम उद्देश्य जगत् के साथ मानव-हृदय का सामंजस्य स्थापित करना है। मनोरंजन का प्रयोजन चित्तवृत्ति को रस दशा की उस भाव भूमि पर पहुँचकर संलग्न रखना है, जहाँ काव्य के मूल भाव से प्रभावित होते समय पाठक या श्रोता की चित्तवृत्ति इधर-उधर न हो जाय। मनुष्य की चित्तवृत्ति इतनी व्याकरणात्मक है कि जब तक उस पर किसी प्रकार का मधुर प्रतिबंध न रखा जाय या उसके सामने कोई प्रलोभन या आकर्षण न रखा जाय, तब तक वह एक स्थिति में कुछ देर के लिए भी नहीं रह सकती। चित्त की ऐसी स्थिति में काव्य अपने सारे उद्देश्यों को लेकर मनोरंजन के पीछे-पीछे चलता है। उस समय पाठक या श्रोता की अपनी सत्ता काव्य के तथ्य से पृथक् नहीं रहती, उसी में मिल जाती है। यदि काव्य का उद्देश्य शुद्ध मनोरंजन ही रहता, तो इसके लिए काव्य जैसे दुर्लभ व्यापार को घसीटने की आवश्यकता नहीं। किसी के बेढंगेपन पर हम हँसते हैं, थोड़ी देर के लिए उससे हमारा मनोरंजन हो जाता है, परंतु क्या वह बेडंगापन काव्य की समता कर सकता है? काव्य जैसे गंभीर विषय का उद्देश्य

मनोरंजन जैसा हलका विषय नहीं हो सकता । मनोरंजन को हलका कहने से हमारा तात्पर्य यही है कि उसका कोई उससे भिन्न उद्देश्य नहीं होता । हास्यरस में मनोरंजन की सत्ता बड़ी प्रत्यक्ष रहती है, किंतु इस मनोरंजन के अतिरिक्त पाठक या श्रोता के हृदय पर किसी और बात का भी संस्कार जमता है, जिसे वह उस समय मनोरंजन मात्र ही समझकर रह जाता है और उसका हृदय एक अज्ञात दिशा की ओर बढ़ जाता है। जिस प्रकार शारीरिक बल के लिए शारीरिक व्यायाम की आवश्यकता है, उसी प्रकार शक्ति के लिए भावों का व्यायाम अपेक्षित है। प्रत्येक अंग के विकास के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यायाम के ढंग निश्चित हैं । मानसिक शक्ति के विकास के लिए नाना प्रकार के भावों का विन्यास करना पड़ता है। जीवन में काव्य की सफलता का यही परिणाम है। वीररस के काव्य से हम अपने मानसिक उत्साह का विकास कर सकते हैं, करुणरस के काव्य से हम अखिल जीव के प्रति शोक स्पंदित होकर अपनी सहानुभूति-भावना की वृद्धि कर सकते हैं । इसी प्रकार भिन्न-भिन्न रस-प्रधान काव्यों से हम भिन्न-भिन्न भावों को विकसित करने में समर्थ हो सकते हैं । यह एक साधारण बात है कि जो व्यक्ति जिस ढंग के काव्यों का अध्ययन करता है, उसके विचार प्रायः उसी ढंग के होते हैं । यदि रामायण से केवल पितृभक्ति, भ्रातृ-प्रेम, पातिव्रत, मैत्री, दुष्टों के दमन आदि की ही शिक्षा मिले, यदि महाभारत से केवल 'यतो धर्मस्ततो जयः' का ही उपदेश प्राप्त हो, तो दोनों महाकाव्यों की विशालता का तात्पर्य सिद्ध नहीं होता। महाकाव्यों से हमें जीवन की विविधताएँ मिलती हैं । उनसे हम विश्व-जीवन को आत्मसात् करने की चेष्टा करते हैं – यही उनका चरम उद्देश्य है।

आनन्द और विषाद का रासायनिक मिश्रण

आनंद और विषाद दो भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं, परंतु किसी विशेष मानसिक स्थिति में दोनों तत्त्वों का ऐसा रासायनिक संमिश्रण हो जाता है कि हम दोनों तत्त्वों पृथक् को नहीं कर सकते । कालिदास के मेघदूत का विरही यक्ष जब अलकापुरी-स्थित अपनी प्यारी विरहिणी का स्मरण करता है, तब उसकी इस स्मृति-भावना में आनन्द और विषाद के जो तत्त्व एक-से मिले हुए हैं, उनको कोई भी मनोवैज्ञानिक पृथक् नहीं कर सकता। भावों का योग गणितिक क्रिया से नहीं हुआ करता, वह तो रासायनिक योग होता है। यक्ष को अपनी प्रिया की स्मृति से उसकी विरहावस्था पर विषाद होता है, परन्तु उस विषाद की स्मृति से भी उसे जो आनंद प्राप्त होता है उसको भी वह छोड़ नहीं सकता। यहाँ विषाद से भिन्न आनंद का कोई अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार के आनंद को प्राप्त करने के लिए अपेक्षित विषाद को स्वीकृत करना ही पड़ेगा । यदि विरह के विषाद में आनंद की प्रतीति नहीं हो, तो विप्रलंभ शृंगार को काव्य में स्थान नहीं मिल सकता । करुण-रस में भी शोक को यही स्थान प्राप्त है । प्रत्येक मानसिक स्थिति के मूल से यह पता चलता है कि शुद्ध विषाद के जितने रूप हमारे मन में आया करते हैं, उतने शुद्ध आनंद के नहीं। गौतम-पत्नी यशोधरा अपने पति के, जगत् के कल्याण की खोज में, राजमहल से चुपचाप निकल जाने पर स्वाभाविक रूप से विषण्ण होती है, किन्तु वह अपने अस्तित्व की

विशेष मर्यादा न रखकर पति के भावी गौरव की भावना से उल्लसित होकर कहती है—

जायँ, सिद्धि पावें वे सुख से
दुखी न हों इस जन के दुख से
उपालंभ दूं मैं किस मुख से ?
आज अधिक वे भाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।
गए, लौट भी वे आवेंगे,
कुछ अपूर्व अनुपम लावेंगे,
रोते प्राण उन्हें पावेंगे,
पर क्या गाते-गाते ?
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

—मैथिलीशरण गुप्त

जो कवि एक ही मानसिक स्थिति में आनंद और विषाद दोनों को अलग-अलग दिखाने की चेष्टा करता है यह यथार्थ में एक प्रकार के मनोवैज्ञानिक असत्य को ही प्रमाणित करने का प्रयत्न करता है। एक आँख में आनंद का उल्लास और दूसरी में विषाद का अवसाद रह ही नहीं सकते। दोनों आँखों में दोनों तत्त्वों की मिश्रित सत्ता माननी पड़ेगी। बाह्य जगत् के विषाद को पाकर हमारे मन का ओज अनुत्पादक रूप से खर्च होने लगता है, परन्तु काव्य में जब हम किसी के विषाद का वर्णन पढ़ते हैं, तब आश्रय के साथ तादात्म्य स्थिति को प्राप्त कर उस विषाद से आनंद प्राप्त करते हैं।

काव्य में संकेत या उपेक्षा से ओज की रक्षा

काव्य के वर्णनों में ज्यादा ध्यान हम उन्हीं बातों एव घटनाओं पर देते हैं जिनसे हमें आनंद मिलता है। व्यर्थ की बातों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित ही नहीं होता। सत्काव्य का सारा काम केवल वर्णनों से ही नहीं चलता, उसका बहुत-सा काम संकेत या उपेक्षा से भी पूरा किया जाता है। काव्य में जहाँ संकेत या उपेक्षा रहती है, वहाँ उस अंश की पूर्ति पाठक अपनी सहज बुद्धि से कर लेता है। यदि काव्य में केवल सांगोपांग वर्णन से ही काम लिया जाता, तो वह किसी दिनचर्या से विशेष महत्त्व नहीं रख सकता। जो सत्य है अथवा जिस घटना का जो परिणाम सत्य है, उसका संकेत या उपेक्षा कर देने से पाठकका बहुत-सा समय, उसका बहुत-सा ओज बच जाता है, जिससे वह काव्यके आगे के प्रकरणों को मनोयोग-पूर्वक पढ़ने में समर्थ हो सके। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचन्द्र के जीवन में बहुत-सी घटनाएँ दिखलाई हैं, किन्तु नित्यकर्म के जो अंग-शौच, स्नान, संध्या, भोजन आदि हैं उनको बार-बार दिखलाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। जीवन के ये व्यापार ऐसे हैं जो उनकी सत्ता दिखलाने के बाद, बिना किसी विशेष परिस्थिति के, उल्लेखनीय नहीं माने जाते। पाठक या श्रोता समझ लेता है कि जीवन के ये अनिवार्य व्यापार हैं। इनके उल्लेख की उपेक्षा कर उसका बहुत-सा मानसिक ओज बचा लिया जाता है। जब

तक अपने मानसिक ओज का व्यय न किया जाए, तब तक काव्य से आनंद की प्राप्ति संभव नहीं। अतएव, जहाँ मानसिक ओज अनुत्पादक रूप से खर्च होता है, वहाँ का वर्णन रूचिकर नहीं मालूम पड़ता। जो वस्तु कुछ खर्च करके खरीदी जाती है, उसकी उपयोगिता पर हमारा ध्यान बराबर बना रहता है। यदि मनुष्य को काव्य का आनंद बिना किसी प्रकार के खर्च के ही मिला करता, तो उसे अनावश्यक प्रसंग का बार-बार उल्लेख अखरता नहीं। जो घटनाएँ बहुकाल-व्यापी होती हैं उनकी स्मृति, उनका काल्पनिक चित्र किसी संकेत को पाकर क्षण-भर में ही मन में सजीव हो जाता है। यदि संकेत या उपेक्षा से काम न लिया जाय, तो किसी सत्काव्य की रचना संभव नहीं। उसमें इतनी अनावश्यक बातें एकत्र हो जाएंगी कि मन का सारा ओज आरंभ में ही समाप्त हो जाएगा। जिन बातों से हमें मानसिक संतोष नहीं होता, औत्सुक्य जागरित होकर आगे नहीं बढ़ता वे हमारे आनंद का संचार नहीं कर सकतीं। कवि अपना भाव पाठक को नहीं देता, बल्कि वह संकेत से पाठक या श्रोता के ही हृदय में उस प्रकार के भाव का मूल वर्तमान न हो, तो उसे कवि के उस प्रकार के भाव-संकेत से आनंद नहीं मिल सकता। बीज अपने में पूर्ण माना जा सकता है, किन्तु पृथ्वी से उसे विकास के जो तत्त्व प्राप्त होते हैं उन्हें भी अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। बहुत-से चित्रों में हम देखते हैं कि किसी व्यक्ति का एक ही कान चित्रित हुआ है, किसी व्यक्ति की केवल छाती ही झलक रही है, ऐसा देखकर हमको यह कभी संदेह नहीं होता कि चित्रित व्यक्ति कनकटा है, केवल छाती वाला है, पीठ उसे है ही नहीं। यह संकेत या उपेक्षा का ही दृष्टांत है कि हमारी कल्पना उस अवर्णित या उपेक्षित अंश की पूर्ति कर देती है। काव्य में हमारी यह प्रवृत्ति ऐसी स्वाभाविक रीति से काम करती जाती है कि हमें कभी इसके लिए सचेत नहीं रहना पड़ता। चेतना-शक्ति का स्वाभाविक अंग बनकर, बिना हमारी विशेष अनुमति के ही, कल्पना अपना काम करती रहली है। वैसे दौड़ते समय हम गढ़ों या सड़क पर पड़ी हुई किसी बाधा को पाकर उछल जाते हैं, वैसे ही हम अवर्णित या उपेक्षित अंश को कल्पना की छलाँग से पूरा कर देते हैं। इस प्रकार हमारा मानसिक ओज सुरक्षित रहकर निकट-भविष्य में आनंद के उत्पादन में योग देता है।

(ग) काव्य-सौंदर्य और मानव-संवेदना*

काव्य की अपूर्व शक्ति का आश्रय क्या है? किसके बल से बलीयान् होकर काव्य का यह उद्‌गीत रूप इतना मनोहर और इतना आकर्षक हो जाता है?

इस प्रसंग में मुझे छान्दोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय के आठवें और नवें खण्ड में दी हुई एक कथा का स्मरण हो आता है। इस कथा में एक बहुत पुराने शास्त्रार्थ-विचार का विवरण मिलता है। प्रसिद्ध है कि तीन ऋषि उद्‌गीथ-तत्त्व के बहुत अच्छे जानकार थे। उनमें दो तो ब्राह्मण थे और तीसरे क्षत्रिय थे। ब्राह्मण ऋषियोंमें प्रथम थे शालावान् के पुत्र शिलक और दूसरे थे चिकितायन के पुत्र दाल्म्य। क्षत्रिय ऋषि

* डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

जीवल के पुत्र प्रवाहण थे। तीनों उद्गीथ-विद्या के मर्मज्ञ थे। एक बार इन लोगों में इस तत्त्व के आश्रय के संबंध में विचार हुआ। शिलक के प्रश्नों का उत्तर देते हुए दालम्य ऋषि ने बताया था कि साम का आश्रय स्वर है, स्वर का आश्रय प्राण है, प्राण का आश्रय जल है, और जल का आश्रय स्वर्गलोक है। इसके आगे प्रश्न नहीं करना चाहिए क्योंकि साम को 'स्वर्गलोक' कहकर ही स्तुति की गई है – स्वर्गो वै लोक: सामवेद:।

किन्तु शालावान् के पुत्र शिलक, चिकितायन के पुत्र दालम्य के इस कथन से सहमत नहीं हो सके। यह कैसे हो सकता है कि स्वर्गलोक ही अन्तिम सत्य है? उन्होंने शिलक के प्रश्न के उत्तर में कहा था—स्वर्गलोक का आश्रय मनुष्यलोक है— यह मिट्टी की धरित्री है। शिलक ने बाद में दालम्य के ढंग पर ही स्वीकार किया कि इसके आगे प्रश्न करना अनुचित है। सबकी प्रतिष्ठा रूप इस मनुष्य लोक की प्रतिष्ठा और क्या हो सकती है? साम की, पृथ्वी कहकर ही, स्तुति की गई है – 'इयं वै रथन्तरम्।' सो साम का चरम आश्रय यह मनुष्य लोक ही है।

जीवल के पुत्र प्रवाहण को यह भी चरम आश्रय नहीं जान पड़ा। बोले—मनुष्य लोक ही अन्तिम सत्य नहीं है। मनुष्यलोक की भी कोई गति होनी चाहिए। यह कैसे मान लिया जाय कि इसके आगे कुछ है ही नहीं? वस्तुत: इसका भी आश्रय आकाश है। भूतमात्र आकाश में ही उत्पन्न होते हैं, आकाश में ही विलीन होते हैं। आकाश सबसे बड़ा है। आकाश ही परम आश्रय है।

सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यकाशादेव समुत्पद्मन्त आकाशं प्रत्यस्तं
यन्त्याकाश एवैभ्यो ज्यायानाकाश: परायणम्॥

यह विचार आज से कई हजार वर्ष पहले हुआ था। तब से दुनिया के ज्ञान-साधनों में वहुत परिवर्तन हुआ है, विद्वानों के तर्क-कर्कश मस्तिष्कों ने इस प्रश्न पर कई दिशाओं से आक्रमण किया है, पर आश्चर्य यह है कि हम आज भी इन्हीं तीन उत्तरों की जुगाली करते जा रहे हैं। घूम-फिरकर इन्हीं में से किसी एक पर आकर मनुष्य का मस्तिष्क टिकता है। कहने का ढंग और है, भाषा का रूप और तर्क की विधियाँ और हैं, यह उत्तर यही है।

बहुत-से विचारकों ने बताया है कि काव्य में कवि के द्वारा प्रयुक्त शब्दों में, छन्दों में, यमक-अनुप्रासों में और समूची पदसंघटना में एक ऐसी विचित्र शक्ति होती है जो इस दुनिया से ग्रहण की हुई सामग्रियों के उपादान से ही पाठक के चित्त में एक मनोरम कल्पनालोक का निर्माण करती है। यह लोक इस दुनिया में अनुभूत सुख-दु:खों के समान-धर्मा सुख-दु:खों से ही निर्मित होता है और इसीलिए इस दुनिया के समानान्तर ही कहा जा सकता है, परन्तु वह इससे ऊपर होता है और स्थूल जगत् के झमेलों से मुक्त होता है। काव्य के पंख पर केवल मनोभाव ही ऊपर उड़ सकते हैं, स्थूल भार नीचे ही पड़ा रह जाता है, फल यह होता है कि यहाँ के सभी मनोभाव वहाँ आनन्द ही उत्पन्न करते हैं—हास भी, रोदन भी, असूया भी, जुगुप्सा भी। इन मनोभावों के लौकिक रूप में दुनिया के स्थूल और मलिन पदार्थ मिल जाते हैं, परन्तु कवि निर्मित अलौकिक रूप में ये स्थूल और मलिन पदार्थ असंपृक्त रह जाते हैं इसीलिए आनन्द भी अनाविल और सूक्ष्म होता

है। वह कवि का निर्मित जगत् है, उसकी निखरी हुई रुचि की छलनी से सब मलिनता छन जाती है और अपूर्व रसलोक की सृष्टि होती है। यहाँ का प्रजापति कवि ही है उसे जैसा रुचता है, वैसा ही जगत् को बनना पड़ता है।

अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः
यथास्मै रोचते विश्वं तथैतत् प्रतिप्रद्यते।

बात यह है कि काव्य में एक बड़ा भारी गुण साधारणीकरण का होता है। जब आप लोक में कहते हैं कि 'हे ब्राह्मण, तुम्हारे घर पुत्र उत्पन्न हुआ है' तो इस वाक्य के श्रवण से ब्राह्मण के मन में भी एक प्रकार का आनन्द होता है, पर यह आनन्द अपने विशुद्ध रूप से नहीं आता। इसके साथ ही साथ इसके अनेक सहवर्ती झमेले भी ब्राह्मण को भुगतने पड़ते हैं, फिर यह आनन्द ब्राह्मण के अपने मन तक ही सीमित होता है। इसलिए यह लौकिक है। लोक की स्थूल आवश्यकताएँ इसे न तो ऊपर उड़ने देती हैं, न सबके हृदय को समान भाव से आन्दोलित करने देती हैं। काव्य में यदि कोई ऐसा ही प्रसंग आता तो वह पाठक को इससे भिन्न कोटि की अनुभूति देता। वह आनन्द सर्वजन भोग्य तो होता ही, उसमें से लौकिक स्थूल अंश भी छन गए होते। इसी अर्थ में वह अलौकिक आनंद होता है। काव्य के शब्दों में पाठक को रजोगुण और तमोगुण के पचड़े से हटाकर सत्वस्थ करने की शक्ति होती है। उसे आनंद के साथ उसके सहवर्ती स्थूल उपादानों की लपेट में नहीं आना पड़ता। उसका आनंद विशुद्ध मानसिक आनन्द होता है। बड़े बड़े आचार्यों का तो कहना है कि काव्य वस्तुतः पाठक की चेतना का आवरण हटा देता है और वह अपने ही अनुभूत भावों का आस्वादन करता है। उसे बाहर की किसी भी अन्य सहायता की जरूरत नहीं होती। सचमुच ही यह काव्य-लोक अपूर्व है। मेघदूत की अलकापुरी के समान इसमें आनन्द ही आनन्द है। आँसू अगर हैं तो भी आनन्द के ही, ताप अगर है भी तो प्रेम के देवता के मृदुलाघात के ही, वियोग-बाधाएँ हैं भी तो केवल प्रणय-कलह की ही और यौवन के सिवा दूसरी अवस्था को तो लोग वहाँ जानते ही नहीं—

आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तै-
र्नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात्।
नाप्यन्यस्मात् प्रणय कलहाद्विप्रयोगोपपत्ति-
र्वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति

इस प्रकार यह काव्य लोक वस्तुतः ही मनुष्य का बनाया हुआ स्वर्गलोक है— 'स्वर्गो वै लोकः सामवेदः'।

किन्तु इस प्रकार मानने वाले भी यह मानते ही हैं कि सभी काव्य इस प्रकार का अपूर्व रस मन में संचार नहीं कर पाते। कुछ कम कर पाते हैं, कुछ अधिक कर पाते हैं दोष रसों के अपकर्षक होते हैं और सब काव्य उनसे मुक्त नहीं हो पाते। रह-रह कर पृथ्वी का आकर्षण कवि निर्मितस्वर्गलोक में भी कंपन उत्पन्न करता है। स्थूल अनुभूतियाँ उसे धरती की मिट्टी तक घसीट लाती हैं। फिर सब लोग एक ही काव्य से एक ही प्रकार का आनन्द नहीं पा सकते। जिस सहृदय के हृदय में स्थायी भावों की अनुभूति जितनी

ही अधिक होगी वह उतने ही गाढ़ भाव से रस का अनुभव कर सकेगा। जो साहित्य-शास्त्रका मर्मज्ञ है उसी के चित्र में कवि की सरस वाणी प्रसार पाती है। जल छोड़कर और किस स्थान पर तैल बिंदु फैल सकता है ?

विना न साहित्य विदा परत्र गुणः कथंचित् प्रथते कवीनाम्
आलंबते तत्क्षमम्भसीव विस्तार मन्यत्र न तैल बिन्दुः

परन्तु ऐसा क्यों होता है ? निश्चय ही कवि का रस-लोक अपने आपमें परिपूर्ण नहीं होता। उसे मनुष्य का ग्राहक हृदय चाहिए। सहृदय चित्त ही उसका आनन्द ले सकता है। और फिर यह प्रश्न होता है कि कवि के काव्य की अच्छाई-बुराई का, उत्तमता-मध्यमता का निर्णायक कौन है। निश्चय ही साहित्यशास्त्र का पारखी मनुष्य ही विवेचना करेगा कि कौन-सा काव्य अच्छा है, और कौन सा एकदम अच्छा नहीं। मनुष्य ही तो इस काव्य के कल्पलोक का पारखी है। क्या प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह जिस किसी भी काव्य को बुरा कह दे ? या फिर और सीधा प्रश्न यह है कि काव्य की अच्छाई-बुराई क्या हर आदमी अपनी अपनी रसानुभूति के आधार पर बता सकता है ? निश्चय ही नहीं। प्रत्येक व्यक्ति समान भाव से रस वस्तु को नहीं समझ पाता, उसे समझने के लिए भी शिक्षा चाहिए, संस्कार चाहिए, साधना चाहिए। दुनिया में ऐसे उदाहरण बहुत हैं कि एक ही कवि को किसी ने बहुत उत्तम कहा है और किसीने एकदम निकृष्ट। किसी जमाने में शैक्सपियर की बहुत प्रशंसा किया करते थे, उन्हीं दिनों फ्रांस के लोग यह भी मानने को तैयार नहीं थे कि शैक्सपियर को नाटक के एक अक्षर का भी ज्ञान है। एक बार पुरस्कार के निर्णायकों में से एक ने एक पुस्तक पर अस्सी नम्बर दिए थे, दूसरे ने शून्य। ऐसे उदाहरण एक दो नहीं सैकड़ों खोजे जा सकते हैं। हिन्दी साहित्य एक पीढ़ी पहले बड़ी सरगर्मी के साथ विचार कर रहा था कि बिहारी संसार के श्रेष्ठ कवि हैं या देव ? मज़मून छीनने की योग्यता किसमें अधिक है और कल्पना की उड़ान में कौन किसे धकेल कर ऊपर उड़ जाता है ? कोई भी विचारक किसी से कम गंभीर नहीं था, किसी के माथे पर कम शिकन नहीं थी और किसी की भृकुटी कम कुंचित नहीं थी। नितांत हॉल में न जाने कितने कवि प्रगतिवादी कहकर तेजी से अपनी ओर खींचे गए हैं और फिर सौगुनी तेज़ी से प्रतिक्रियावादी कहकर दूर फेंक दिए गए हैं -- बहुत कुछ रहीम के हरि की तरह जिन्होंने कमान की तरह एक बार अपनी ओर खींच लिया था और फिर दूर फेंक दिया था :

हरि रहीम ऐसी करी ज्यों कमान सर पूरि
खैंचि आपनी ओर को डारि दिए पुनि दूरि।

यह सब ठीक है। लेकिन फिर भी इन समस्त परस्पर विरुद्ध जानेवाली सम्मतियों के होते हुए भी दूसरी तरह के उदाहरण हैं जो उल्टी दिशा में सोचने को बाध्य करते हैं। कालिदास का शाकुन्तल भारतीय सहृदयों के गले का हार रहा है किन्तु उसका अत्यन्त त्रुटिपूर्ण अनुवाद समुद्र पार के सहृदय को वाचाल बना सका, जर्मनी के सर्वश्रेष्ठ कवि गेटे ने अपना संपूर्ण हृदय ढालकर उसकी प्रशंसा की। पंचतंत्र की कहानियों ने देश की, धर्म की, संस्कृति की भाषा की, सब कुछ की दीवाल को एक ही धक्के में धूलिसात् कर दिया है,

उमर खय्याम की रुबाइयों ने विधि-निषेधों की अत्यन्त संकीर्ण सीमाओं को तोड़कर भी मनुष्य का हृदय जीता है, शेक्सपियर के नाटकों ने एकदम विरुद्ध समझी जानेवाली संस्कृतियों के उपासकों का मन हरण किया है। यह नहीं कहा जा सकता है कि सुन्दर वस्तु केवल व्यक्तियों के मन की कल्पना है। ग्रीस देश की मूर्तियाँ संसार के सभी पारखियों का आदर पा सकी हैं, नटराज की मूर्ति ने मूर्ति-पूजा के विरोधियों का भी हृदय गलाया है, ताजमहल और कोर्णाक मंदिर यद्यपि दो बिल्कुल विरुद्ध मनोभाव से उद्भूत हुए हैं, पर संसार के पारखी मात्र उन्हें देखकर मुग्ध हुए हैं, अजन्ता के चित्रों ने धर्म के मिथ्याभिमान का आवरण आसानी से दूर करके सहृदयों का सम्मान प्राप्त किया है, ईरान के गलीचों और पात्रों ने किस देश के सहृदय को नहीं तरसा दिया? निश्चय ही सौंदर्य का भी एक ऐसा समान मान है, जो व्यक्ति की मानसिक कल्पना नहीं है और न इस प्रकार की झूठी उन्मादना ही है जिसे अत्यन्त आधुनिक काल में श्रेणी विशेष की चालबाजियों की उपज माना जाने लगा है। काव्य में भी एक प्रकार का सौंदर्य होता है, जो सहृदय को प्रभावित करता है। वह सौंदर्य क्या है, कैसे उत्पन्न होता है, किस प्रकार मनुष्य के चित्त को आस्वादग्राही बनाता है, ये प्रश्न नाना भाव से विद्वानों के बौद्धिक विनोद को उकसाते रहे हैं। प्रश्नों का ताँता यहीं समाप्त नहीं हो जाता, क्योंकि मनुष्य जो कुछ भी जानता है वह मनुष्य का अपना ही समझा हुआ सत्य है। उसे जितनी ही इन्द्रियाँ प्रकृति ने दी है उनके विषय कुछ थोड़े से ही हैं, इन इन्द्रियों को भी मनुष्य पूरी तरह से नहीं जानता। इनके अतिरिक्त यदि कुछ हो तो वह एकदम ही अज्ञात है। क्या मनुष्य की जानी हुई अत्यन्त सीमित परिधि में जो सत्य प्रकट हो रहे हैं वही चरम सत्य है? किसी दिन जब मनुष्य कम जानता था तब उसने मान लिया था कि सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूम रहा है। अब उसने कुछ अधिक जाना है तो मानने लगा है कि पृथ्वी ही सूर्य के चारों ओर घूम रही है, क्या ठिकाना है, कि यही मनुष्य का अन्तिम निर्णय हो! जब जानी हुई दुनिया का यह हाल है तो अनजानी दुनिया का इस विशाल विपुल व्योम के अन्तर्वर्ती कोटि कोटि अनजाने लोकों की तो बात ही करना बेकार है। शिलक ने ठीक ही कहा था कि यह मनुष्य लोक ही साम का आश्रय है पर प्रवहण ने यह कहकर कि आकाश ही मनुष्य लोक का आश्रय है, और भी बड़ी सचाई की ओर इशारा किया है, और भी बड़ी सचाई—जिसे हम सोच नहीं सकते। तो क्या सचाई फिर भी बड़ी या छोटी होती है, अच्छी या बुरी होती है, गलत या सही होती है? साधारणतः मनुष्य की बुद्धि इतना ही सोच पाती है कि सचाई सचाई है, वह एक और अविरोधी होती है, छोटी हो तो, बड़ी हो तो सचाई सचाई है, शालिग्राम की बटिया क्या छोटी क्या बड़ी? परन्तु फिर भी सन्तोष नहीं होता।

परन्तु ये प्रश्न काव्यालोचना से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रखते। ये तत्त्वज्ञान के विषय है। यद्यपि आज तक कोई तत्ववेत्ता इन प्रश्नों का ठीक ठीक उत्तर नहीं दे सका, लेकिन उत्तर देने के व्याज से उन्होंने कुछ-न-कुछ अच्छी अनुमितिमूलक प्रतिज्ञाओं की अवतारणा की है और उनसे सचाई का पता लगे या न लगे—क्या सचमुच उसका पता लग सकेगा ?—मनुष्य की तर्कवृत्ति को सन्तुष्ट करने लायक युक्तियाँ उद्भावित हुई

हैं। तत्त्ववेत्ता इन अनुमितिमूलक प्रतिज्ञाओं को तत्त्वज्ञान या सिस्टम या जगत् प्रपंच की थ्योरी कहने में आनन्द पाते हैं और समस्त जागतिक व्यापारों को उन प्रतिज्ञाओं के साँचे में ढालना चाहते हैं। मनस्तत्त्व, सौन्दर्यतत्त्व और काव्य भी इनकी लपेट से नहीं बच पाते। फल यह होता है कि काव्य में अनेक प्रकार के ऐसे वादों का समावेश हुआ है जो वस्तुत: तत्त्ववादियों की अनुमितिमूलक प्रतिज्ञाओं की सन्तान हैं। अत्यन्त आधुनिक काल में यह प्रवृत्ति बड़े जोरों पर है।

यह तो मैं कैसे कहूँ कि प्राचीन काल में हमारे देश में यह बात थी ही नहीं। काव्यालोचना के क्षेत्र में यहाँ भी दार्शनिकों का प्रवेश हुआ था। महिमभट्ट नैयायिक थे और उन्होंने काव्य के रस-बोध को भी अनुमान का विषय सिद्ध करना चाहा है। अभिहितान्वयवादी और अन्विताभिधानवादी मीमांसक भी काव्य चर्चा में थोड़ी बहुत गर्मी ले आए थे, पर उनका मुख्य विषय अर्थ निर्णय थे रस-मीमांसा नहीं। कुमारिल अभिहितान्वयवादी थे। और प्रभाकर भट्ट अन्विताभिधानवादी। अभी तक यह नहीं सुना गया था कि इन दोनों में से किसी ने काव्यार्थ पर विचार किया था। इनका विषय वैदिक अर्थ था। परन्तु इनके विचार बहुत युक्तिपूर्ण थे और परवर्ती आलंकारिक इनके मतों की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। इसलिए इनका मत अलंकारशास्त्र का आलोच्य होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इन्होंने काव्यविचार को सीधे अपना लक्ष्य बनाया था। अभिनवगुप्त कश्मीर के शैव दर्शन के आचार्य थे। उनका मत निश्चय ही एक विशेष दृष्टिवाले दार्शनिक का विचार है। मम्मट ने उनको ही सबसे बड़ा सम्मान देकर उनके मत के पक्ष में अपना झुकाव दिखाया था। बहुत थोड़े अन्तर के साथ पंडित-राज जगन्नाथ ने भी इनका मत मान लिया था। परन्तु चाहे मम्मट और अभिनवगुप्त की भाँति यह मान लें कि अज्ञानरूप आवरण से रहित जो चैतन्य है उससे युक्त इत्यादि स्थायी भाव ही रस हैं, या पंडितराज की भाँति यह मान लें कि इत्यादि से युक्त आवरण रहित चैतन्य ही रस है, दर्शन का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। दोनों मतों में जो भेद है वह दो दृष्टिकोणों के कारण। एक में चैतन्य विशेषण इत्यादि विशेष्य और दूसरे में इत्यादि विशेषण है, चैतन्य विशेष्य। पंडितराज का मत शांकर अद्वैत से प्रभावित है और बाद में चलकर इस मत ने अन्य आलंकारिकों को भी प्रभावित किया है। इस प्रकार काव्यालोचना के क्षेत्र में थोड़ा बहुत दर्शन का प्रभाव इस देश में भी पड़ा है पर दार्शनिकों ने इस क्षेत्र को सम्पूर्ण रूप से हथिया कभी नहीं लिया। आज नाना प्रकार की समस्याओं ने मनुष्य जीवन को चंचल बनाया है, वे दर्शन को नई खाद्य सामग्री देती रहती हैं और दर्शन के माध्यम से उन समस्याओं का समाधान बताने वाले वाद काव्या-लोचना के क्षेत्र में उतरते हैं। इसीलिए आज काव्य की आलोचना करते समय मनुष्य उन सब बातों की आलोचना करता है कि जो किसी भी तत्त्वज्ञान की पोथी में पाए जा सकते हैं—मनस्तत्त्व, जीव-विद्या, प्रजननशास्त्र, नीतिविद्या, कानून, अर्थशास्त्र और ऐसे ही अनेक विषय काव्यालोचना के विषय होते जा रहे हैं। छूटता है केवल एक ही विषय काव्यगत रसानुभूति। क्योंकि वस्तुत: रसवस्तु अनुभव की चीज़ है, विवेचना की नहीं। कहते हैं, एक बार श्रीकृष्णचन्द्र ने स्त्री वेश धारण करके राधिका के प्रेम की

परीक्षा लेनी चाही थी। राधा ने उनके प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा था कि ऐ सखी, जो व्यक्ति प्रेमानुभूति को जानने की इच्छा रखता है। ज्ञान द्वारा उसे प्राप्त करना चाहता है—उसे वेदना (अनुभूति) को समझाना एक वेदना (पीड़ा) ही है। प्रेम तो कुछ ऐसी वस्तु है जो विवेचना करने से अन्तर्धान हो जाता है और नहीं विवेचना करने से भी अविदित रह जाता है।

या वेद ये द्विविविषु सखि वेदनं यत् या वेदना तदखिलं खलु वेद नैव।
प्रेमा हि कोऽपि पर एव विवेचने सत्यन्तार्दधात्यलमसाव विवेचनेऽपि ।।

यह ठीक है पर 'अलमसावविवेचनऽपि' ही मनुष्य का बड़ा अपरिचय है। सत्यमात्र अनुभवग्राह्य वस्तु है, फिर चाहे वह गणितज्ञ की पेंसिल की नोंक से निकला हो या संगीतज्ञ के सितार की झंकार से। परन्तु मनुष्य उसको बुद्धिपरक विवेचना देने में हिचका नहीं है। 'सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदापि कहे बिन रहा न कोई,' क्योंकि कहे बिन रह जाना मनुष्यत्व का विरोधी है। अनुभूति भी बुद्धि विवेच्य अवश्य है। कभी कभी यह बात गलत ढंग से समझी जाती है। यह विश्वास किया जाता है कि मनुष्य की आन्तरिक अनुभूति से जो बातें जानी जाती हैं वे और होती हैं और तर्क से जो बातें जानी जाती हैं वे और होती हैं। दोनों मानों दो जगत् हैं, जिनका परस्पर कोई संबंध नहीं है। साहित्य जैसी सुकुमार वस्तु के लिए कार्य-कारण परम्परामूलक तर्कभावना एकदम बेकार चीज़ है और न्याय जैसे कठोर शास्त्र के लिए अनुभूतियों का कोमल तंतु उतना ही निरर्थक है जितना हाथी को बाँधने के लिए कच्चा धागा। यही समझकर हर्ष कवि को उनके विरोधी नैयायिक पंडित ने सुकुमार शास्त्र का जानकार कहकर उपहास किया था। श्री हर्ष कवि को यह बात स्वीकार नहीं थी। उनका मत था कि मूल वस्तु है ज्ञान की सक्रिय प्रतिभा। जो लोग समझते हैं कि तरुण दम्पतियों का प्रेम कंटकाकीर्ण वनस्थली में शिथिल हो जाता है और सुखमय प्रसाद में दृढ़ हो जाता है, वे भोले हैं। प्रेम हो तो बाह्य परिस्थितियाँ कुछ बना या बिगाड़ नहीं सकतीं। सक्रिय प्रतिभा हो तो कोई भी शास्त्र बुद्धि-विलास का विषय हो सकता है। हर्ष पंडित ने विरोधी नैयायिक को दृप्त भाषा में उत्तर दिया था—

साहित्ये सुकुमार वस्तुनि दृढ़न्यायग्रह ग्रंथिले
तर्के वा मयि संविधातरि स्वयं लीलायते भारती।
शैय्या वास्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भांकर: के संवृता
भूमिर्वा हृदयंगमो यदि पतिस्तुत्या रतिर्योषिताम् ।।

यह सत्य है कि कुछ विषय आन्तरिक अनुभूति के क्षेत्र में आते हैं और कुछ दूसरे विषय बाह्य वस्तुओं की सामंजस्य विधायिनी तर्कना के क्षेत्र में, परन्तु सर्वत्र एक ही वस्तु दोनों को समझती और प्रकाश करती है--मनुष्य की बुद्धि। मानवीय चेतना के एक किनारे हैं भाव और दूसरे किनारे हैं तथ्य। एक काव्य को, संगीत को कला को माध्यम बनाकर प्रकाशित होता है, दूसरा दर्शन को और विज्ञान को। दोनों एक दूसरे से विच्छिन्न नहीं हैं। एक को छोड़कर दूसरा रह नहीं सकता। तथ्य भी भाव के सहारे खड़ा है और भाव तो तथ्य के बिना एकदम लँगड़ा ही होता है। हर्ष कवि का मत चाहे एक ही व्यक्ति

को आश्रय रूप में देखने से स्वीकार करने योग्य न जान पड़े पर मनुष्य जाति को आश्रय रूप में देखकर यदि इस पर विचार किया जाय तो वह सोलह आने सत्य है। कैसे ? देखा जाए।

तथ्य को समझने वाली बुद्धि चेतना के उस किनारे पर कार-बार करती है जो बाह्य जगत् को द्रष्टा की अनुभूतियों से यथासम्भव असंपृक्त रहती है। मनुष्य में वह विषय प्रधान दृष्टि की प्रतिष्ठा करती है। विषयी यानी द्रष्टा के भावों से विषय, यानी द्रष्टव्य जितना ही स्वतन्त्र, असंयुक्त और निर्लिप्त रहेगा वह उतना ही तथ्यमूलक होगा। परन्तु बाह्य-जगत् के सभी विषय एक ही साथ इस तथ्यानुधाविनी दृष्टि के लक्ष्य नहीं बनते। द्रष्टा ही उन वस्तुओं को बाह्य जगत् से चुनता है और उनके विश्लेषण से तथ्य जगत् का पता लगाता है। इस प्रकार रसायन-विज्ञान या पदार्थ-विज्ञान एकदम दृष्टि-निरपेक्ष विद्या नहीं कहे जा सकते फिर भी यह ठीक है कि विज्ञानों का आदर्श दृष्टि-निरपेक्ष होना ही है। विज्ञान दृष्टि-निरपेक्ष तथ्य का अनुसंधाता है, गणित इस प्रकार की चेतना के सबसे पहले किनारे का विषय है। अन्यान्य विज्ञानों में लौकिक जगत् की जानकारी आवश्यक होती है और इसीलिए दृष्टि या विषयी के कुछ भावों के लिप्त होने की आशंका बराबर बनी रहती है, पर गणित में लौकिक वस्तुओं की ज़रूरत कम से कम होती है। इसलिए गणित सबसे अधिक दृष्टि-निरपेक्ष विज्ञान है, और कम-से-कम दृष्टि-सापेक्ष। ठीक इसी प्रकार चेतना के उस किनारे पर संगीत और साहित्य हैं जहाँ बुद्धि अन्तर्जगत् के भाव को लेकर काम करती है। परन्तु यह भी तथ्य को छोड़कर नहीं रह सकते।

साहित्य का और अन्य ललित कलाओं का धर्म ही प्रकाश करना है। वे तथ्य के पात्र में सुरक्षित भाव को ही आस्वाद योग्य बनाते हैं। हम पहले ही कह आए हैं कि संगीत कम से कम विषय-सापेक्ष विद्या है। काव्य उससे अधिक, किन्तु अन्य साहित्यांगों से कम विषय-सापेक्ष है। यदि साहित्य का एक छोटा-सा क्षेत्र चेतना के अन्तर्मुखी परले किनारे की ओर बना दिया जाय तो काव्य उसमें संगीत की ओर अर्थात् चेतना के विषय-साक्षेप और विषय-निरपेक्ष किनारे की ओर रहेगा और उपन्यास उसके विरुद्ध दूसरी ओर रहेगा। उपन्यास और काव्य में यह मौलिक अन्तर है कि उपन्यास मौजूदा परिस्थिति को भूलकर भविष्य की कल्पना नहीं कर सकता जबकि काव्य वर्तमान परिस्थिति की या ज्ञात तथ्य की सर्वाधिक नवीन परिणति की संपूर्णतः उपेक्षा करके भी अपने आदर्श गढ़ सकता है। यही कारण है कि उपन्यासकार तथ्य को नहीं छोड़ सकता, वह वर्तमान से आँख नहीं मूंद सकता—यहाँ तक कि पुराने ऐतिहासिक कथानक को आश्रय करने पर भी वह आधुनिकतम ऐतिहासिक अनुसंधान की बात मन में बराबर बनाये रहकर ही आगे बढ़ सकता है। वह कवि की भाँति ज़माने के आगे रहने का दावा नहीं करता। काव्य दुनिया की छोटी से छोटी तुच्छता को भी महिमामंडित कर सकता है, पर उपन्यासकार तुच्छता को तुच्छता मानकर ही कारबार करता है। यह सम्पूर्ण रूप से नए यन्त्रयुग की उपज है और इस युग के सम्पूर्ण दोष गुणों को लेकर ही इसका जन्म हुआ है। नए युग की कलों ने इसकी माँग बढ़ाई है और उन्हीं ने इसकी पूर्ति को साधन भी जुटाए है। यह ग़लत

धारणा है कि उपन्यास और कहानियाँ संस्कृत की कथा और आख्यायिकाओं की सीधी सन्तान हैं। कथा और आख्यायिका नाम मात्र के गद्य हैं। उनमें वह झंकार है जो छन्द का प्राण है। वे काव्य की श्रेणी में पड़ती हैं। यह झंकार आधुनिक कविता का प्राण भले हो, उपन्यास में वह दुर्लभ है। उपन्यास तथ्य जगत् से बहुत अधिक संपृक्त है। वह विशुद्ध गद्य-युग की उपज है। उसकी प्रवृत्ति में गद्य का सहज स्वच्छन्द प्रवाह है। उपन्यास में दुनिया जैसी है उसे वैसी ही चित्रित करने का प्रयास प्रधान होता है, कथा-आख्यायिकाओं का लेखक पुराने कवि की भाँति कल्पना द्वारा एक रसमय लोक का निर्माण करता है। वस्तुत: कथा-आख्यायिकाएँ काव्य के पास पड़ती हैं और उपन्यास तथ्य-प्रधान जगत् के पास। उपन्यास और कहानियाँ आज के सबसे मज़बूत साहित्यांग हैं। इसका कारण यह है कि उपन्यासकार और कहानीकार का अपना एक मत होता है, काव्य की भाँति वह भावावेग द्वारा अन्तर्जगत् की अनुभूति को उतना नहीं जगाता बल्कि बाह्य जगत् के तथ्यान्वेषण के कारण उत्पन्न समस्याओं के बारे में अपना निश्चित मत व्यक्त करता है। वैयक्तिक स्वाधीनता के नाम से परिचित आधुनिक डेमोक्रैटिक भावना का सर्वोत्तम रूप उत्तम उपन्यासों को आश्रय करके प्रकट हुआ है। इसकी नींव उन वस्तुओं पर रखी हुई है जो गम्भीर भाव से निरन्तर ही हमारी सामान्य मनुष्यता की कठिनाइयों और द्वन्द्वों को प्रभावित करती है। उपन्यासकार के रचना-कौशल, घटना-विन्यास का चातुर्य और तथ्यात्मक जगत् की समस्याओं में सीधे घुसने वाली भेदक निजी दृष्टि, इन तीन गुणों के कारण उपन्यास आज इतना लोकप्रिय साहित्यांग बन गया है। नाटक में भी ये गुण होते हैं, पर नाटक विशुद्ध साहित्य नहीं होता अर्थात् शब्द और अर्थ के सिर्फ परस्पर-स्पर्द्धी चारुता तक ही रहकर रस सृष्टि नहीं कर सकता, उसके लिए रंगमंच की ज़रूरत होती है।

किन्तु कविचित्त की गम्भीर अनुभूति सुन्दर रूप लेकर भाषा में अपनी महिमा प्रतिष्ठित करना चाहती है। प्रेम अपने को सजाना सँवारना चाहता है। अन्तर में उसका जो आनन्द है उसे बाहर के जगत् में सौन्दर्य के भीतर वह प्रतिष्ठित करना चाहता है। वस्तुत: काव्य चेतना के उस सम्वेदनात्मक स्पन्दन का परिणाम है जो बाह्य जगत् के ज्ञात तथ्यों के आधार पर और अन्तर्जगत् के परिचित भावावेग साधनों के सहारे कवि-चित्त की मर्मानुभूति को समस्त सहृदयों के हृदय में संचारित करता है। उसका आधार तथ्यों की दुनिया है। भाव जब तथ्य से युक्त होता है तभी साधारण सत्य होता है। श्रीमती महादेवी वर्मा ने आधुनिक विषयी-प्रधान कविताओं का विश्लेषण करते हुए छायावाद की तीन विशेषताओं पर ज़ोर दिया है—

(१) व्यक्तिगत अनुभव में प्राण-संचार

(२) प्रकृति के अनेक रूपों में एक महाप्राण का अनुभव और

(३) ससीम और असीम का ऐसा सम्बन्ध जिसमें अलौकिक व्यक्तित्व का आरोप हो।

किन्तु महादेवीजी बताती हैं कि मनुष्य-मनुष्य के बीच जो रागात्मक सम्बन्ध हैं उनमें जब तक 'अनुरागजन्य आत्मविसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस

नहीं हो पाते। परन्तु मनुष्य के हृदय का अभाव तब तक दूर नहीं होता जब तक वह सरसता सीमाहीन के प्रति न हो।' इन बातों का विश्लेषण किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि भाव को तथ्य से एकदम असंपृक्त रखकर काव्य नहीं बन सकता। यद्यपि विषय-प्रधानता काव्य में अवश्य रहती है पर काव्य के अनेक ऐसे भेद भी हैं जिनमें विषय कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता। ऐतिहासिक महाकाव्य, काव्य, वर्णनात्मक वीरगाथाएँ आदि बाह्य जगत् के तथ्य से निर्लिप्त नहीं रह सकतीं, पर उपन्यास इनमें सबसे अधिक तथ्याश्रयी है। इससे थोड़ा ही सटा हुआ तथ्योन्मुख साहित्य आत्मकथा का है जिसका एक पैर साहित्य में और दूसरा इतिहास में होता है।

लेकिन मूल बात जो हम कहना चाहते हैं वह यह है कि काव्य और विज्ञान एक ही मानवीय चेतना के दो किनारों की उपज हैं। वे परस्पर विच्छिन्न नहीं हैं, परस्पर विरुद्ध तो नहीं ही हैं। मनुष्य की एक ही चेतना से दोनों की स्थिति है। इसलिए ऐसा तो नहीं हो सकता कि एक की अच्छाई-बुराई का निर्णय यदि आसानी से होता है तो दूसरे की अच्छाई-बुराई का निर्णय हो ही नहीं सकता। कोई-न-कोई एक सामान्य मानदण्ड अवश्य है। विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में काम करने वाले वैज्ञानिक तथ्य जगत् के नये-नये तत्त्व बराबर आविष्कार करते रहते हैं। एक क्षेत्र का वैज्ञानिक दूसरे क्षेत्र के वैज्ञानिक द्वारा आविष्कृत तथ्य की बात नहीं सोचता। वह बिल्कुल ही विचलित नहीं होगा यदि उसका आविष्कार किसी ऐसी बात का समर्थन करे जो दूसरे क्षेत्र के वैज्ञानिक के आविष्कृत तथ्यों से एकदम उलटी पड़ती हो। इसमें विज्ञान की कोई शिकायत नहीं है परन्तु यह बताने की ज़रूरत फिर भी रह जाती है कि इन विभिन्न वैज्ञानिक अनुसंधानों सामंजस्य कैसे स्थापित किया जाए। सामंजस्य को खोजना आवश्यक है। मनुष्य के आविष्कृत सत्य को मनुष्य के ही आविष्कृत अन्य सत्यों का विरोधी नहीं होना चाहिए क्योंकि वे वस्तुतः एक ही चेतना के परिणाम हैं। तत्त्वज्ञान का शास्त्र यही कार्य करता है। जिस प्रकार तथ्यात्मक जगत् के साधक विभिन्न क्षेत्रों में काम करते हुए परस्पर विच्छिन्न और कभी-कभी परस्पर विरुद्ध जाने वाले परिणामों को खोज निकालते हैं, उसी प्रकार भाव जगत् में विचरण करने वाले कवि, चित्रकार, नाटककार और संगीत-विशारद विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करते हुए ऐसी सौन्दर्य-प्रेरणाओं का संधान पाते हैं जो साधारण मनुष्य की समझ के लिए जटिल हो जाते हैं। सौन्दर्यशास्त्र का आलोचक इन्हीं परस्पर असम्बद्ध और विच्छिन्न सी लगने वाली रस-प्रेरणा के स्रोतों में सामंजस्य खोजता है। यह भी तत्त्वज्ञान का ही विषय है। धर्म-विज्ञान पहले से ही एक ऐसी सत्ता में विश्वास कर लेता है जो इस मनुष्य दृष्ट जगत् को अंशमात्र से व्याप्त करके चला रही है। सुना है, इधर हाल में पदार्थ-विज्ञान नये आविष्कारों ने तत्त्वज्ञानियों की युक्ति-समर्थित समझी जाने वाली कार्य कारण परम्परा पर गहरी चोट मारी है और पदार्थ-विज्ञान की पूर्ति के लिए धर्म-विज्ञान द्वारा अनुभावित किसी लोकोत्तर विश्वास की आवश्यकता महसूस की जाने लगी है।

लेकिन ततः किम् ? यदि यह मान ही लिया गया कि ये सारी बातें मनुष्य की एक ही चेतना सत्ता के विलास मात्र हैं जिन्हें साहित्य कहते हैं, कला कहते हैं, विज्ञान कहते हैं

या गणित कहते हैं तो क्या हुआ ? गणित पदार्थ-विज्ञान की उपयोगिता तो समझ में आ जाती है, साहित्य की क्या उपयोगिता हो सकती है ? दूसरे शब्दों में यह प्रश्न हुआ कि साहित्य पढ़ने से मनुष्य को कुछ जीवन में न पढ़ने से सफलता या असफलता मिलती है या नहीं ? और फिर यह असफलता या सफलता काव्य या अन्य साहित्यांगों के उत्कर्ष या अपकर्ष की कसौटी है या नहीं ? मनुष्य ने जो अपने अनुभवों की दुनिया बनाई है उसी के हिसाब उसने भले या बुरे, सुन्दर या असुन्दर की कल्पना भी बना ली है। यह कल्पना क्या कल्पना ही भर है या इसकी कुछ उपादेयता या यथार्थता भी है ? सब प्रश्नों को समेट कर संक्षिप्त किया जाए तो मूल प्रश्न यह है कि किस बात से हम निश्चय कर सकते हैं कि कोई वस्तु अच्छी है या बुरी है और वह कसौटी साहित्य पर किस प्रकार लागू होती है। इतना शुरू में ही मान लेना चाहिए कि सबकी एक कसौटी होनी चाहिए, यह नहीं कि विज्ञान के लिए एक हो और कला के लिए दूसरी और तत्ववाद के लिए तीसरी क्योंकि जब सभी मनुष्य चेतना की ही उपज हैं तो उनमें कोई समानता तो होनी ही चाहिए।

जब कभी मैं इस मनुष्य की उत्पत्ति की बात सोचता हूँ तो अपने रक्तकणों में एक अपूर्व झनझनाहट अनुभव करता हूँ। आप मेरी इस दुर्बलता को क्षमा करेंगे। पर मैं इस बात को सोचे बिना रह नहीं सकता। यह मुझे समस्त सत्यों का सत्य जान पड़ता है। न जाने किस पुण्य क्षण में किसी अज्ञात काल के अज्ञात मुहूर्त में हमारा यह ग्रह पिण्ड, जिसका नाम पृथ्वी दिया गया है, सूर्य मण्डल से टूट गया था। उस समय यह ज्वलन्त गैसों से भरा हुआ था। शुरू से अन्त तक केवल ताप से परिपूर्ण इस त्रुटित धरित्री खण्ड के किस कण में जीव तत्त्व वर्तमान था, कोई नहीं जानता। उसके बाद लाखों वर्ष तक यह पिंड ठंडा होता रहा, चक्कर मारता रहा, दुर्दान्त वेग से दौड़ता रहा। खिलाड़ी के इशारे पर नाचने वाले हैं। सरकस के घोड़े की तरह यह चक्कर काटता रहा। लाखों वर्षों तक तप्त धातुओं की लहाछेह वर्षा होती रही, लाखों वर्ष धरित्री का ऊपरी भाग धसकता-मसकता रहा, लाखों वर्ष इसकी पपड़ी ठंडी होती रही। तब से आज तक यह विचित्र धरित्री-पिंड विपुल आकाश में निस्सहाय घूम रहा है। कोई भी परवलयमार्गी धूमकेतु इसे एक ही धक्के में चूर्णविचूर्ण कर दे सकता था और आज भी कर दे सकता है, कोई भी अतिपर-वलय-पंथी परिव्राजक पिंड इसे चुम्बक की भाँति सटाक से खींचकर निगल ले सकता था और निगल ले सकता है, पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। दुर्दान्त वेग कम हो गया, तप्त धातुओं की लहाछेह वर्षा रुक गई, धसकन-मसकन का उत्पात शिथिल हो गया। और सबसे आश्चर्य की बात यह हुई कि एकदम नवीन वस्तु का आविर्भाव हुआ—जीवकण। न जाने कब से जीव तत्त्व उन तप्त धातुओं में छिपा हुआ अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा में बैठा हुआ था। समस्त जड़ शक्ति के मस्तक पर पैर रखकर जब वह मृदुल तृणांक के रूप में पैदा हुआ तो पृथ्वी के इतिहास में अघटित घटना ही घटी थी। जड़ शक्ति में सबसे अधिक शक्तिशाली थी महाकर्ष की शक्ति—ग्रेवीटेशन पावर। नगण्य तृणांकुर ने उसकी प्रतिभा नहीं मानी, वह सिर उठाकर खड़ा हो गया। महाकर्ष की शक्ति उसे नीचे नहीं खींच सकी। तब से आज तक वह उस वस्तु को नीचे नहीं खींच सकी है जिसमें प्राण है। जीव तत्त्व की ऊर्ध्वगामिनी वृत्ति आज तक समस्त जड़ तत्त्वों को परास्त

करके विराज रही है।

जीव तत्त्व विकसित होता गया एक कोश से अनेक कोशों में, सरल संघात से जटिल समूह के रूप में, कर्मेन्द्रिय-प्रधान जीवों से ज्ञानेन्द्रिय-प्रधान जीवों के रूप में और अन्त में उसने मनुष्य के रूप में अपने को प्रकट किया। मनुष्य उसकी अन्तिम परिणति है। पंडितों ने देखा है कि मनुष्य तक आते-आते प्रकृति ने अनेक प्रयोग किए हैं, कितने ही जीव ऐसे बनाए हैं जिनका नाम भी अब नहीं बच रहा है। इस प्रयोगशाला में प्रकृति ने न जाने कितने प्रयोग किए हैं। एक वृक्ष बनाने के लिए उसने एक हज़ार बीज बनाए हैं। यह विशाल फिज़ूलखर्ची क्या व्यर्थ है ? यह अद्भुत रचना-कौशल क्या अन्ध-प्रचेष्टा का फल है, ये असंख्य प्रयोग क्या राह-भूले व्यक्ति के प्रयास हैं ? या योजना बनाने वाली किसी बुद्धि के अभाव का परिचायक हैं। मनुष्य को यहाँ तक ले आने में क्या केवल संयोग ने काम किया है या किसी अज्ञात महाशक्ति का इशारा काम कर रहा है ? कौन बताएगा कि इतनी बरबादी प्रकृति ने किस उद्देश्य की सिद्धि के लिए सही है ?

मनुष्य के आने के पहले प्रकृति अपने-आप लुढ़कती-पुढ़कती, घिसटती-घसटती चल रही थी। मनुष्य ने उसको कार्य-कारण परम्परा की नीरन्ध्र को ठोस भूमि में दरार किया। उसने इच्छाशक्ति को प्रवेश कराया। अब तक जो कुछ जैसा था होने को बाध्य था। मनुष्य ने कहा, जैसा है वैसा नहीं, जैसा होना चाहिए, यहीं से सृष्टि का नया अध्याय शुरू हुआ। मनुष्य प्रकृति के आदेश को न मानकर वह रास्ता ढूंढने लगा जिसमें प्रकृति उसकी इच्छा की अनुवर्तिनी हो। वह विजयी हुआ। उसके इशारे पर प्रकृति चलने लगी। मित्रो, यह रक्त कण को झनझना देने वाली वार्ता नहीं है ? इससे अधिक उल्लास और उत्कंप पैदा करने वाली बात और क्या हो सकती है ?

जो जैसा है उसे वैसा ही मान लेना मनुष्य-पूर्व जीवों का लक्षण था, पर जो जैसा है वैसा नहीं, बल्कि जैसा होना चाहिए वैसा करने का प्रयत्न मनुष्य की अपनी विशेषता है। इसमें प्रयत्न की आवश्यकता होती है। प्रयत्न करना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है, पशु में और मनुष्य में बहुत-से सामान्य धर्म हैं, मनुष्य उतनी दूर तक पशु ही है जितनी दूर तक वह केवल आदिम सहजात मनोवृत्तियों और असंगत तथा अविविक्त संयोगों से चालित होता है। लोभ सहजात मनोवृत्ति है, वह पशु और मनुष्य में समान है, पर औदार्य, पर-दुःख-संवेदन उसमें नहीं होते, यह मनुष्य की अपनी विशेषता है। स्वार्थ के लिए लड़ पड़ना मनुष्य और पशु में समान है पर दूसरे के लिए अपने को उत्सर्ग कर देना, अपने कष्ट सहकर भी दूसरे की सुविधा कर देना मनुष्य की अपनी विशेषता है। इसी प्रकार आहार, निद्रा आदि पशु सामान्य धरातल से जो ऊपर की चीज़ है जो संयम से, औदार्य से, तप से और त्याग से प्राप्त होती है, वह मनुष्य की अपनी विशेषता है। यही मनुष्य की मनुष्यता है। फिर मनुष्य मनुष्य है, वह प्रकृति के नियमों का विश्लेषण करता और इस प्रकार उनका उपयोग करता है जिससे वह नई सृष्टि कर सके। विवेक कल्पना, औदार्य और संयम मनुष्यता है और इसके विरुद्ध जाने वाले मनोभाव मनुष्यता नहीं हैं।

परन्तु क्या प्रमाण है कि मनुष्य ने जो कुछ सोचा है या किया है वह सचमुच ही वैसा है जैसा होना चाहिए ? या फिर क्या सबूत है कि जिन बातों को हमने मनुष्यता कहा है वे निश्चित रूप से उनसे अच्छे ही गुण हैं जिन्हें हमने मनुष्यता नहीं कहा है ? हम यहाँ जो कुछ देख रहे हैं, जो कुछ सोच रहे हैं, जो कुछ समझ रहे हैं और वे सभी बातें जिन्हें हम भविष्य में जानेंगे मनुष्य की दृष्टि से देखा हुआ मनुष्य की अपनी त्रुटि-विच्युतियों से परिभावित मानव-सत्य है। यह कोटि-कोटि योजनों में विस्तृत विशाल ब्रह्माण्ड-निकाय भी मनुष्य का सत्य है और अत्यन्त सूक्ष्म तर्क-वितर्क, ज्ञान-वैराग्य, रस-भाव, तथ्य-सत्य सब मनुष्य की आँखों से देखा हुआ मानव-सत्य है। केंकड़ा तिरछा चलता है। एक बार केंकड़े के बच्चे ने अपनी माँ से पूछा कि माँ मनुष्य के बच्चे तिरछा क्यों नहीं चलते हैं। माँ ने उत्तर दिया, उनका स्वभाव ही ऐसा है। केंकड़े की दृष्टि से मनुष्य की चाल तिरछी है, क्योंकि केंकड़े का जगत् केंकड़े का अपना सत्य है। मनुष्य की दृष्टि में केंकड़े की चाल तिरछी है क्योंकि मनुष्य-दृष्ट जगत् है। दोनों में कौन ठीक है ?

वस्तुत: प्रश्न यह उतना महत्त्वपूर्ण है नहीं, जितना ऊपर-ऊपर से दिखाई देता है। क्योंकि चाहे भलाई-बुराई कहिए या सुन्दर-असुन्दर कहिए या नैतिक-अनैतिक कहिए, ये सारी धारणाएँ मनुष्य-दृष्ट जगत् की हैं, इसलिए जब हमें इन बातों के माध्यम से सोचना पड़ता है तो वस्तुत: हम मानवीय जगत् की ही बात सोचते रहते हैं। इसलिए जब हम अच्छा या बुरा, सुन्दर या असुन्दर, नीति संगत या अनीति संगत बात करते हैं तो मनुष्य दृष्ट तथ्यों और भावों के सामंजस्य या असामंजस्य की ही बात करते हैं। मनुष्य में दो भाव हैं— जड़ भाव और चेतन भाव। जड़ उसे नीचे की ओर खींचता है, गतिहीन बनाता है और चेतन उसे ऊपर की ओर ले जाता है, गति देता है। चेतन में भी कुछ मनुष्य-पूर्व संस्कार हैं जो उसकी स्वार्थमय वृत्ति को रूप देते हैं और कुछ मनुष्य संचित संस्कार हैं जो उसे छोटी स्वार्थ-सीमा को छोड़कर दूसरी के साथ एक करते हैं। मनुष्य जितना ही अधिक 'मनुष्य' होता है उतना ही अधिक वह दूसरों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर सकता है और इसको अन्तिम तर्कसंगत परिणाम तक ले जाया जाए तो कह सकते हैं कि 'एकत्व' की अनुभूति ही मनुष्य की चरम मनुष्यता है। यह देखा गया है कि व्यक्तिगत सुख-सुविधा के लिए मनुष्य जिन बातों के भाव को बहुमान देता है, अभाव से विचलित होता है उन्हें वह उस समय एकदम तुच्छ समझता है जब दूसरों के प्रति समवेदना से आकृष्ट होकर अपने आपकी बलि देने को तैयार हो जाते हैं। साधारण अर्थ में दु:ख माना जाता है— उसे वह उस अवस्था में सुख मानता है। दुनिया के समस्त व्यवहारों का अर्थ ही उसकी दृष्टि में भिन्न हो जाता है। यह समवेदना एक अपूर्व द्रावक रस है। समस्त ललित कलाओं का यह प्राण है। इसके संस्पर्श में आकर दु:ख दु:ख नहीं रहता, सुख सुख नहीं रहता समस्त मनोभाव ज्यों के त्यों रहते हैं पर उनकी अनुभूतियाँ एकदम बदल जाती हैं। मनुष्य का यह निजि धर्म है। भागवत में यह बताया गया है कि धन से, प्राण से, मन से, वचन से, कर्म से, मनुष्य अपनी देह के लिए, पुत्र-पौत्रादि के लिए उन्हें सम्पूर्ण मानव समाज के अलग समझ कर जो कुछ भी करता है वह असतु होता है, परन्तु इन्हीं स्थूल वस्तुओं से और राग प्रवण मनोवृत्तियों से जब वह समस्त मनुष्य को एक समझकर

अपृथक् समझकर कर्म करता है तो वह 'सत्' हो जाता है क्योंकि ऐसा कर्म किसी खण्ड तथ्य की नहीं बल्कि 'पूर्ण' की सेवा में नियुक्त होता है और स्नेह रस से सबके मूल का सेवन करता है—

यद् युज्यतेऽसु वसु कर्म मनो वचोभिर्देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत् पृथक्त्वात् ।
तैरेव सद् भवति चेत् क्रियतेऽपृथक्त्वात् सर्वस्य तद् भवति मूलनिसेचनं यत् ।

सो यह मनुष्य की एकत्वानुभूति ही मनुष्य की चरम मनुष्यता है। जब अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़कर समस्त सुख-दुःखों की तेलबाती में जलाकर मनुष्य अपने-आपको महा 'एक' को समर्पण करता है तो वह 'मनुष्य' बनता है। उसका सम्पूर्ण जीवन चरितार्थ होता है। जहाँ यह भाव नहीं है, जहाँ कहीं मनुष्य अपने को, निर्दलित इक्षुदंड की भाँति, सुख-दुःख की चक्की में पीसकर अपना जीवन-रस सबके सुख के लिए दे सका है वहीं उसका श्रेष्ठ रूप प्रकट हुआ है, जहाँ ऐसा नहीं हो सका वहाँ उसका श्रेष्ठ रूप भी प्रकाशित नहीं हुआ। मनुष्य का श्रेष्ठ रूप में प्रकट होना ही उसका स्वाभाविक धर्म है। स्वाभाविक का अर्थ सहजात आदिम मनोभाव नहीं समझना चाहिए। प्रयत्न करना मनुष्य का स्वभाव है और उसका स्वाभाविक धर्म प्रयत्न का विरोधी नहीं हो सकता। मनुष्य में कुछ पशु-सामान्य आदिम मनोवृत्तियाँ हैं जो अनायास ही, थोड़ी-सी उत्तेजना पाते ही झनझना उठती हैं। उनमें मनुष्य की अपनी कोई विशेषता नहीं है। जिस बात में मनुष्य की विशेषता है, वह है उसकी साधना, तपस्या, आगे बढ़ने का प्रयत्न। इसीलिए मनुष्य का स्वाभाविक धर्म अनायास नहीं प्राप्त होता, साधनालभ्य होता है। वह आहार निद्रा के समान पशु सामान्य धर्म है। तब तक मनुष्य में साधनालभ्य धर्म को प्रप्ति करने का सामूहिक प्रयत्न नहीं हुआ, व्यक्तिगत रूप से ही अब तक उसकी साधना चलती रही है। परन्तु 'महा एक' को साधना के लिए समूचे समाज का प्रयत्न होना चाहिए। जब तक यह साधना नहीं होती तब तक वह सिद्धि भी नहीं मिलने की जिसके बिना संसार में मारकाट, नोच-खसोट, झगड़े-टंटे, युद्ध-अकाल बढ़ते जा रहे हैं, और मनुष्य के नख-दन्त नाना-भाँति मरणास्त्रों के रूप में प्रकट होते रहेंगे।

अभी जिस बात को मैंने मनुष्यता कहा है वही जब उच्छलित हो उठती है, उसका आनन्द जब अन्तर को पूर्ण रूप से भरकर बाहर प्रकाशित हो उठता है तभी काव्य बनता है और काव्य ही जब तथ्य जगत् के विभिन्न उपादानों का आश्रय लेता है तो अन्यान्य साहित्यांगों के रूप में प्रकट होता है। साहित्य वस्तुतः मनुष्य का वह उच्छलित आनन्द है जो उसके अन्तर में अँटाए नहीं अंठ सका था। परिपक्व दाड़िम फल की भाँति वह अपने रंग और रस को अपने भीतर बन्द नहीं रख पाता। आम्रफल के बाहर जब उसके रंग का ऐश्वर्य उच्छलित हो उठे तो समझना चाहिए कि उसके भीतर मधुर रस पूर्ण रूप से भर गया है। मनुष्य का अन्तर भी जब रस से परिपूर्ण हो उठता है तो वह गा उठता है काव्य करने बैठता है और तथात्मक जगत् से सामग्री संग्रह करके छन्दों में, स्वरों में, अनुच्छेदों में, परिच्छेदों में, सर्गों में, अंकों में, अपना उच्छलित आनन्द भर देता है। जिसे भी इस रस का साक्षात्कार मिल गया होता है वह रुक नहीं सकता। वह अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को निचोड़कर 'महा एक' को समर्पित

किए बिना रह नहीं सकता । दूसरे भी छन्द लिखते हैं पर उस छन्द में प्राण नहीं होत।, उसमें मनुष्य बनने की ओर जाने की प्रेरणा नहीं होती और यह गाँठ बाँध लीजिए कि जिस काव्य या नाटक या उपन्यास के पढ़ने से मनुष्य में अपने छोटे और संकीर्ण स्वार्थों के बन्धन से मुक्त होने की प्रेरणा नहीं मिलती तथा 'महान् एक' की अनुभूति के साथ अपने-आपको दलित द्राक्षा के समान निचोड़कर 'सदस्य मूल-निषेचन' के प्रति तीव्र आकांक्षा नहीं जाग उठती वह काव्य और वह नाटक और वह उपन्यास दो कौड़ी के मोल का भी नहीं है । छन्द में भी शक्ति होती है, स्वर में भी शक्ति होती है, अनुप्रास में भी शक्ति होती है परन्तु वे सभी बाह्य हैं—मूल वस्तु है यही आनन्द का अतिरेक । उसी से सजीव सृष्टि संभव है । शास्त्रकारों ने बताया है कि विधाता ने भी आनन्द से ही समस्त जगत् की सृष्टि की थी, समूचा दृश्य जगत् उसकी लीला है । यह जो कुछ हम देख रहे हैं, सुन रहे हैं, यह सब प्रपंच उसका लीला-विलास मात्र है । मनुष्य उसी विधाता का श्रेष्ठ प्रतिरूप है जब उसमें अपना स्वाभाविक धर्म चरम उत्कर्ष पर पहुँचता है उसमें भी वही लीला-विलास उत्तरंग हो उठता है, उसके उच्छलित आनन्द के अतिरेक से उद्भूत सृष्टि ही सच्चा साहित्य है ।

साहित्य के अध्ययन के लिए नाना प्रकार के बाह्य आकार-प्रकारों का—छन्द का, शैली का, व्यंग्यार्थ का, अलंकार का, रचना-कौशल का—अध्ययन आवश्यक होता है । वस्तुतः ये सभी बातें मनुष्य-बुद्धि की उपज हैं और इसीलिए अनुपेक्षणीय हैं । लेकिन इनकी कोई सीमा नहीं बँधी है । जिस व्यक्ति के मन में मानवता के स्वाभाविक धर्म की उपलब्धि का आनन्द उच्छल हो गया होता है, जिसमें कहने योग्य बात कहलाने की बेचैनी पैदा कर दी होती है, वह नया छन्द बना लेता है, नये अलंकारों की योजना कर लेता है, नई शैली बना लेता है, परन्तु जिसे इन बातों का ज्ञान हो लेकिन मूल बात का स्पर्श ही नहीं, वह साहित्यकार नहीं हो सकता । वह भी साहित्य लिख सकता है, उसके लिखे को भी लोग साहित्य कह लेते हैं, उसमें 'मनुष्यता' हो या न हो । परन्तु जिस मनुष्य के पास बेचैनी होती है पर बाह्य आकार प्रकार का परिचय नहीं होता, वह अपना रास्ता बना ही लेता है । साहित्य का सहृदय आलोचक सिर हिलाकर घोषणा करता है कि यह नई शैली है, नया छन्द है, नई अलंकार-योजना है । असली बात यह होती है कि नया मनुष्य नया प्राण लेकर नवीन आवेगों से भाषा को झंकृत करता है और उनसे हृद्गत भावों को कहलवा लेता है । कबीरदास इसलिए नहीं रुके कि उन्हें छन्द और अलंकार पढ़ लेने चाहिए । उन्होंने उस महारस का पान कर लिया था, उनका अन्तर उससे परिपूर्ण हो गया था, समूचे काल को निचोड़कर उसकी छाक पी ली थी । वे कहने को व्याकुल थे और इसीलिए कह गए । जिस छन्द में कह गए, जिस शैली में कह गए, जिस भाषा में कह गए वह सब नई है । साहित्य का आलोचक मूँड मारकर उसका हिसाब-किताब भसालता रहे, कहने वाले को उसकी परवा नहीं है । जो मस्ताना आठों पहर की छाक पीकर, समूचे काल का रस निचोड़कर कुछ बन गया था, वह कहाँ तक इन बातों की चिन्ता करता ?—

आठहूँ पहर मस्ताना माता रहे
आठहूँ पहर की छाक पीवै ।
कहै कब्बीर कोई सन्त जन सूरमा ।
लाल निच्चोड़ि कै अभृत पीवै ।

जिन लोगों ने तथ्यात्मक जगत् में अनुसंधान किया वे भी अन्त तक इस आनन्द को अनुभव करते हैं, उनका रास्ता दूसरा है, यहाँ हम उनकी चर्चा नहीं करेंगे। परन्तु उनकी साधना से जो ज्ञान उपलब्ध होता है उसको आश्रय करके मानव-चित्त का उच्छल आनन्द नाना रूपों में प्रकट होता है। यह उचित ही है। पर कभी-कभी ग़लती यह की जाती है कि तथ्यात्मक जगत् के ज्ञान को आश्रय करके मानव चित्र के स्वाभाविक धर्म की उपलब्धि से प्राप्त आनन्द को नहीं रूप दिया जाता, बल्कि उन ज्ञात तथ्यों को प्रचारित करने का प्रयत्न किया जाता है। फ्रॉयड आदि विचारकों ने मनुष्यों को समझने के नये द्वार उद्घाटित किए हैं। ये विचारक वैज्ञानिक हैं, उन्होंने मनोजगत् के जिन रहस्यों का उद्घाटन किया है उन्हें तथ्यात्मक जगत् का ही रहस्य समझना चाहिए। ये चरम सत्य नहीं है, यद्यपि कभी-कभी इन्हें अन्तिम सत्य मानकर साहित्य लिखने का प्रयत्न होता रहता है।

यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि तथ्य जगत् से गाढ़ भाव से सम्बद्ध होने पर भी साहित्य का सबसे अधिक सम्बन्ध मानसिक जगत् से है। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि आज के मनोविज्ञान के नवीन आविष्कारों ने हमारे तरुण साहित्य-कारों को अभिभूत कर दिया है। मुझे मनोविश्लेषणशास्त्र से बड़ा अनुराग है, जब कभी सुनता हूँ कि इस विषय की कोई नई पुस्तक छपी है तो उसे पाने और पढ़ने का प्रयत्न करता हूँ। बुद्धि-विद्या के अनुसार उसके भावों को भी ग्रहण करता हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि फ्रॉयड और उसके शिष्यों ने मनुष्य को समझाने के लिए बहुत उत्तम साधन प्रस्तुत किए हैं। हमारे अपने मानस में निरन्तर प्रवाहित होने वाली अनेक अज्ञात धाराओं को उन्होंने ज्ञात बताया है और अपने-आपको समझने की कुंजी दी है। पर सब मिलकर वह शास्त्र अभी शैशवावस्था में ही है। अब भी बहुत-कुछ इसकी पकड़ के बाहर रह गया है। फिर यह मनोविश्लेषण विज्ञान यद्यपि बहुत तेजस्वी है, जनमते ही न जाने कितने रूढ़ विश्वासों को इसने चित कर दिया है और आचारशास्त्र, सौंदर्य-विवेचक शास्त्र तथा नैतिक विधान आदि पर तो इसने दुर्दान्त आक्रमण किए हैं—तथापि वह मनुष्य द्वारा उद्भावित महान् ज्ञानराशि का एक कणमात्र ही है। इसे सब साँचों के साथ मिलाकर तब स्वीकार करना चाहिए —'सब साँच मिलै तो साँच है ना मिलै सो झूठ।'

हमने ऊपर देखा है कि तथ्यात्मक जगत् के ऊहापोह में लगे हुए वैज्ञानिक इस बात की परवाह नहीं करते कि उनका आविष्कृत नवीन तथ्य अन्य गवेषणाओं द्वारा उप-लब्ध तथ्यों के साथ सामंजस्य रखता है या नहीं। यह काम उनका नहीं है। यह तत्त्व-ज्ञानियों का काम है। सुना है पदार्थ-विज्ञान और जीव-विज्ञान ने ऐसे अनेक तथ्यों का पता लगाया है जिनका अर्थ एक समय उन तथ्यों के अनुकूल नहीं पड़ता जिन्हें मनो-

विश्लेषण शास्त्र ने खोज निकाला है। तरुण साहित्यकार एकमात्र मनोविश्लेषणशास्त्र को ही साहित्य-सहायक शास्त्र मान ले तो गलती करेगा। मनोविश्लेषणशास्त्र भी उसी प्रकार का तथ्य-विवेचक शास्त्र है जिस प्रकार के अन्य जड़ विज्ञान हैं। यह समझना कि अब चेतन चित्त की शक्तिशाली सत्ता ही हमारे चेतन चित्त के विकारों को कार्य का रूप दे रही है और अत्यन्त निचले स्तर में विद्यमान हमारी अव-दृश्य-चेतन दमित वासनाओं और प्रसुप्त कामनाओं के महासमुद्र में हमारा यह चित्त बोतल के कार्क के समान उतर रहा है और दुर्दान्त अन्तर्लहरियों के थपेड़े की मार खाकर इधर से उधर उसी प्रकार मारा मारा फिर रहा हैं जिस प्रकार भारहीन तूलखण्ड प्रचण्ड बवण्डर में भटक रहा हो—पूर्ण समझना नहीं है। इससे मनुष्य की नियतिदासता के भाव को बढ़ावा मिलता है, जो असत्य है, इससे मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति की नगण्यता सिद्ध होती है, जो झूठ है, इससे मनुष्य की युक्ति तर्क-प्रवण प्रवृत्ति का प्रत्याख्यान होता है, जो एकदम गलत है, इससे मनुष्य की उस दुर्जय शक्ति का अपमान होता है जिसमें प्रकृति को अपने अनुकूल करने का संकल्प है, जो अशोभन है, और सबसे बढ़कर मनुष्य के उन समस्त सद्गुणों का तिरस्कार होता है जिन्हें संयम कहा जाता है, विवेक कहा जाता है, साधना कहा जाता है, आत्मदान कहा जाता है, —जो अवांच्छनीय है। मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि उन प्रगतिवासियों को भी यह सिद्धान्त-मनोरम लगने लगा है जिनका मूल मंत्र ही दुनिया को नये साँचे में ढालता है, जो कर्म में विश्वास करते हैं, जो उन समस्त मानसिक उन्मादनाओं के ध्वंस करने का स्वप्न देखा करते हैं, जिन्हें सुविधाभोगी वर्गों ने बड़े-बड़े नाम देकर अपने स्वार्थ साधन का उपाय बना रखा है।

वस्तुत: इन दोनों मनोभावों का कोई सामंजस्य नहीं है। यह विश्वास करना कि मनुष्य का युक्तिपरायण होना ही उसके समस्त नैतिक आचरणों का स्रोत है, यहाँ तक कि ईश्वर की कल्पना भी मनुष्य ने इसी नैतिकता के स्त्रोत की सिद्धि के लिए की है और साथ ही यह भी कहना कि मनुष्य जिसे तर्क-संगत विचार (या रीज़न) कहता है वह असल में उसके संगति बैठाने (या रैशनलाइज़ेशन) का ही प्रकारान्तर है, वह तो व्याघात दोष है। फिर भी यह क्या आश्चर्यजनक बात नहीं है कि हमारे बहुत से साहित्य-कार ऐसी बातें एक साँस में कह जाते हैं। जब मैं करता हूँ कि मैं मनोविश्लेषणशास्त्र का प्रेमी हूँ तो मेरे मन में जो बात होती है उसे स्पष्ट कर देना चाहिए। मुझे ऐसा लगता है कि सचमुच ही मनुष्य के ऐसे अनेक कार्य हैं जो उसकी अवदमित वासनाओं के प्रकाश हैं। सचमुच ही ऐसे अनेक विचार हैं जो उसकी प्रसुप्त वासनाओं के विलास हैं और सचमुच ही ऐसे अनेक तर्क हैं जो तर्काभास हैं और अपने-आपको भुलावा देने के लिए उद्भावित संगति लगाने के प्रयासमात्र हैं। मनोविश्लेषण शास्त्र के आधार पर मनुष्य के इन आचरणों को समझा जा सकता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार थर्मामीटर द्वारा शरीर के ताप को समझा जा सकता है। परन्तु न तो थर्मामीटर मनुष्य के और भी गम्भीर मर्मस्थल के ताप का पता देने का दावा कर सकता है और न मनोविश्लेषण-शास्त्र को मानवात्मा की बुनियादी नींव का पता लगाने का दावा करना चाहिए। उसकी

भी एक सीमा है। एक खास तह तक पहुँचकर वह बेकार और भोथा हो जाता है। इसी प्रकार श्रेणी संघर्ष के कारण मनुष्य समाज की अनेक समस्याएँ पैदा हुई हैं, उनके स्वरूप को समझने के लिए और उनका प्रतिविधान करने के लिए भी कुछ विशेष प्रकार के शास्त्र आवश्यक हैं। उनके अध्ययन से हमें मानव समाज के ऊपर से सतह की हलचलों का यथार्थ ज्ञान होता है। परन्तु इन समस्त ऊपरी हलचलों के विक्षुब्ध तरंग-संघात के नीचे निस्तब्ध भाव से विराजमान है मनुष्य की एकता। मनुष्य एक है, भेद-विभेद ऊपरी बातें हैं। मनुष्य की इस महान् एकता के पाने के लिए समस्त संकीर्ण स्वार्थों का बलि-दान, क्षणिक आवेगों का दमन, उत्ताल संवेगों का निरोध अशुचि वासनाओं का संयमन, ग़लत तर्क पद्धति का निरास और आत्मधर्म का विवेक आवश्यक साधन हैं। इन्हीं से वह परम आनन्द चित्त में उच्छल हो उठता है जिसका प्रकाश साहित्य है। जो साहित्यिक सुख असंयम से, अविवेक से, लोभमोह से उत्पन्न होता है वही मानसिक उन्मादना है, प्रसुप्त वासनाओं का विकास है, लिबिडो की उत्ताल तरंगों पर असहाय भाव से भटकना है। उसे साहित्य नहीं कहना चाहिए क्योंकि वह 'सर्वस्य मूल निषेचनं' नहीं है।

यह भी निस्सन्देह मनुष्य—दृष्ट सत्य ही है। परन्तु मनुष्य के पास इन समस्त इंद्रियों द्वारा साक्षात्कृत जगत् प्रपंच के अतिरिक्त और कुछ देखने का साधन क्या सचमुच ही नहीं है ? ऐसा जान पड़ता है कि यही सब कुछ नहीं है, कुछ इससे भी व्यापक है, मनुष्य-दृष्ट जगत् केवल कणमात्र है। जिस महासत्य ने अपने को मनुष्य दृष्ट जगत् के रूप में प्रकट किया है वह यहीं समाप्त नहीं हो जाता—**त्रिपादस्यामृत दिवि**। किस साधन के द्वारा मनुष्य ऐसा अनुभव करता है ? कौन बताएगा ? प्रवाहण जैवलि ने इसी बात की ओर इशारा किया था, हमारे अन्तस्तल से यही ध्वनि निकल रही है कि ऐसा जान पड़ता है कि मनुष्य के भीतर ऐसा कुछ अवश्य है जो उस विशालतर अज्ञात का समानधर्मा है। ऐसा कुछ है अवश्य। परन्तु यह मेरा विश्वास है और मैं आपके सामने इसे इस रूप में प्रकट नहीं करना चाहता कि वह तर्कसंगत जँचे। वह केवल विश्वास है। बुद्धि और तर्क के द्वारा हम जो कुछ जानते हैं, जान सकते हैं, कल्पना कर सकते हैं वह सब मनुष्य-दृष्ट सत्य है। सब कुछ कोई भी अपवाद नहीं। काव्य हो या काव्यगत रसानु-भूति हो, मनुष्य दृष्ट वृहत्तर नैतिक नियमों से बाहर नहीं पड़ सकते।

लेकिन रस के नाम पर मैंने बहुत अधिक नीरस चर्चा बढ़ा दी। वस्तुतः रस अनुभवगम्य वस्तु है और उसकी विवेचना के लिए ऐसे विषयों की अवतारणा करनी पड़ती है जो रस के उपकरण होते हैं या फिर ऐसी बातों की चर्चा करनी पड़ती है जो रस होते ही नहीं। ऐसा विवेक के परिष्करण के लिए किया जाता है। लक्षणग्रंथ विशेष रूप से काव्य उपादानों की ही चर्चा करते हैं। हमने देखा है कि चाहे लक्षण ग्रंथ हों या काव्यग्रंथ हों, दोनों के ही लिए यह आवश्यक है कि हम उन्हें तत्काल वर्तमान बाह्य परिस्थितियों से विच्छिन्न करके देखें तो छिलके को ही रस समझने की भूल कर सकते हैं। फिर भिन्न-भिन्न मान-समुदाय, भिन्न भिन्न भौगोलिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों के भीतर से विकसित होने के कारण अपने भीतर ऐसे अनेक संस्कार पैदा कर लेते हैं जिन्हें उस समुदाय को विशेषता माना जाता है। इन संस्कारों के अध्ययन करने वालों

ने देखा है कि यद्यपि विभिन्न समाज में उनके रूप बहुत भिन्न-भिन्न हो गए हैं पर एक ही प्रकार के मनोभाव से चालित होकर मनुष्य उन विशेष प्रकार के संस्कारों तक पहुँचा है। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध से दिखने वाले संस्कार भी वस्तुतः मनुष्य की एकधर्मिता को ही सिद्ध करते हैं। 'संस्कार' शब्द का प्रयोग करते समय मुझे थोड़ा संकोच ही हो रहा है। संस्कार शब्द अच्छे अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, परन्तु मनुष्य स्वभाव से ही प्राचीन के प्रति श्रद्धापरायण होता है और प्राचीन काल से संबद्ध होने के कारण कुछ ऐसी धारणाओं को श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगता है जो जब शुरू हुई होंगी तब तो निश्चय ही उपयोगी रही होंगी परन्तु बाद में उनकी उपयोगिता घिस गई और वे रूढ़ि मात्र रह गईं। ऐसे संस्कार हर समय वृहत्तर मानव पटभूमिका पर खरे नहीं उतरते। काव्य-जिज्ञासा के क्षेत्र में भी संस्कार हमारे मार्गदर्शक बन जाते हैं। कुछ तो प्राचीन काल के काव्य-लक्षणों के अध्ययन के कारण हमारे चित्त में काव्य-स्वरूप और रस स्वरूप के विषय में ऐसी बातें जड़ जमा लेती हैं जो काल विशेष की परिस्थिति विशेष के कारण उपजी थीं। इन धारणाओं को मन में जमाए रखकर हम जब आधुनिक युग के काव्य को पढ़ने लगते हैं तो रसबोध में बाधा पड़ती है। ठीक यही बात आधुनिक काल के काव्य लक्षणों से उत्पन्न धारणाओं के कारण प्राचीन काव्य के समझने में बाधक होती है। देशगत और जातिगत संस्कार भी अन्य देश और अन्य जाति के विश्वासों पर आधारित साहित्य समझने में बाधक होते हैं। मैंने इस कठिनाई की ओर ही आपका ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया है। मनुष्य का मस्तिष्क ठोस आधारों को आसानी से ग्रहण करता है। सौंदर्य को वह उसके सम्पूर्ण उपादानों के साथ ही ग्रहण करता है। इसीलिए सौंदर्य के साथ-साथ उसके आधारभूत बाह्य उपकरणों और अधिकरणों को वह छोड़ नहीं पाता। हमारे साहित्याध्ययन में उपकरण अधिकरण, और आधेय रस-वस्तु के परिष्करण और विवेक की व्यवस्था और भी अधिक होनी चाहिए। सहृदयों ने बराबर सावधान किया है कि लावण्य वस्तु प्रसिद्ध अवयवों से भिन्न और अतिरिक्त पदार्थ है। मुख, नाक, कान आदि शारीरिक अवयव सबके होते हैं पर सबमें लावण्य नहीं होता। उसी प्रकार काव्य में भी कुछ प्रतीयमान वस्तु होती हैं जो प्रसिद्ध अवयवों में भिन्न वस्तु है —

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यविवांगनासु ।।

लेकिन मनुष्य स्वभावतत्राणि तरुण मस्तिष्क—प्रसिद्ध अवयवों को छोड़कर उस लावण्य को सहज ही धारण नहीं कर पाता। इसी के लिए साधना और विवेक-शक्ति की आवश्यकता होती है। यदि यह साधना नहीं की गई अर्थात् काव्य के मूल सौन्दर्य को तत्कालीन परिस्थितियों द्वारा उपस्थापित उपकरणों से तथा तत्तत् समुदया के विश्वासों से अलग करके देखने योग्य विवेचना शक्ति नहीं जागृत की गई तो ये बाह्य आधार देश और काल को भेद कर मनुष्य के सर्वोत्तम प्रयत्न—साहित्य के समझने में बाधक सिद्ध होंगे।

पुराने और नये काव्यों उपन्यासों और नाटकों को उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि पर रखकर देखना और देशगत और कलागत संस्कारों को रसोपलब्धि के मार्ग में बाधक न होने देना, इन दोनों बातों का एक ही अर्थ है—साहित्य को बृहत्तर मानव-समाज से अविच्छिन्न समझना। साहित्यिक रचनाएँ केवल व्यक्ति की निजी अनुभूति की सीमाओं में आबद्ध नहीं होती, वे समूची सामाजिक चेतना का अनुकरण हैं। यदि इस प्रकार पूर्व निश्चित् धारणाओं से मुक्त होकर और बृहत्तर मानव-समाज से अविच्छिन्न समझकर और सामाजिक चेतना का अनुकरण जानकर साहित्य का अध्ययन किया जाता तो वे अनेक मत जन्म ही न ले पाते जिनके कारण साहित्यिक आलोचना का कार्य इतना वैयक्तिक और कभी-कभी हास्यास्पद तक लगने लगता है। नाना मुनियों के नाना मत देशगत, जातिगत और कालगत संस्कारों को चरम सत्य मान लेने के कारण प्रादुर्भूत होते हैं। बृहत्तर सामाजिक पटभूमि से विच्छिन्न करके देखने के कारण ही ये मत केवल खण्ड सत्य की बात बताते हैं। सत्य को उसके पूर्ण रूप में देखने का प्रयत्न होना चाहिए। परन्तु समस्या इतने से ही हल नहीं हो जाती। हम विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न मानों और देशगत कालगत तथा जातिगत संस्कारों का विवेक कर भी लें तो भी यह विवेच्य रह ही जाता है कि किसी भी विचार या कार्य का औचित्य कैसे निश्चय किया जाय। यह आवश्यक हो जाता है कि प्रत्येक कार्य और प्रत्येक विचार को हम बृहत्तर मानवीय नैतिकता के तुलादण्ड पर रखकर उनका वजन निश्चित करें। मनुष्य के सुख दुःखों का परिचय और उसकी आशा आकांक्षाओं की गाढ़ उपलब्धि तब तक महनीय नहीं हो सकती जब तक उनसे मनुष्य उस महान् धर्म की ओर उन्मुख और क्रियाशील नहीं हो जाता जिसे 'मनुष्यता' कहते हैं। मनुष्य की ऐसी आशा—आकांक्षाएँ हैं जो उसे पशुता की ओर ले जाती हैं, ऐसे भी सुख-दुःख हैं जो उसकी जड़ता के परिचायक हैं, सबको सिर माथे धारण करने से साहित्य अपने मूल धर्म से विच्युत होता है। बहुत सी आदिम मनोवृत्तियों ऐसी हैं जो ज़रा-सी उत्तेजना पाते ही झनझना उठती हैं, साहित्य में उनकी भी ख़ुशामद की गई है, उनकी भी स्तुति की गई है, परन्तु वे मनुष्यता के आधारभूत धर्म को ही नहीं स्वीकार करती। उनमें वह नई सर्जन-प्रेरणा नहीं है, जगत् को सुन्दर बनाने की उमंग नहीं है जिसने मनुष्य में ऐसी शक्ति दी थी कि जिससे मनुष्य ने प्रकृति को अपने अनुकूल बनाने का संकल्प किया था। धूल में लोटना बहुत सहज है परन्तु मनुष्य धूल में लोटना पसंद नहीं करता। सब आसान और अनायास साध्य बातें मनुष्य को प्रिय नहीं है क्योंकि वह स्रष्टा है, वह धर्मवृत्तिक है, वह समूचे प्रकृति जगत् को अनुकूल और मनोरम रूप में गढ़ लेने का व्रती है। इसी-लिए साहित्य का कर्म वही समझ सकता है जो साधना और तपस्या का मूल्य समझ सके। 'मनुष्य' रूपी पुरुष ही—अर्थात् पशु-सुलभ धरातल से ऊपर उठा हुआ मनुष्यत्व-धर्मी जीव ही सृष्टि की सबसे बड़ी साधना है। उससे बड़ा कुछ भी नहीं—**पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः।**

Most important

Book for

M.A class

Students.